वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

A STUDY IN VEDIC POLITY

वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के उद्गम-स्रोत वेद हैं। समग्र भारतीय चिन्तन और जीवन-पद्धति वेदों से ही अपनी मूल प्रेरणा प्राप्त करती है। भारतीय परम्परा में वेदों को मानव के लिए कल्याणकारी, आध्यात्मिक, भौतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के विद्या-विज्ञानों का निधि माना जाता है। वेद में वर्णित आध्यात्मिक विज्ञान के तत्त्वों का ही विशदीकरण और पल्लवीकरण उपनिषदों, दर्शनों और गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में हुआ है। परन्तु वेदों में वर्णित भौतिक और सामाजिक विज्ञानों के तत्त्वों का विशदीकरण और उद्भावना करने वाले ग्रन्थ नहीं के बराबर हैं। राजनीति-विज्ञान सामाजिक विज्ञानों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वेद में वर्णित राजनीति-विज्ञान के मार्मिक और मौलिक तत्त्वों को प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्भावित और उद्भासित किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग **संविधान काण्ड** में छोटे माण्डलिक राज्यों के निर्माण से लेकर धरतीभर के चक्रवर्ती या विश्व-राज्य तक के निर्माण के सम्बन्ध में वेद के विचारों को प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय भाग **अभ्युदय काण्ड** में राष्ट्रों की प्रजाओं को सब प्रकार से सुख-समृद्धिशाली और आनन्दमय जीवन वाली बनाने के साधनों के विषय में वेद के विचारों को दर्शाया गया है। तृतीय भाग **प्रतिरक्षा काण्ड** में राज्य की प्रतिरक्षा के लिए सेनाओं के संगठन, संचालन, शस्त्रास्त्र और युद्ध-नीति आदि के सम्बन्ध में वेद के विचारों को प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार वेद में सूत्र रूप में वर्णित और स्थान-स्थान पर बिखरे हुए राजनीति-विज्ञान के तत्त्वों का विशद मंथन करके एक सर्वांगपूर्ण वैदिक राजनीति-शास्त्र की रचना की गई है जिसके मौलिक और जन-कल्याणकारी तत्त्वों का प्रकाश-पुंज विश्वभर में राजनीति के प्रत्येक अध्येता के लिए चिन्तन का एक नया मार्ग प्रशस्त करेगा।

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

A STUDY IN VEDIC POLITY

३

प्रतिरक्षा काण्ड

Defence of the State

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

(वैदिक राजनीतिविज्ञानम्)

तीन भागों में

1. संविधान काण्ड
(Constitution of the State)

2. अभ्युदय काण्ड
(Welfare of the State)

3. प्रतिरक्षा काण्ड
(Defence of the State)

मीनाक्षी प्रकाशन

मेरठ नयी दिल्ली

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

वेद के अध्ययन एवं अनुसंधान की एक नवीन दिशा

वेदमार्तण्ड
आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

विषय-सूची

1

प्रतिरक्षा विभाग का उद्देश्य

किसी भी राष्ट्र के सामने अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो सकती हैं जिनमें कोई दूसरा राष्ट्र उसे दुर्बल समझकर उस पर आक्रमण कर दे और इस प्रकार उसको पद-दलित करने तथा उसकी स्वतन्त्रता को हड़पने का प्रयत्न करे। कई बार ऐसा भी हो सकता है कि अपने ही राष्ट्र के कुछ अराष्ट्रीय, अराजक, देश-द्रोही और असामाजिक लोग वैधानिक रूप में सत्तासीन प्रशासन (सरकार) का अवैधानिक रूप में विरोध करके उसे विनष्ट करना चाहें और इस प्रकार राष्ट्र को हानि पहुँचाना चाहें। ऐसी विषम परिस्थितियों में राष्ट्र को विरोधियों से अपनी रक्षा के लिए प्रतिरक्षा-विभाग अथवा युद्ध-विभाग की स्थापना करना भी आवश्यक होगा।

पिछले भागों और अध्यायों में हमने राज्य के संगठन और सामान्य शासन पर वेदों की सम्मति जानने का प्रयत्न किया है। अब अगले अध्यायों में हम राज्य की प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में वेद हमें क्या सिखाते हैं यह देखेंगे। वेदों में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनमें युद्ध का वर्णन पाया जाता है। अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनमें सैनिकों और सेनापतियों की गुणावलि का वर्णन किया गया है। इन सूक्तों तथा राजनीति विषयक अन्य सूक्तों में वर्णित बातों के आधार पर प्रतिरक्षा अथवा युद्ध-विभाग के सम्बन्ध में जो परिणाम निकलते हैं उन्हें अत्यन्त संक्षेप से आगामी पृष्ठों में दिखाया जायेगा।

वेद का स्वाध्याय करते हुए पाठक के मन में युद्ध के सम्बन्ध में जो विचार अनायास ही उत्पन्न होते हैं उनमें से एक मुख्य विचार यह है कि वेद की सम्मति में किसी दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को नष्ट करके अपने राष्ट्र की उदरपूर्ति करने के उद्देश्य से युद्ध नहीं किया जाना चाहिए। वैदिक आज्ञाओं के अनुसार चलता हुआ कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को नष्ट करने में कभी प्रवृत्त नहीं होगा। वैदिक राष्ट्र को जैसे अपनी स्वतन्त्रता प्यारी होती है वैसे ही उसे अन्य राष्ट्रों की स्वतन्त्रता भी प्यारी होती है। वैदिक राष्ट्र अपने आर्थिक स्वार्थों और विजय-लालसा की पूर्ति के लिए कभी किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करेगा। हाँ, यदि कोई दूसरा राष्ट्र हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करके हमारी स्वतन्त्रता को नष्ट करने की कुत्सित इच्छा रखेगा तो हमारा राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए उस

राष्ट्र से लोहा लेने के लिए सदा उद्यत रहेगा। एक शब्द में, वेद युद्ध का उद्देश्य अपने अधिकारों की रक्षा बताते हैं, दूसरे के अधिकारों का अपहरण नहीं। इस आशय को व्यक्त करने वाले कुछ थोड़े से वेद मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

1. मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय॥ अथ० 1.19.1.
2. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु॥ अथ० 1.19.3.
3. यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि॥ अथ० 1.20.2.
4. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥ अथ० 1.21.2.
5. वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः। अथ० 1.21.3.
6. अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ अथ० 1.21.4.
7. सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्।
अथ० 2.6.3.
8. अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
यजु० 27.6; अथ० 2.6.5.
9. अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥ अथ० 3.1.3.
10. असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्द्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥
अथ० 3.2.6; यजु० 17.47.
11. नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ अथ० 3.19.3.
12. सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
अथ० 4.31.3.
13. तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्॥ अथ० 4.36.1.
14. यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः॥ अथ० 5.21.8.
15. यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना॥ अथ० 6.6.3.
16. अशत्रुरिन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः।
अथ० 6.40.2.

17. सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ अथ० 6.54.3.
18. निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ अथ० 6.66.1.
19. यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ अथ० 6.99.2.
20. अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ अथ० 6.103.3.
21. यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट । अथ० 7.31.1.
22. अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥
अथ० 7.34.1.
23. अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति । अथ० 7.70.3.
24. मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यम् ।
अथ० 7.82.3; यजु० 27.4.
25. अपानुदो जनममित्रायन्तम् । अथ० 7.84.2.
26. स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।
अथ० 7.92.1; यजु० 20.52.
27. द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् । अथ० 17.1.6.
28. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ॥
अथ० 19.15.1.
29. अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ॥ ऋग्० 10.102.3.
30. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ऋग्० 10.152.3.
31. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ऋग्० 10.152.4.
यजु० 8.44; 18.70.
32. अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि मन्योः शर्म यच्छ वरीयो यवया वधम् ॥ ऋग्० 10.152.5.
33. यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ यजु० 11.80.
34. अरातीयतो हन्ता····शत्रूयतो हन्ता । यजु० 12.5.

35. अधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः । यजु० 15.51.
36. आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ।
यजु० 20.48.
37. इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ....बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु ।
यजु० 20.51.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे सम्राट् (इन्द्र) दूर से फेंककर मारे जाने वाले विशेष प्रकार के अस्त्रों से हम पर प्रहार करने वाले (विव्याधिनः)[1] और सम्मुख आकर हम पर प्रहार करने वाले शत्रु (अभिव्याधिनः) हमें प्राप्त न कर सकें, तू शत्रुओं की वाणावलि को हमसे हटाकर दूर चारों दिशाओं में बखेर दे। (2) अपने देश का (स्वः) अथवा पराये देश का (अरणः) अपनी जाति का (सजातः) अथवा अपनी जाति से बाहर का (निष्ट्यः) जो शत्रु हमें अपना दास बनाना चाहता है (अभिदासति)[2] उन सब हमारे शत्रुओं को (अमित्रान्) हमारा सेनापति (रुद्रः) अपनी वाणावलि से बींध डाले। (3) हमारे प्रति पाप करना चाहने वाले (अघायूनां) शत्रुओं का आज जो उनकी सेनाओं द्वारा होने वाला (सैन्यः) हमारा वध उठकर आ रहा है उसे हे मित्र और वरुण राज्याधिकारियो तुम हमसे परे फेंक दो। (4) हे सम्राट् (इन्द्र) हमारी हिंसा करने वाले शत्रुओं को (मृधः) मार डाल, हम पर सेना लेकर चढ़ना चाहने वाले दुश्मनों को भूमि पर लिटा दे (नीचा यच्छ) जो हमें अपना दास करना चाहता है (अभिदासति) उसे सबसे निचले[3] अन्धकार में पहुँचा दे अर्थात् मार डाल। (5) हे विघ्न बाधाओं को नष्ट कर देने वाले (वृत्रहन्) सम्राट् (इन्द्र) हमें अपना दास बनाना चाहने वाले (अभिदासतः) शत्रु के (अमित्रस्य) क्रोध या मान को (मन्युं) मारकर भंग कर दे। (6) हे सम्राट् (इन्द्र) हमसे द्वेष करने वाले शत्रु के (द्वषतः) मन को मार दे, हमारी आयु नष्ट करना चाहने वाले (जिज्यासतः) शत्रु के शस्त्र को (वधं)[4] नष्ट कर दे, हमें भारी कल्याण दे और शत्रुओं के शस्त्रों को हमसे दूर फेंक मार। (7) हे सम्राट् (अग्ने) तू हमारे शत्रुओं को मारने वाला और अभिमानी दुश्मनों को जीतने वाला (अभिमातिजित्) बन और अपने राष्ट्र रूप घर में (गये) प्रमाद को छोड़कर जाग। (8) हे सम्राट् (अग्ने) हमारा हनन करने वालों को (निहः), हमारा शोषण करने वालों को (सृधः) अशोभन बुद्धियों को और हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को (द्विषः) तू अपने पराक्रम से तर जा। (9) यह मन्त्र हल्के पाठ भेद के साथ

[1] विशेषेण अस्त्रादिभिस्ताडन शीलाः शत्रव इति सायणः ।

[2] अभिगत्य दासान् करोतीति अभिदासति । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे वहुलम्' 'तत्करोति तदाचष्टे' इति नियमाद्दासशब्दाण्णिच् । णिचोवाहुलकत्वाच्च तदभावः ।

[3] अधमं पुनरुत्थानशून्यं निकृष्टं तमो मरणात्मकमिति सायणः ।

[4] हननसाधनमायुधमिति सायणः ।

यजुर्वेद और अथर्ववेद में एक जैसा ही है। 'हमारे प्रति शत्रुता का व्यवहार करने वाली (शत्रूयतीम्) दुश्मनों की सेना को (अमित्रसेनां) हे विघ्ननाशक (वृत्रहन्) सम्राट् (इन्द्र) और अग्नि तुम जला डालो।' (10) अपने बल द्वारा हमसे संघर्ष करना चाहती हुई (स्पर्द्धमाना) वह जो शत्रुओं की (परेषां) सेना हम पर चढ़ाई करने आ रही है उसे हे हमारे राष्ट्र के सैनिको (मरुत:) कर्म भुला देने वाले (अपव्रतेन) अन्धकार से (तमसा) वींध दो जिससे इनमें से एक दूसरे को न जान सके। (11) हल्के शाब्दिक भेद के साथ यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में एक जैसा ही है। 'जो शत्रु हमारे विद्वान् और ऐश्वर्यशाली सम्राट् पर (मघवानं) सेनाओं द्वारा चढ़ाई करना चाहते हैं (पृतन्यान्) वे नीची और अधर स्थिति को पहुँचा दिये जायें, मैं राजपुरोहित अपने ज्ञान द्वारा (ब्रह्मणा) शत्रुओं का नाश कर देता हूँ और अपने लोगों को उन्नति पर पहुँचा देता हूँ।' (12) हे हमारे सैनिकों के क्रोध अपने इस राष्ट्र के लिए अभिमानी शत्रु का पराभव कर दे, उसे भग्न कर दे, उसे मार डाल और बुरी तरह मार डाल। (13) जो हमारे साथ दुष्टता का आचरण करना चाहे (दुरस्यात्)[1], जो हमसे दम्भ करना चाहे (दिप्सात्)[2] और जो हमसे शत्रुता का व्यवहार करना चाहे (अरातियात्) उन सबको राष्ट्र के सब लोगों का हितकारी (वैश्वानर:) और उन पर सुख-मंगल की वर्षा करने वाला (वृषा), जिसका बल-पराक्रम कभी वृथा नहीं जाता ऐसा (सत्यौजा:) यह सम्राट् (अग्नि:) जला डाले। (14) साथ-साथ फिरती हुई अपनी छाया के साथ अपने जिन पदघोषों द्वारा हमारा सम्राट् (इन्द्र:) युद्ध भूमि में खेलता फिरता है उनसे हमारे वे शत्रु डर कर भाग जायें जोकि हम पर सेना की टुकड़ियाँ लेकर चढ़ाई करते हैं (अनीकश: यन्ति)। (15) हे सोम जो हमारे वंश का अथवा हमारे वंश से बाहर का शत्रु हमें दास बनाना चाहता है तू अपने वधकारी रूप से (वधत्मना) उसके बल को क्षीण कर दे जैसे कि प्रकाशमान महान् सूर्य (द्यौ:) अंधकार को क्षीण कर देता है। (16) यह सम्राट् (इन्द्र:) हमारे लिए शत्रुओं से रहित (अशत्रु) और भय से रहित अवस्था कर देवे, हम पर आक्रमण करने वाले राजाओं का (राज्ञां) क्रोध और अभिमान (मन्यु:) चूर होकर उनसे बाहर (अन्यत्र) निकल जावे। (17) जो हमारा संबन्धु अथवा असबन्धु शत्रु हमें दास बनाना चाहता है (अभिदासति) हे सम्राट् (इन्द्र) राष्ट्र के लिए देय कर आदि तैयार कर देने वाले (सुन्वते) व्यवहार-यज्ञों के यजमान (यजमानाय) हम प्रजाजनों के लिए उसे तू रांध दे—बुरी तरह नष्ट कर डाल। (18) जो शत्रु हमें दास बनाना चाहता है, जो युद्ध करने के लिए सेनाओं के साथ हम पर चढ़कर आता है, उसके हे सम्राट् (इन्द्र) तू हाथ काट डाल (निर्हस्त: अस्तु), अपने महान् शस्त्रों से उसे मार डाल, इन शत्रुओं

[1] अस्मान् दुष्टानिवाचरेत्। दुष्टशब्दादाचारे क्यच्। दुरस्युरिति दुष्टस्य दुरस्भाव:। तदन्तात् लेटि आडागम:। इति सायण:।

[2] धिप्सेत्। दन्भु दम्भे। सनीवन्तर्धेति इटो विकल्पनादभाव:। दम्भ इच्चेतीत्वम्। छान्दसो भष्भावाभाव:। लेटि आडागम:।

में से एक-एक पापी (अघहारः) विंध-विंध कर वापिस भाग जाये। (19) शत्रु की सेनाओं द्वारा होने वाला (सेन्यः) जो शस्त्र प्रहार (वधः) हमें मारने की इच्छा से (जिघांसन्) आज उठ रहा है उससे अपनी रक्षा के लिए हम सम्राट् (इन्द्र) की दोनों भुजाओं को अपने चारों ओर (समन्तं) करते हैं। (20) ये जो शत्रु झण्डे उठाकर (केतून् कृत्वा) सेनाओं की टुकड़ियों द्वारा (अनीकशः) हमसे युद्ध करने आते हैं सम्राट् (इन्द्रः) उनको पीटकर रोक दे (पर्यंहाः), फिर तू हे अग्नि उनको पाशों में बाँध ले (दाम्नाद्या)। (21) हे सम्राट् (इन्द्र) जो हमसे द्वेष करता है वह तेरे द्वारा दबाया जाकर नीची अवस्था को पहुँच जाये। (22) हे सम्राट् (अग्ने) हमारे जो शत्रु उत्पन्न हो चुके हैं उन्हें तू मार भगा, जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं परन्तु होने वाले हैं उन्हें भी तू मार भगा अर्थात् पहले से ही तू उनका उपाय कर दे, जो हम पर सेना लेकर आक्रमण करना चाहें (पृतन्यवः) उन्हें तू अपने पैर के नीचे (अधस्पदं) कर डाल, अखण्डित शक्ति वाले (अदितये) तेरे प्रति हम निष्पाप होकर रहें। (23) शत्रु को मार भगाने में समर्थ और शत्रुओं पर चढ़कर चमकने वाले (अजिराधिराजौ)[1] इन्द्र (सम्राट्) और उसका अग्नि नामक राज्याधिकारी झपटकर पड़ने वाले बाज पक्षियों की (श्येनौ इव) भाँति उस दुश्मन पर जो कि हम पर सेना लेकर आक्रमण करना चाहता है (पृतन्यतः) और हमारे प्रति पाप कर्म करना चाहता है (अभ्यघायति) गिर कर उसके आज्य अर्थात् घी और घी से उपलक्षित खाद्य सामग्री को नष्ट कर दे।

अजिर और अधिराज मृत्यु के दो दूत नहीं

जिस सूक्त का यह मन्त्र है वहाँ इन्द्र और अग्नि इन दो देवताओं का नाम निर्देश हुआ है। इसलिए 'अजिराधिराजौ' इस द्विवचनान्त पद को इन्द्र और अग्नि का ही विशेषण मानना चाहिए। श्री सायण ने मन्त्र में अजिर और अधिराज नामक मृत्यु के दो दूतों की कल्पना घुसेड़ दी है। इस कल्पना का कोई आधार नहीं है। साथ ही सायण का अर्थ मन्त्र के शेष पदों के अर्थ के साथ अच्छी तरह संगत भी नहीं होता है। हमारा अर्थ शेष पदों के अर्थ के साथ बड़ी अच्छी तरह संगत होता है। अजिर और अधिराज पदों का धात्वर्थ सायण ने भी वही किया है जो हमने किया है। इन्द्र और अग्नि का विशेषण इन पदों को मानने से मन्त्र और सूक्त के अर्थ में जो चमत्कार उत्पन्न हो जाता है वह सायण के अर्थ में नहीं आ पाता है। इन्द्र और अग्नि का सामान्य अर्थ सम्राट् होता है यह पाठक देखते आ रहे हैं। जहाँ अग्नि इन्द्र का सहचारी होकर आता है वहाँ उसका क्या अर्थ करना चाहिए इसकी विवेचना पीछे की जा चुकी है।

(24) पहले से ही मन में जिन्होंने तेरा अपमान करने की सोच रखी है ऐसे

[1] अज गतिक्षेपणयोः। अजिरेति (उ० 1.53) निपातितः।
शत्रु क्षेपणसमर्थः अजिरः। अधिराजत इति अधिराजः। अजिरश्चाधिराजश्चाजिराधिराजस्तौ अजिराधिराजौ।

(पूर्वचित्ताः) तेरा अपमान करना चाहने वाले (निकारिणः) शत्रु लोग तुझे नीचा न दिखा सकें (नि क्रन्), हे सम्राट् (अग्ने) तू अपने क्षत्रियों की सहायता से (क्षत्रेण) शत्रुओं का खूब अच्छी तरह नियमन कर। (25) यह मन्त्र हल्के शाब्दिक परिवर्तन के साथ अथर्ववेद और यजुर्वेद दोनों वेदों में एक सा ही है। हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमारे साथ शत्रुता करने वाले (अमित्रायन्तम्) मनुष्य को मार भगा। (26) प्रजाजनों की अच्छी तरह पालना करने वाला और स्वयं अपनी शक्ति से शक्तिमान् (स्ववाँ) यह सम्राट् (इन्द्रः) हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को हमसे दूर भगाकर निश्चित रूप से छिपा दे (सनुतः[1] युयोतु)। (27) यजुर्वेद और अथर्ववेद में यह मन्त्र हलके पाठ भेद के साथ एक सा ही है। हे सम्राट् (इन्द्र) हमसे द्वेष करने वाला शत्रु तो हम प्रजाजनों के वश में आ जावे पर हम शत्रु के वश में न आवें। (28) हे सम्राट् (इन्द्र) जहाँ-जहाँ से हमें भय प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ से तू हमें अभय कर दे, हे ऐश्वर्यशाली तू शक्तिमान् बन और अपनी रक्षाओं से हमसे द्वेष करने वाले (द्विषः) और हमारी हिंसा करने वाले (मृधः) शत्रुओं को मार डाल। (29) हे सम्राट् (इन्द्र) जो हमारी हिंसा करना चाहता है (जिघांसतः) और हमें दास बनाना चाहता है (अभिदासतः) उस दस्यु (दासस्य) और आर्य के (आर्यस्य) के वज्र को नीचे कर दे, हे ऐश्वर्यशाली उसके शस्त्रों को उससे छीनकर निश्चित रूप से छिपा दे। (30) हे विघ्न-बाधाओं को मारने वाले सम्राट् (इन्द्र) हमें छिपकर मारने वाले (रक्षः), हमारी हिंसा करने वाले (मृधः), हमारे कामों में रुकावट डालने वाले (वृत्रस्य) शत्रु के जबड़े तोड़ दे, जो हमें दास बनाना चाहता है उस शत्रु के क्रोध और अभिमान को (मन्युं) को चूर कर दे। (31) हे सम्राट् (इन्द्र) जो हमारी हिंसा करना चाहते हैं उन शत्रुओं को (मृधः) मार डाल, जो हम पर सेना लेकर चढ़ाई करना चाहता है (पृतन्यतः) उसे भूमि पर सुला दे (नीचायच्छ), जो हमें दास बनाना चाहता है (अभिदासतः) उसे निचले अन्धकार में पहुँचा दे।

मन्त्र के 'निचले अन्धकार में पहुँचा दे' इस वाक्य का श्री सायण ने तो यह अर्थ किया है कि शत्रु को मार दे। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि भूमि के भीतर की काल कोठरियों में शत्रु को डाल दे। क्योंकि निचला अन्धकार भूमि के भीतर की कोठरियों का अन्धकार ही हो सकता है।

(32) हे सम्राट् (इन्द्र) हमसे द्वेष करने वाले शत्रु के मन को मार दे, हमारी आयु को क्षीण करना चाहने वाले दुश्मन के शस्त्रों को नष्ट कर दे, शत्रु के क्रोध और अभिमान से (मन्योः) हमारी रक्षा कर, हमें कल्याण प्रदान कर, शत्रु के शस्त्रों को उससे छीनकर अलग कर दे। (33) हे सम्राट् (अग्ने) जो व्यक्ति हमारे प्रति शत्रुता का व्यवहार करता है (अरातीयात्), जो हमसे द्वेष करता है, जो हमारी निन्दा करता है, और जो हमारे साथ दम्भ करता है (धिप्सात्) उसे तू मसल डाल (मस्मसा कुरु)।

[1] सनुतः निर्णीतान्तर्हित नाम। निघं० 3.25.

मस्मसा शब्द का अर्थ

'मस्मसा कुरु' का अर्थ हमने मसल डाल ऐसा कर दिया है। 'मस्मसा' पद मस्-मस् ऐसी होती हुई ध्वनि को प्रकट करने के लिए एक अनुकरण शब्द है। उवट-सायणादि भाष्यकार किसी वस्तु को खाते हुए अथवा आग में जलाते हुए, उसमें से जो मस्-मस् ध्वनि निकलती है उसे बताने वाला 'मस्मसा' शब्द है ऐसा कहते हैं। इसलिए यह लोग मन्त्र का अर्थ करते हुए 'मस्मसा कुरु' का अर्थ यह करते हैं कि हे अग्नि तू इन शत्रुओं को खा जा या जला डाल। क्योंकि जब अग्नि इन्हें खायेगा अर्थात् जलायेगा तो उसमें से मस्-मस् ऐसी ध्वनि निकलेगी। परन्तु हम देख रहे हैं कि अग्नि का अर्थ सम्राट् होता है और जिस प्रकरण का प्रस्तुत मन्त्र है वहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही सुसंगत भी हो सकता है। इसलिए खाना अर्थ यहाँ नहीं घट सकता। यहाँ इस शब्द का अर्थ शत्रु को मसल डालना अर्थात् उसका पराभव कर देना, उसे हरा देना या मार देना ऐसा करना चाहिए। किसी वस्तु को यदि हम मसलने लगें तो उसमें से भी मस्-मस् ध्वनि निकल सकती है। विशेषकर फोकी वस्तुओं में से तो मसलने के समय मस्-मस् ध्वनि अवश्य ही निकलती है। शत्रुओं का पराभव करने के लिए 'मस्मसा' शब्द का प्रयोग करने की यह भी व्यंजना है कि हे सम्राट् तुम इतने शक्तिशाली हो कि तुम्हारे आगे तुम्हारे शत्रु सर्वथा फोके—निर्बल—प्रतीत होते हैं। भला उन्हें दबाने में तुम्हें क्या देर लगेगी ?

(34) हे सम्राट् (अग्ने) तुम अराति और शत्रु का व्यवहार करने वाले व्यक्ति का वध करने वाले हो। (35) यह सम्राट् (अग्निः) जो शत्रु सेना लेकर आक्रमण करना चाहते हैं (पृतन्यवः) उनको अपने पैर के नीचे कर डाले। (36) हमें अभीष्ट रक्षादि देने वाला (अभिष्टिकृत्) हमारा सम्राट् (इन्द्रः) दूर से और समीप से (आसात्) आवश्यकता पड़ने पर हमारे पास पहुँचे (आ यासत्), यह नृपति अपने बलिष्ठ सैनिकों के साथ (ओजिष्ठेभिः) वज्र हाथ में लेकर युद्ध में सेना लेकर चढ़ाई करना चाहने वाले शत्रुओं पर (पृतन्यून्) शीघ्र ही चढ़ाई कर देता है और उन्हें मार देता है (तुर्वणिः)[1]। (37) यह सम्राट् अच्छी तरह रक्षा करने वाला है, यह स्वयं अपनी शक्ति से शक्तिमान् है (स्ववान्), हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को यह रोके और हमारे लिए अभय करे।

पाठकों ने इन मन्त्रों में देखा है कि जो लोग हमसे द्वेष करते हैं, हमारी निन्दा करते हैं, हमारी हिंसा करना चाहते हैं, छिपे-छिपे हमें नष्ट करते हैं, हमारे कामों में विघ्न-बाधा उपस्थित करते हैं, हमें दास बनाना चाहते हैं, हम पर सेना लेकर चढ़ाई करना चाहते हैं, हमारे प्रति शत्रुता का व्यवहार रखना चाहते हैं, उन्हें ही मारने और उनके साथ ही युद्ध करने की बात इनमें कही गई है। यों ही किसी राजा और राष्ट्र पर बैठे-बिठाये आक्रमण करके उसके साथ युद्ध ठान देने की बात

[1] तुर्वणिः तूर्णंवनिः तूर्णसंभक्तेति उवटः। तुर्व हिंसायाम्। तुर्वतीति तुर्वणिः हन्तेति महीधरः।

इन मन्त्रों में नहीं कही गई है। इन मन्त्रों में ही नहीं—ये मन्त्र तो नमूने के रूप में थोड़े से ही उद्धृत किये गये हैं—पाठक सारे वेद का स्वाध्याय कर जायें उन्हें कहीं भी यह विधान न मिलेगा कि किसी को यों ही बैठे-बिठाये मार देना चाहिए या उस पर आक्रमण करके उससे युद्ध छेड़ देना चाहिए। वेद का सम्राट् तभी किसी को मारता है या उसके साथ युद्ध करता है जबकि वह ऊपर कही गई बातों का अपराधी पाया जाता है।

शत्रुवाचक कुछ शब्दों के अर्थ

वेद में दुश्मन के लिए प्रायः प्रयुक्त होने वाले शब्द अराति, द्विष्, अमित्र, रक्षस्, दस्यु, मृध्, वृत्र, शत्रु और सपत्न हैं। इनका शब्दार्थ भी इस पर प्रकाश डालता है कि हमें कैसे लोगों के साथ युद्ध करना चाहिए। अराति का शब्दार्थ है जो हमें समृद्धि प्राप्त न होने दे, द्विष् का अर्थ है जो हमसे द्वेष करे, अमित्र का अर्थ है जो हमसे मित्रता त्याग कर शत्रुता करे, रक्षस् का अर्थ है जो छिपे-छिपे मारे, दस्यु का अर्थ है जो हमें क्षीण करे, मृध् का अर्थ है जो हमारी हिंसा करे, वृत्र का अर्थ है जो हमारी सुख-समृद्धि में रुकावट डाले, शत्रु का अर्थ है जो हमें काटना चाहे और सपत्न का अर्थ है जो लड़ने के लिए मुकाबले में आकर खड़ा हो। शत्रु के वाचक ये नाम ही बताते हैं कि हमें युद्ध किस प्रकार के लोगों के साथ करना है। जो हमारी हानि करने वाले लोग हैं उन्हीं के साथ हमारे युद्ध होंगे, दूसरों के साथ नहीं।

युद्ध केवल आत्मरक्षा के लिए ही किया जा सकता है

दूसरे शब्दों में हमारे युद्ध केवल आत्मरक्षा के लिए होंगे, स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं और आत्मरक्षा के लिए किये गये युद्धों में, जैसा कि पाठकों ने ऊपर उद्धृत मन्त्रों में स्पष्ट देखा होगा, यदि आवश्यकता होगी तो हम शत्रु को भयंकर से भयंकर दण्ड भी देंगे।

विजेता को पराजित शत्रु के राष्ट्र पर अपना आधिपत्य नहीं जमाना चाहिए

इसी प्रसंग में अथर्ववेद का अग्रांकित मन्त्र भी देखने योग्य है—

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥

अथ० 11.9.26.

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें युद्ध का ही वर्णन है। हमारे राष्ट्र के सेनापति और सैनिक इन्द्र (सम्राट्) की संरक्षा में शत्रुओं की सेनाओं को—'अमित्राणां सेनाः'—बुरी तरह पछाड़ रहे हैं। जो लोग वेद में वर्णित युद्ध-रस का

चित्र देखना चाहें उन्हें और सूक्तों के साथ वेद का यह सूक्त एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें वर्णित युद्ध का चित्र इतना सजीव है कि इसको पढ़ने से युद्ध भूमि का वास्तविक दृश्य आँखों के सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है। उद्धृत मन्त्र इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हे हमारे मित्र सैनिको (मरुतः)[1] तुम विजय की इच्छा रखने वाले लोग (देवजनाः)[2] हो, तुम उन सब शत्रुओं के ईशान अर्थात् उन्हें जीतने में समर्थ हो, उठो तैयार हो जाओ, इस संग्राम को जीतकर अपनी यथालोक स्थिति करो अर्थात् अपने-अपने स्थान में चले जाओ।'

इस मन्त्र में युद्ध के सम्बन्ध में एक विशेष बात कही गई है। वह यह है कि जब हमें शत्रु की दुष्टता के कारण उससे युद्ध करना आवश्यक ही हो जाये तो भी हमें उसके राष्ट्र पर अधिकार नहीं करना चाहिए। हमें शत्रु को दण्डित करने के लिए उससे युद्ध तो करना चाहिए पर इस युद्ध का प्रयोजन शत्रु को सीधे रास्ते पर लाने से अधिक कुछ न होना चाहिए। युद्ध को जीतने के पश्चात् हमें अपनी सेनाएँ शत्रु के राष्ट्र में नहीं रखनी चाहिए। हमारी सेनाओं को युद्ध जीतने के पीछे 'यथा-लोक' आ जाना चाहिए। जिन सेनाओं का जो लोक अर्थात् स्थान था उन्हें उसी स्थान पर वापिस चले जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में मन्त्र के इस कथन का भाव यह है कि संग्राम जीतने के अनन्तर हमारी सेनाओं को वापिस अपने देश के स्कन्धावारों (छावनियों) में आ जाना चाहिए। उस देश की सर्वसाधारण प्रजा की स्वतन्त्रता हड़पना तो हमारा उद्देश्य था ही नहीं। उसके शासकों ने हमारे राष्ट्र के साथ दुर्व्यवहार किया था। उन दुष्ट शासकों को युद्ध में परास्त करके उचित दण्ड दे दिया गया और सीधे रास्ते पर ला दिया गया। अब यह हो जाने के पश्चात् हमारी सेनाओं के उस राष्ट्र में पड़े रहने का क्या प्रयोजन है? पाठक देखें वेद की युद्ध नीति भी कितनी उदार है।

राज्य की सारी चेष्टाओं का अन्तिम प्रयोजन सुख और शान्ति की स्थापना करना है और इसीलिए राज्य द्वारा छेड़े गये युद्धों का भी अन्तिम प्रयोजन शान्ति-स्थापना ही है। युद्ध शान्ति-स्थापना के सहायक तभी हो सकते हैं जबकि युद्ध जीत लेने के पश्चात् विजेता की मनोवृत्ति वह हो जो ऊपर उद्धृत वेद मन्त्र में बताई गई है। यदि विजेता यह मनोवृत्ति नहीं रखेगा तो उसका जीता हुआ युद्ध आगामी अनेक युद्धों की भूमि बन जायेगा। पराजित और अधिकृत राष्ट्र अपने स्वातन्त्र्य नाश का बदला लेने के लिए समयान्तर में युद्ध की तैयारी करेंगे और इस प्रकार युद्धों की एक परम्परा चल पड़ेगी, भले ही यह युद्ध छोटे-छोटे हों अथवा बड़े-बड़े और इस प्रकार इन राष्ट्रों में कभी सुख-शान्ति की स्थापना न हो सकेगी। युद्ध कभी-कभी

[1] मरुत इति पदं पूर्वमन्त्रादाकृष्यते।

[2] दिवुधातोरर्थेषु विजिगीषाप्यन्यतमः। दीव्यन्ति विजिगीषन्तीति देवाः। देवाश्च ते जनाश्च देवजनाः।

करने आवश्यक हो जाते हैं पर उन्हें शान्ति का साधन बनाने के लिए विजेता में उपर्युक्त मनोवृत्ति रहनी चाहिए।

प्राचीन भारतवर्ष के आर्य राजा लोग वेद के इसी आदर्श के अनुसार आचरण किया करते थे। इसीलिए तो राम-रावण युद्ध में हम देखते हैं कि महाराज रामचन्द्र दुष्ट रावण को युद्ध में मार देने के पश्चात् अपनी सेनाओं को लंका के राष्ट्र में नहीं रहने देते उन्हें वापिस अपने साथ भारतवर्ष में ले आते हैं और लंका के राजसिंहासन पर वहीं के अधिवासी विभीषण को विठा आते हैं।

2

मरुत् : सैनिक

अभी ऊपर उद्धृत कई मन्त्रों में प्रयुक्त मरुत् शब्द का अर्थ हमने सैनिक किया है। यह शब्द वेद में सर्वत्र बहुवचन में आया है। इस शब्द का सायणादि भाष्यकार जो अर्थ करते हैं वह एक प्रकार के देवता हैं जो मनुष्य से भिन्न प्रकार की योनि के प्राणी हैं। जिन्हें कभी बुढ़ापा नहीं आता और जो कभी मरते नहीं हैं। इन मरुतों को वायु के देवता माना जाता है और इसीलिए अनेक स्थलों पर सायणादि भाष्य-कार मरुत् का अर्थ सामान्य वायु भी कर देते हैं। यहाँ हम इस शब्द का अर्थ सैनिक करके एक सर्वथा निराली बात कर रहे हैं। जिसे बिना प्रमाण के कोई भी मानने को उद्यत न होगा। इसलिए इस शब्द के अर्थ पर यहाँ अच्छी तरह विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ इस शब्द के अर्थ का निर्णय कर लेना इसलिए भी आवश्यक है कि हम इसका अर्थ सैनिक मानकर वेद के मरुत्सम्बन्धी सूक्तों से प्रतिरक्षा या युद्ध विभाग विषयक अनेक निर्देश निकालकर ग्रन्थ के इस भाग में प्रस्तुत करना चाहते हैं। वेद में मरुतः का प्रमुख अर्थ सैनिक है अपनी इस स्थापना की पुष्टि में हम निम्न बातें कहना चाहते हैं—

मरुत् का शब्दार्थ

सबसे पहले मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति को लीजिए। यह व्युत्पत्ति मरुतों के सैनिक होने की ओर ही संकेत करती है। यह शब्द 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से 'मृग्रोरुतिः' (उणा० 1.94) इस सूत्र से उति प्रत्यय होकर बनता है। 'म्रियते मारयति वा स मरुत्' अर्थात् जो मरता या मारता है वह मरुत् है। अब, यह मरने-मारने का स्वभाव सैनिकों में ही पाया जाता है। इस प्रकार मरुत् शब्द का अपना धात्वर्थ इसके सैनिकवाची होने की ओर संकेत करता है। इस पर सायणादि के अनुयायी स्वदेशी और विदेशी पाठक कह देंगे कि मरना न सही मारना अर्थ तो मरुत् नामक देवों में और सामान्य वायु में भी घट सकता है। ये मरुत् देव अपने से भिन्न औरों को मार सकते और मारते हैं इसलिए ये मरुत् हैं।

मरुत् देव विशेष नहीं, मनुष्य हैं

इस पर हमारा अगला वक्तव्य यह है कि इन मरुतों को वेद में निम्न

स्थलों पर 'नरः' अर्थात् मनुष्य कहा है—

1. नरो दिवश्च घृतयः । ऋग्० 1.37.6.
2. परा ह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु । ऋग्० 1.39.3.
3. साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः । ऋग्० 1.64.4.
4. अनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः । ऋग्० 1.64.10.
5. नृभिरापृच्छ्यं क्रतुमा क्षेति पुष्यति । ऋग्० 1.64.13.
6. नरः सत्यशवसः । ऋग्० 1.86.8.
7. साकं नरो दंसनैरा चिकित्रिरे । ऋग्० 1.166.13.
8. के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमाः । ऋग्० 5.61.1.
9. अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः । ऋग्० 5.52.5.
10. आ रुक्मैरा युधा नर ऋष्वा ऋष्टीरसृक्षत । ऋग्० 5.52.6.
11. उत स्म ते शुभे नरः प्र स्यन्द्रा युजत त्मना । ऋग्० 5.52.8.
12. अधा नरो न्योहते ऽधा नियुत ओहते । ऋग्० 5.52.11.
13. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः । ऋग्० 5.53.6.
14. सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः यं त्रायध्वे । ऋग्० 5.53.15.
15. विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवः । ऋग्० 5.54.3.
16. नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरः । ऋग्० 5.54.8.
17. नरः न वोऽश्वाः श्रथयन्त । ऋग्० 5.54.10.
18. प्रतरं वावृधुर्नरः विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः । ऋग्० 5.55.3.
19. हये नरो मरुतो मृळता नः । ऋग्० 5.57.8; 5.58.8.
20. वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन् । ऋग्० 5.58.2.
21. महे विदथे येतिरे नरः । ऋग्० 5.59.2.
22. श्रियसे चेतथा नरः । ऋग्० 5.59.3.
23. सुवृधो वावृधुर्नरः । ऋग्० 5.59.5.
24. क ईं व्यक्ता नरः सनीळाः । ऋग्० 7.56.1.
25. नहि व ऊतिः पृतनासु मर्धति यस्मा अराध्वं नरः । ऋग्० 7.59.4.
26. स्वधामनु श्रियं नरो महि त्वेषा''''वहन्ते । ऋग्० 8.20.7.
27. नरो हव्या नो वीतये गत । ऋग्० 8.20.10.
28. नर आ हव्या वीतये गथ । ऋग्० 8.20.16.
29. इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत् । ऋग्० 6.49.11.
30. यच्छुभं याथना नरः । ऋग्० 1.23.11.
31. अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र । ऋग्० 1.165.11.

32. इमं नरो मरुतः सश्चता वृधम् । ऋग्० 3.16.2.
33. इमं नरो मरुतः सश्चतानु । ऋग्० 7.18.25.
34. जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्रा इव स्तृभिः ।
ऋग्० 1.87.1.

इन मन्त्र खण्डों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) अपने प्रताप से द्युलोक और पृथिवी लोक को कंपाने वाले हे नर मरुतो। (2) हे नर मरुतो तुम स्थिर को भी तोड़ देते हो और भारी को भी हिला देते हो। (3) ये नर मरुत् बल से युक्त हैं (स्वधया) और अपने गुरुओं के वानप्रस्थाश्रमों से (दिवः)[1] एक साथ तैयार होकर आये हैं (साकं जज्ञिरे)। स्वधा का अर्थ अन्न भी होता है तब भाव यह होगा कि ये नर मरुत् वानप्रस्थियों के गुरुकुलों में पौष्टिक अन्न खाकर तैयार हुए हैं। (4) ये नर मरुत् अनन्त बल वाले हैं और बलवर्धक पदार्थों को खाने वाले हैं (वृषखादयः)। (5) इन नर मरुतों के द्वारा अर्थात् इनकी रक्षा में रहकर मनुष्य प्रशंसनीय (आपृच्छ्यं) कर्म करता है और पुष्ट होता है। (6) जिनका बल कभी व्यर्थ नहीं जाता ऐसे सत्य बल वाले हे नर मरुतो। (7) हे नर मरुतो तुम मिलकर भाँति-भाँति के कर्मों द्वारा (दंसनै) ज्ञान सीखते हो (आ चिकित्रिरे)। (8) हे सबसे श्रेष्ठ (श्रेष्ठतमाः) नर मरुतो तुम कौन हो। (9) जो नर मरुत् पूजनीय गुण वाले हैं (अर्हन्त), अपनी शक्तियों का उत्तम दान करने वाले हैं, अनल्प बल वाले हैं (असामिशवसः)। (10) ये नर मरुत् चमकीले सुवर्णाभरणों से (रुक्मैः), शस्त्रों से (युधा) शोभित हैं, ये गुणों से महान् हैं (ऋष्वाः), ऋष्टि नामक शस्त्रों को शत्रु पर फेंकते हैं (असृक्षत)[2]। (11) वे नर मरुत् क्रियाशील हैं (स्यन्द्राः) संसार के शुभ के लिए अपने आप लगे हुए हैं। (12) ये नर मरुत् भाँति-भाँति के पदार्थों का मिश्रण करने वाले हैं (नियुतः)[3] और सबको अच्छी तरह उठा रहे हैं अर्थात् चला रहे हैं (नि ओहते)। (13) अपनी शक्तियों का उत्तम दान करने वाले ये नर मरुत् अपना भाग देने वाले प्रजाजन के लिए (दाशुषे) भाँति-भाँति के व्यवहारों का (दिवः) कोश ला गिराते हैं अर्थात् उसे व्यवहारों में सहायता पहुँचाते हैं (आ अचुच्यवु)[4]। (14) ये हे नर मरुत् वह मनुष्य सुवीर हो जाता है जिसकी तुम रक्षा करते हो। (15) ये नर मरुत् ऐसे हैं जिनका तेज विद्युत् जैसा है अथवा जिनकी महिमा विद्युत् से बढ़ती

[1] ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि के वानप्रस्थाश्रम प्रकरण में अथ० 9.5.1 मंत्र की व्याख्या करते हुए मंत्र के 'नाकमाक्रमतां तृतीयम्' इस वाक्य में प्रयुक्त तृतीय नाक अर्थात् द्युलोक का अर्थ तीसरा वानप्रस्थाश्रम ऐसा किया है। ऋषि के इस संकेत को लेकर अद्वितीय वैदिक विद्वान् श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है और द्युलोक का अर्थ वानप्रस्थाश्रम भी होता है यह सिद्ध किया है।

[2] प्रक्षिपन्तीति सायणः ।

[3] मिश्रयितार इति सायणः ।

[4] आच्यावयन्तीति सायणः ।

है (विद्युन्महसः) और जो चमकीले शस्त्रों में व्याप्त हैं अर्थात् जिनके पास चमकते हुए शस्त्र हैं (अश्मदिद्यवः)[1]। (16) ये नर मरुत् अश्वों वाले हैं (नियुत्वन्तः)[2], समूहों को अथवा गाँवों को जीतने वाले हैं (ग्रामजितः)। (17) हे नर मरुतो तुम्हारे घोड़े कभी शिथिल नहीं होते अर्थात् थकते नहीं। (18) ये नर मरुत् गुणों में खूब बढ़े हुए हैं, ये सूर्य की किरणों की तरह चमकने वाले हैं। (19) हे नर मरुतो हमें सुखी करो। (20) हे ज्ञानी पुरुष प्रभूत सिद्धि वाले अथवा प्रभूत धन वाले (तुविराधसः) इन नर मरुतों की वन्दना कर। (21) ये नर मरुत् महान् ज्ञान, धन अथवा युद्ध जीतने के निमित्त (विदथे)[3] प्रयत्न करते हैं। (22) हे नर मरुतो तुम श्री के लिए ज्ञान संग्रह करो (चेतथ)। (23) ये नर मरुत् अपने गुणों के द्वारा औरों को अच्छी तरह बढ़ाने वाले हैं और स्वयं भी बढ़े हुए हैं। (24) कान्ति से युक्त (व्यक्ताः) एक स्थान में रहने वाले (सनीडाः) ये नर मरुत् कौन हैं। (25) हे नर मरुतो तुम्हारे द्वारा की हुई रक्षा युद्धों में उस व्यक्ति की हिंसा नहीं होने देती (मर्धति) जिसे तुम रक्षा देते हो (अराध्वं)। (26) महान् दीप्ति वाले नर मरुत् पौष्टिक अन्न सेवन करने के अनन्तर (स्वधामनु) शोभा को धारण करते हैं। (27) हे नर मरुतो हमारे सुन्दर भोजनों को सेवन करने के लिए आओ। (28) हे नर मरुतो हमारे सुन्दर भोजन भक्षण करने के लिए आओ। (29) हे नर मरुतो तुम सूर्य की किरणों की तरह (अंगिरस्वत्)[4] फैल जाने वाले (नक्षन्तः) हो। (30) हे नर मरुतो जो तुम शुभ में चलते हो। (31) हे नर मरुतो तुम जो मेरे लिए प्रशंसनीय और महान् कर्म (ब्रह्म)[5] करते हो उसकी प्रशंसा (स्तोमः) मुझ सम्राट् (इन्द्र) को आनन्दित करती है। (32) हे नर मरुतो तुम प्रजाओं के वर्धक इस सम्राट् (अग्नि) का सेवन करो। (33) हे नर मरुतो तुम प्रजाओं को उत्तम कल्याण देने वाले इस सम्राट् (इन्द्रं) का सेवन करो। (34) ये मरुत् प्रीति और सेवन के योग्य हैं (जुष्टतमासः) ये सबसे बढ़कर नर हैं (नृतमासः) शरीर पर लदे हुए रूप के प्रकाशक तगमे आदि आभरणों से (अञ्जिभिः) ये शोभायमान हैं (आनज्रे) और ये सूर्य की किरणों की तरह चमक रहे हैं।

पाठक इन मन्त्रों को ध्यान से देखें। इनमें मरुतों को नर कहा है। मरुतों को नर कहने के अतिरिक्त मन्त्रों में उनके जो और वर्णन हैं उन्हें भी पाठक देखें और देखें कि वे वर्णन सैनिकों पर अधिक अच्छी तरह घटते हैं या काल्पनिक देवों अथवा हवाओं पर। पर इस समय हमारा इन मन्त्रों में पाये जाने वाले मरुतों के दूसरे वर्णनों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना प्रयोजन नहीं है। इस समय तो हम उनके नर इस नाम की ओर ही ध्यान खींचना चाहते हैं। सारे संस्कृत साहित्य में

[1] व्याप्तायुधा इति सायणः।

[2] अयं शब्दोऽत्राश्व सामान्ये वर्तते। नितरां यवनवन्तोऽश्ववन्त इति सायणः।

[3] विदथ शब्दो वेदे ज्ञानधनादिषु बहुष्वर्थेषु प्रयुज्यते।

[4] अंगिरसो गमनशीलाः सूर्य-रश्मयस्ते यथा शीघ्रं व्याप्नुवन्ति तद्वदिति सायणः।

[5] परिवढं कर्मेति सायणः।

नर शब्द का अर्थ मनुष्य होता है। वेद के सुप्रसिद्ध कोश निघण्टु में भी 'नरः' का अर्थ 'मनुष्याः' ऐसा ही किया गया है। ऊपर उद्धृत अन्तिम मन्त्र में तो मरुतों को नर न कहकर 'नृतमासः' अर्थात् सबसे बढ़कर नर ऐसा कहा है। सबसे बढ़कर नर तो वे ही होंगे जिनमें नरों अर्थात् मनुष्यों के गुण सबसे बढ़कर पाये जायेंगे। यदि मरुत् 'नृतमासः' हैं तो इनमें नरों के गुण भी सबसे अधिक होंगे अर्थात् ये सबसे अच्छे मनुष्य होंगे। यह विशेषण सैनिकों पर बड़ा सुन्दर घटता है। सैनिकों में शौर्य, वीर्य, धैर्य, कष्टसहिष्णुता, त्याग आदि कितने ही मनुष्योचित सुन्दर गुण सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। जब वेद स्वयं मरुतों को नर और श्रेष्ठतम नर कह रहा है तो हम उन्हें मनुष्य न मानकर एक काल्पनिक देव-विशेष क्यों मानें?

इस पर सायणादि के अनुयायी लोग कहेंगे कि इन स्थलों में 'नरः' पद का अर्थ मनुष्य नहीं है, किन्तु इसका यौगिक अर्थ 'नेतारः' अर्थात् नेता या ले चलने वाले ऐसा है। ऋषि दयानन्द के अनुयायी भाष्यकारों पर यौगिकवादी होने का दोष लगाया जाता है। अब भला दयानन्द की भाष्य-शैली के विरोधी लोग उसी यौगिक वाद का आश्रय क्यों लेते हैं? वे सारे संस्कृत साहित्य में मनुष्य अर्थ में रूढ़, निघण्टु में भी जिसका अर्थ मनुष्य ही किया गया है उस नर शब्द का अर्थ मनुष्य ही क्यों नहीं करते? उनको इन मन्त्रों में रूढ़िवाद को छोड़ने का क्या अधिकार है? दयानन्द के अनुयायी यौगिक वाद का वही आश्रय लेते हैं जहाँ वैसा करने से अर्थ में चमत्कार उत्पन्न होता है और वह अधिक शिक्षाप्रद बनता हो। हम सर्वत्र यों ही बिना हेतु के यौगिक वाद का सहारा नहीं लेते हैं। प्रस्तुत मरुत् सम्बन्धी मन्त्रों में नर का सुप्रसिद्ध और रूढ़ अर्थ मनुष्य करने पर अर्थों में चमत्कार उत्पन्न होता है और वह राष्ट्रोपयोगी व्यावहारिक शिक्षा देने वाले बन जाते हैं। अतः यहाँ हमें नर का रूढ़ अर्थ मनुष्य ही करना चाहिए। पर यदि किसी को यही आग्रह हो कि यहाँ नर का अर्थ नेता ही करना है तो नेता भी तो मरणधर्मा मनुष्य ही है।

मरुत् अमर देवता नहीं मरणधर्मा मनुष्य हैं

निम्न मन्त्रों में मरुतों को मर्त्य और मर्य कहा गया है—

1. युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते।
   वि तं युयोत शवसा व्योजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः॥ ऋग्० 1.39.8.
2. ये जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या। ऋग्० 1.64.2.
3. परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः। ऋग्० 5.61.4.
4. नरो मर्या अरेपस इमान् पश्यन्निति ष्टुहि। ऋग्० 5.53.3.
5. मर्या इव सुवृधः। ऋग्० 5.59.5.
6. दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। ऋग्० 5.59.6.

7. विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः । ऋग्० 3.54.13.

8. रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः । ऋग्० 7.56.1.

9. यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः । ऋग्० 7.56.16.

इनका शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो तुम से चाहा हुआ (युष्मेषितः) इसीलिए मर्त्यों द्वारा चाहा हुआ (मर्त्येषितः) जो शत्रु (अभ्वः) हमारे सम्मुख आता है उसको तुम अपने बल और ओज से, हमारे प्रति की गई अपनी रक्षाओं द्वारा हमसे परे भगा दो।

'तुम से चाहा हुआ' मन्त्र के इस कथन का भाव यह है कि मरुतो तुम तो सदा चाहते ही रहते हो कि शत्रु तुम्हारे अभिमुख आये और तुम उसे मार भगाओ। मन्त्र में यह भी कहा गया है कि जो शत्रु हे मरुतो तुम से चाहा गया है वह मर्त्यों से चाहा गया है अर्थात् उसे चाहने वाले तुम और मर्त्य एक ही हैं । दूसरे शब्दों में भाव यह हुआ कि मरुत् मर्त्य हैं। यहाँ मर्त्य का अर्थ मरुत् से भिन्न प्रजाजन नहीं हो सकता। क्योंकि साधारण प्रजाजन तो शत्रु को चाह ही नहीं सकते। वे तो उल्टा मरुतों से शत्रु को मार भगाने की प्रार्थना कर रहे हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में मरुतों को मर्त्य कहा गया है। मर्त्य का अर्थ होता है मरणधर्मा मनुष्य।

(2) दर्शनीय (ऋष्वासः), अपने गुणों द्वारा औरों पर सुख का सिंचन करने वाले (उक्षणः), ये रुद्र के मर्य मरुत् वानप्रस्थियों के गुरुकुलों से अथवा प्रकाशमान ज्ञान से (दिवः) उत्पन्न होते हैं। (3) उत्तम पत्नियों वाले (भद्रजानयः) हे वीर मर्य मरुतो तुम आओ। (4) ये मरुत् नर हैं, मर्य हैं, इन्हें देखकर इनकी इस प्रकार स्तुति कर। (5) ये मरुत् मर्य जैसे बढ़ते हैं, गुणों से वैसे बढ़ने वाले हैं। अर्थात् ये क्योंकि मर्य हैं इसीलिए मर्यों की तरह बढ़ने वाले हैं। (6) हे मर्य मरुतो वानप्रस्थियों के गुरुकुलों से (दिवः) तैयार होकर अथवा विजिगीषा-व्यापारों से निवृत्त होकर वापिस आओ। (7) ये मर्य मरुत् विद्युत् से चलने वाले रथों वाले हैं (विद्युद्रथाः), ऋष्टि नामक शस्त्रों से युक्त हैं, सत्यज्ञान से उत्पन्न होते हैं (ऋतजाताः) और ये सदा चेष्टाशील हैं (अयासः) । (8) ये मरुत् रुद्र के मर्य हैं, ये सुन्दर अश्वों वाले हैं। (9) ये मर्य मरुत् पूजनीय अर्थात् पवित्र दृष्टि वाले लोगों की भाँति (यक्षदृशो न) सर्वत्र शोभा पाते हैं।

इन मन्त्रों में मरुतों को मर्य कहा गया है। मर्य का अर्थ भी मनुष्य होता है। वेद के कोश निघण्टु में मर्त्य और मर्य को मनुष्य का नाम कहा गया है (निघं० 2.3)। ऊपर उद्धृत ऋग्० 1.64.2 मन्त्र की व्याख्या में श्री सायण को भी यह लिखना पढ़ा है कि 'मर्यं शब्दो मनुष्यवाची।' अर्थात् 'मर्य शब्द मनुष्य का वाचक है।' पर इतना लिखकर वह आगे लिखते हैं—'इह मरुतां मर्त्यत्वासंभवात् पुत्रा इत्यस्मिन्नर्थे पर्यवस्यति। मरुतां रुद्रपुत्रत्वं च मन्त्रान्तरे स्पष्टम्।' अर्थात् 'यहाँ मर्य

का अर्थ पुत्र करना चाहिए क्योंकि मरुत् मनुष्य तो हो नहीं सकते। मरुतों को अन्यत्र रुद्र के पुत्र कहा भी है।' हमें समझ में नहीं आता कि जब मर्य का अर्थ मनुष्य होता है तो उसका अर्थ इन मन्त्रों में मनुष्य न करके पुत्र कैसे कर लिया जाये। 'रुद्रस्य मर्या:' का सीधा अर्थ है रुद्र के मनुष्य। जहाँ मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है उसका अभिप्राय और है। वह हम यथास्थान प्रकट करेंगे। क्योंकि उन्हें अन्यत्र किसी अन्य अभिप्राय से रुद्र के पुत्र कहा गया है इसलिए जहाँ उन्हें रुद्र के मर्य अर्थात् मनुष्य कहा गया है वहाँ भी मनुष्य का अर्थ पुत्र ही लेना चाहिए यह कोई युक्ति नहीं है। बात यह है कि सायणादि के मन में मरुतों और रुद्र की काल्पनिक देव-मूर्तियाँ बैठी होती हैं इसलिए उन्हें यह कठिनाई उपस्थित होती है। सीधी बात यह है कि इन स्थलों में मरुत् भी मनुष्य हैं और रुद्र भी। रुद्र नाम सेनापति का है जैसा कि हम आगे देखेंगे और मरुत् नाम सैनिकों का है जैसा कि हम सिद्ध कर रहे हैं। ये मरुत् अर्थात् सैनिक रुद्र के मर्य अर्थात् सेनापति के मनुष्य हैं। जब वेद मरुतों को मर्त्य और मर्य कहकर मनुष्य सिद्ध करता है तो हमें इन्हें एक प्रकार के काल्पनिक देव या वायु समझने का कोई अधिकार नहीं है।

मर्त्य और मर्य शब्दों का रूढ़ार्थ मनुष्य होता है यह हमने देखा है। इन दोनों शब्दों का धात्वर्थ मरने वाला ऐसा होता है। कई लोग आग्रहवश कह देंगे कि नहीं, भले ही मर्त्य और मर्य का अर्थ मनुष्य होता हो, मरुत् के साथ प्रयोग में इनका अर्थ मनुष्य नहीं होता, वहाँ इनका अर्थ केवल मरने वाला इतना ही होता है। हम नहीं समझते कि उन्हें यह आग्रह करने का क्या अधिकार है। पर यदि उनका ही अर्थ स्वीकार लें तो वह भी तो मरुतों में संगत नहीं होगा। क्योंकि मरुत् तो वायु के देवता हैं और देवता कभी मरते नहीं। उन्हें अमर माना जाता है और जड़ वायु के लिए मरने का व्यवहार यों ही नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ आत्मा शरीर से अलग होता है वहीं मरना क्रिया का व्यवहार होता है। इसलिए मर्त्य और मर्य का अर्थ मरने वाला करने पर मरुत् देवताओं को अमर न मानकर मरणधर्मा स्वीकार करना पड़ेगा। इससे प्रतिवादी का देवता-वाद सम्बन्धी पक्ष उसी की युक्ति से खण्डित हो जाता है।

इस पर कोई कह उठेगा कि नहीं, इससे देवताओं के अमरपन का पक्ष खण्डित नहीं होता। देवताओं का अमरपन सापेक्ष है। देवता हमारी तरह सौ-पचास वर्ष की छोटी आयु में नहीं मरते। वे कल्प की आयु तक जीते हैं—विश्व की प्रलय के साथ ही उनकी मृत्यु होती है, इसलिए उन्हें अमर कहा जाता है। प्रलयकाल में मर जाने के कारण मरुतों को मर्त्य और मर्य भी कह दिया जाता है। ऐसा कहने वाले ऋग्वेद का मन्त्र 1.38.4 देखें।

मरुत् स्वयं मरकर अपनी स्तुति करने वाले को अमर बना जाते हैं

यद् यूयं पृश्निमातरो मर्तास: स्यातन।
स्तोता वो अमृत: स्यात्॥ ऋग्० 1.38.4.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

'पृश्नि अर्थात् अपनी भूमि को माता समझने वाले हे मरुतो जब तुम मर्त हो जाते हो अर्थात् मर जाते हो तो तुम्हारा स्तुतिकर्ता अमर हो जाता है।'

यहाँ मरुतों को मर्त कहा है। यहाँ श्री सायण ने तो मर्त का अर्थ सीधा मनुष्य ही कर दिया है। क्योंकि निघण्टु में मर्त को भी मनुष्य का ही नाम माना है और जब सायण भी यहाँ मरुतों को मर्त अर्थात् मनुष्य ही मानते हैं तो हमारे मत की और भी पुष्टि हो जाती है। परन्तु मर्त का धात्वर्थ भी मरने वाला ऐसा ही होता है। इसलिए जो लोग मरुतों को देवता-विशेष मानते हैं वे यहाँ भी यहीं कहेंगे कि प्रलयकाल में मरने वाला होने से मरुतों को मर्त कह दिया है। उनको मनुष्य कहने से मन्त्र का अभिप्राय नहीं है। परन्तु उनका यह कथन बन नहीं सकता। मन्त्र कहता है कि जब हे मरुतों तुम मर्त हो जाते हो अर्थात् मर जाते हो तो तुम्हारी स्तुति करने वाला मनुष्य अमर हो जाता है। अब मरुत् देवता तो प्रलय के समय मरेंगे। उस समय तो उनके मरने को देखकर उनकी स्तुति करने वाला कोई भी नहीं रहेगा। सबकी प्रलय हो जायेगी। इसलिए कौन उनके मरने को देखकर उनकी स्तुति करेगा और वह अमर कैसे होगा ? मरुतों को मरते देखकर उनकी स्तुति तभी हो सकती है जबकि स्तुति करने वाला मनुष्य मरुतों के मरने के बात भी जीता रहे। यह बात प्रलयकाल में तो सम्भव नहीं हो सकती। सृष्टि काल में ही सम्भव हो सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि मरुत् देव प्रलयकाल में ही नहीं मरते वे सृष्टिकाल में भी मरते रहते हैं और इस प्रकार वे अमर नहीं रहते। इसलिए मर्त, मर्त्य और मर्य का सुप्रसिद्ध अर्थ लेने पर मरुत् देव सिद्ध नहीं होते वे मनुष्य बन जाते हैं और उनका धात्वर्थ मरने वाला मरने वाला लेने पर वे अमर सिद्ध नहीं होते और इसीलिए वे फिर भी देव नहीं रहते। मरने वाले मनुष्य ही बन जाते हैं।

फिर मरुत् का अर्थ देवता-विशेष करने पर अभी ऊपर उद्धृत मन्त्र का कोई विशेष भाव नहीं प्रतीत होता। जब मरुत् मर जाते हैं तो उनकी स्तुति करने वाला अमर बन जाता है यह बात क्या हुई ? सैनिक अर्थ में यह बात बड़ी सुन्दर बनती है। अपनी राष्ट्रभूमि को माता समझने वाले वीर सैनिक जब अपने राष्ट्र की वेदी पर अपनी बली चढ़ाकर मर जाते हैं तो कवि लोग और ऐतिहासिक लोग उनकी गाथाएँ लिखते हैं। ये गाथाएँ इतनी सुन्दर लिखी जाती हैं कि प्रलय पर्यन्त उनके लेखकों का यश रहता है और अपने इस यश:शरीर के रूप में मरुतों के वे स्तुति-कर्ता अमर हो जाते हैं। सैनिक स्वयं तो मर गये पर अपने चरितस्तावकों को अमर बना गये। मन्त्र में एक सैनिक के जीवन का कितना सुन्दर आदर्श चित्रित किया गया है।

मरुतों के साथ मनुष्यवाची मानुष शब्द का प्रयोग

निम्न मन्त्रों में मरुतों को मानुष कहा गया है। मानुष और मनुष्य शब्द

एक दूसरे के बिल्कुल पर्याय है। व्याकरण शास्त्र में इन दोनों शब्दों की सिद्धि एक ही सूत्र द्वारा की जाती है। इनका मूल भी एक ही है। साधारण सा संस्कृत जानने वाला भी जानता है कि मानुष और मनुष्य एक ही हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं :—

1. विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः। ऋग्० 5.52.4.

2. मरुत····मानुषासः। अथ० 7.77.3.

अर्थात्, (1) ये सब मानुष मरुत् युगों अर्थात् दीर्घकाल तक (युगा) मनुष्यों की (मर्त्यं) हिंसा से रक्षा करते हैं। (2) ये मरुत् मानुष हैं।

मरुत् मनुष्यों से मिलकर रहते हैं

कई स्थलों पर मरुतों को 'नृषाचः' कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये :—

1. नृषाचः मरुतः। ऋग्० 1.64.9.

2. नृषाचः मरुतः। ऋग्० 1.52.9.

अर्थात्, 'ये मरुत् नृषाच हैं।'

नृषाच का अर्थ होता है जो मनुष्यों में मिलकर रहें। जो मनुष्यों में मिल-जुलकर रहेंगे वे स्वभावतः ही मनुष्य होंगे। देवता लोग मनुष्य में मिल-जुलकर नहीं रहते। उनके रहने का तो अलग ही एक लोक माना जाता है। मनुष्य लोक में वे नहीं रहते। मनुष्यों से मिल-जुलकर मनुष्य लोक में रहने वाले मरुत् मनुष्य ही होने चाहिए।

निम्न मन्त्रों में मरुतों को 'विश्वकृष्टयः' कहा है :—

1. अग्निश्रियः विश्वकृष्टयः। ऋग्० 3.26.5.

2. मरुतो विश्वकृष्टयः। ऋग्० 10.92.6.

3. विश्वकृष्टीः विदानासः। ऋग्० 1.169.2.

अर्थात्, (1) ये मरुत् अग्नि जैसी श्री वाले हैं और सबके सब कृष्टि हैं। (2) ये मरुत् सबके सब कृष्टि हैं। (3) ये मरुत् सबके सब कृष्टि हैं, ज्ञानी हैं।

कृष्टि का अर्थ होता है मनुष्य। विश्वकृष्टयः[1] का अर्थ हुआ सबके सब मनुष्य। मरुत् सबके सब कृष्टि हैं अर्थात् मनुष्य हैं।

मरुत् शूर-वीर हैं

मरुत् मनुष्य तो है ही। मनुष्य होने के साथ-साथ वे शूर-वीर भी हैं। वेद में उनके शूर-वीर होने का स्थान-स्थान पर वर्णन आता है। कुछ स्थल नीचे देखिये :—

1. सांतपना रिशादसः। अथ० 7.77.1.

2. यूयमुग्रा मरुतः ईदृशे स्थाभि प्रेत् मृणत सहध्वम्। अथ० 3.1.2.

3. उग्रा मरुतः प्र मृणीत शत्रून्। अथ० 5.21.11.

[1] विश्वे च ते कृष्टयश्च विश्वकृष्टयः। कृष्टय इति मनुष्यनाम। निघं० 2.3.

4. यूयमुग्राः प्र मृणीत शत्रून् । — अथ० 13.1.3.
5. मरुतां शर्धं उग्रम् । — अथ० 19.13.10.
6. य उग्रा अनाधृष्टास ओजसा । — ऋग्० 1.19.4.
7. वि तं युयोत शवसा व्योजसा । — ऋग्० 1.39.8.
8. असाम्योजो बिभृथा ऽसामि शवः । — ऋग्० 1.39.10.
9. शूराः शवसा । — ऋग्० 1.64.9.
10. अनन्तशुष्माः । — ऋग्० 1.64.10.
11. मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः । — ऋग्० 1.85.1.
12. यूयं सत्यशवसः । — ऋग्० 1.86.9.
13. यूयम् उग्रा मरुतः । — ऋग्० 1.166.6.
14. उग्रास्तवसो विरप्शिनः । — ऋग्० 1.166.8.
15. ये स्वजा स्वतवसः । — ऋग्० 1.168.2.
16. परा वीरास एतन मर्यासः । — ऋग्० 5.61.4.
17. ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति । — ऋग्० 5.52.2.
18. असामिशवसः । — ऋग्० 5.52.5.
19. बाह्वोर्वो बलं हितम् । — ऋग्० 5.57.6.
20. शूरा इव प्रयुधः प्रोत युयुधुः । — ऋग्० 5.59.5.
21. उग्रं व ओजः स्थिरा शवांसि । — ऋग्० 7.56.7.
22. जनासः शूराः । — ऋग्० 7.56.22.
23. सान्तपना मरुतः । — ऋग्० 7.59.9.
24. शुष्ममुग्रं मरुतां शिमीवताम् । — ऋग्० 8.20.3.
25. बाह्वोजसः । — ऋग्० 8.20.6.
26. त उग्रासो वृषण उग्रबाहवः । — ऋग्० 8.20.12.
27. पूतदक्षसः । — ऋग्० 8.94.7,10.

इन मन्त्रखण्डों का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

(1) ये मरुत् प्रतिद्वन्द्वियों को तपाने वाले और हिंसा के नाशक हैं। (2) हे मरुतो तुम उग्र बलशाली हो शत्रुओं को मार डालो। (3) उग्र शक्तिशाली मरुतो शत्रुओं को मार डालो। (4) हे उग्र बलशाली मरुतो तुम शत्रुओं को मार डालो। (5) मरुतों का बल उग्र है। (6) जो मरुत् उग्र हैं और ओज के कारण अघर्षणीय हैं। (7) मरुतो अपने बल और ओज से शत्रु को परे कर दो। (8) तुम में असम ओज है और असम बल है। (9) ये बल के कारण शूर हैं। (10) इनमें अनन्त बल है। (11) ये तेजस्वी वीर हैं युद्धों में (विदथेषु) आनन्द से रहते हैं। (12) तुम्हारा बल हे मरुतो सच्चा है। (13) हे मरुतो तुम उग्र हो। (14) ये उग्र हैं, बली हैं, महिमाशाली हैं। (15) ये मरुत् जो कि अपनी सहज योग्यता से उत्पन्न होने वाले (स्वजाः) और अपने सहज बल से युक्त हैं (स्वतवसः)। (16) हे वीर मनुष्यो आओ।

(17) वे मरुत् सदा स्थिर रहने वाले बल के मित्र हैं अर्थात् इनका बल क्षीण नहीं होता। (18) ये असम बलशाली हैं। (19) हे मरुतो तुम्हारी भुजाओं में बल रहता है। (20) हे मरुतो तुम युद्ध करने वाले शूरों की भाँति युद्ध करते हो। (21) तुम्हारा ओज उग्र है और तुम्हारे बल स्थिर रहने वाले हैं। (22) मरुत् शूर जन हैं। (23) मरुत् प्रतिद्वन्द्वियों को तपा डालने वाले हैं। (24) कर्मशील (शिमीवतां) मरुतों का बल उग्र है। (25) ये मरुत् बाहुओं में ओज रखने वाले हैं। (26) ये मरुत् उग्र हैं, बली हैं, उग्र भुजाओं वाले हैं। (27) ये मरुत् पवित्र बल वाले हैं (पूतदक्षसः) अर्थात् इनके बल से कोई अपवित्र काम नहीं हो सकता।

इस प्रकार मरुत् न केवल मनुष्य ही हैं प्रत्युत ओजस्वी, बली, सन्तापक, उग्र, भुजबलशाली, वीर और शूर पुरुष हैं। इनकी यह शूर-वीरता उनके सैनिक होने की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

मरुत् क्षत्रिय हैं

निम्न मन्त्रों में मरुतों को क्षत्रिय भी कहा गया है :—

1. सुक्षत्रासो रिशादसः। ऋग्० 1.19.5.
2. स्वक्षत्रेभिः। ऋग्० 1.165.5.

अर्थात्, (1) ये मरुत् उत्तम क्षत्रिय (सुक्षत्रासः) हैं और ये हिंसा के नाशक हैं। (2) मरुत् अपने सहज क्षत्र अर्थात् क्षत्रियोचित गुणों से युक्त हैं।

समग्र संस्कृत और वैदिक वाङ्मय में क्षत्र शब्द क्षत्रिय और क्षत्रियोचित बलादि गुणों का वाचक है। इन मन्त्रों में मरुतों को सुक्षत्र और अपने में क्षत्र रखने वाले कहा गया है। जिनका तात्पर्य यही है कि वे उत्तम क्षत्रिय हैं और अपने में क्षत्रियोचित बलादि गुणों को सहज रूप में धारण किये हुए हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में मरुतों को क्षत्रिय कहना उनके सैनिक होने की ओर असंदिग्ध निर्देश करता है।

मरुत् मिलकर गणों अर्थात् समूहों में रहते हैं

वेद में मरुत् सम्बन्धी सूक्तों का पारायण करते हुए पाठक के मन में जो एक बात बहुत स्पष्ट रूप में आती है वह यह है कि मरुत् अकेले-दुकेले नहीं रहते। वे गणों में रहते हैं, समूहों में रहते हैं। स्थान-स्थान पर इन सूक्तों में मरुतों के सम्बन्ध में 'मारुतं गणम्' (ऋग्० 1.14.3), 'मारुतेना गणेन' (ऋग्० 3.32.2), 'मारुतं गणम्' (यजु० 33.45), 'मरुतां गणः' (यजु० 18.45), 'मरुतः सगणा' (अथ० 7.77.3), 'मरुतो गणैः' (अथ० 19.45.10), 'मरुतां गणाः' (अथ०4.13.4), 'मारुताः गणाः' (अथ० 4.15.4), 'व्रातंव्रातं गणंगणं मरुताम्' (ऋग्० 3.26.6), इस प्रकार के प्रयोग आते हैं। हमने उदाहरण के लिए एक-एक प्रतीक दे दी है। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि मरुत् गणों और व्रातों में अर्थात् समूहों में रहते हैं। उनके लिए 'गणश्रियः' (ऋग्० 1.64.9), 'गणश्रिभिः'

(ऋग्० 5.60.8.) इस प्रकार के प्रयोग भी आते हैं। 'गणश्रियः' का अर्थ है गण में रहने से जिनकी श्री अर्थात् शोभा होती है। 'गणश्रिभिः' का अर्थ सायण ने 'गणभावमाश्रयद्भिः' ऐसा किया है। जिसका अर्थ है कि मरुत् गणभाव का आश्रय लेकर रहते हैं—अर्थात् वे गणों में रहते हैं। हम इस पद को भी शोभार्थक 'श्री' शब्द के समास से बना हुआ मान सकते हैं। समास में 'श्री' को ह्रस्व छान्दस समझ लेना चाहिए। तब इसका भी यही अर्थ होगा कि मरुतों की शोभा गणों में रहने से होती है।

अब देखिये जो मरुत् न केवल मनुष्य हैं, प्रत्युत शूर-वीर पुरुष हैं, जिन्हें वेद क्षत्रिय भी कहता है और जो अकेले-दुकेले नहीं रहते प्रत्युत गणों अर्थात् समूहों में रहते हैं, जिनकी शोभा ही गणों में रहने से होती है, वे मरुत् कौन होंगे ? यह वर्णन स्पष्ट कह रहा है कि वे सैनिक हैं। सैनिक लोग ही गणों में रहा करते हैं, गणों में रहने के कारण इनकी शोभा निराली हुआ करती है।

मरुतों के एक स्थान में रहने वाले गण

इतना ही नहीं। मरुतों के गण तो होते ही हैं परन्तु मरुतों के ये गण रहते भी एक ही स्थान में हैं। कितने ही स्थानों में मरुतों को 'सनीळाः' (ऋग्० 1.165.1) कहा गया है। नीळ का अर्थ निघण्टु (3.4) में गृह किया गया है। सायण ने भी 'सनीळाः' का अर्थ 'समानस्थानाः' अर्थात् एक स्थान में रहने वाले ऐसा किया है। अब देखने की बात यह है कि मरुत् ऊपर के वर्णनानुसार एक तो गणों में रहते हैं, फिर गणों में होते हुए भी वे 'सनीळाः' अर्थात् एक घर में रहने वाले हैं। यह वर्णन और भी स्पष्ट कर देता है कि मरुत् सैनिक हैं। क्योंकि सैनिक लोग ही गणों में रहते हैं और फिर इनके गण के गण ही एक-एक गृह (बैरक=Barracks) में रहते हैं। सनीळता (बैरक) का जीवन सैनिकों का ही होता है।

इन्द्र अर्थात् सम्राट् के साथ मरुतों का घनिष्ठ सम्बन्ध

इस ग्रन्थ में पाठक निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वेद का इन्द्र अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् का वाचक है। वेद में इन्द्र सम्बन्धी स्थलों का वर्णन पढ़ते हुए हमारा ध्यान बलात् इस बात की ओर जाता है कि इन्द्र का मरुतों के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। जितना घनिष्ठ सम्बन्ध मरुतों का इन्द्र के साथ वेद में वर्णित हुआ है उतना वेद के और किसी देवता के साथ नहीं हुआ है। ऋग्वेद के लगभग 40 स्थलों में इन्द्र को 'मरुत्वान्' कहा गया है। यजुर्वेद में कोई 4 स्थलों में इन्द्र को 'मरुत्वान्' कहा गया है और अथर्ववेद में कोई 8 बार इन्द्र को 'मरुत्वान्' कहा गया है। मरुत्वान् का अर्थ होता है मरुतों वाला, जिसके पास मरुत् हों। इन्द्र का यह विशेषण बताता है कि उसके पास मरुत् रहते हैं।

इन्द्र के साथ मरुतों का सम्बन्ध केवल एक इसी 'मरुत्वान्' विशेषण द्वारा ही

नहीं बताया गया है और कई प्रकार से भी इन्द्र के साथ उनका सम्बन्ध वर्णित किया गया है। कितने ही स्थानों में इन्द्र को 'मरुद्गण' (ऋग्० 8.89.2) कहा गया है। मरुद्गण का अर्थ होता है—मरुत् हैं गण जिसके। जिसका स्पष्ट भाव है कि मरुतों के गण इन्द्र के गण हैं। उनके ऊपर इन्द्र का आधिपत्य है। कई स्थलों में 'माघोने मरुद्गणे' (ऋग्० 10.66.2) इस प्रकार के शब्द आते हैं जिनका अर्थ है कि मरुतों के गण मघवा अर्थात् ऐश्वर्यशाली इन्द्र के हैं। कितने ही स्थानों में 'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा' (ऋग्० 1.23.8) इस प्रकार के शब्द आते हैं। इनका भाव यह है कि मरुतों के गणों का इन्द्र ज्येष्ठ अर्थात् पूज्य और प्रधान है।

इसी भाँति अनेक स्थानों में इन्द्र को 'सगणो मरुद्भिः' (ऋग्० 3.47.2) ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इन्द्र मरुतों द्वारा सगण है। भाव यह है कि इन्द्र सगण है अर्थात् उसके पास गण रहते हैं, वह मरुतों द्वारा सगण है। तात्पर्य यह हुआ कि मरुत् इन्द्र के गण हैं।

कितने ही स्थानों पर इन्द्र को 'सजोषाः मरुद्भिः' इन शब्दों द्वारा वर्णित किया गया है। इनका अर्थ यह है कि इन्द्र मरुतों के साथ प्रीति रखने वाला है। भाव यह है कि इन्द्र को मरुतों के साथ प्रीति है और वह उन्हें अपने पास रखता है। कई जगह इन्द्र को 'मारुतेना गणेन सजोषाः' (ऋग्० 3.32.2) अर्थात् मरुतों के गण से प्रीति रखने वाला कहा गया है।

अनेक स्थानों पर इन्द्र को 'मरुत्सखा' (ऋग्० 8.76.2) विशेषण दिया गया है। इस विशेषण का भाव यह है कि मरुत् इन्द्र के मित्र हैं अथवा इन्द्र मरुतों का मित्र है। कोई अर्थ कर लें। इन्द्र और मरुतों का पारस्परिक सखिभाव इस विशेषण से स्पष्ट है। क्योंकि मरुत् इन्द्र के मित्र हैं इसलिए वह उनके बिना अकेला नहीं रह सकता इसलिए वह उन्हें अपने पास रखता है। कई जगह 'मरुद्भिः इन्द्र सखिभिः' (ऋग्० 3.51.8) इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा मरुतों को इन्द्र के सखि अर्थात् मित्र कहा गया है। इसी तरह 'विश्वे ते अत्र मरुतः सखायः' (ऋग्० 5.31.10) अर्थात् 'हे इन्द्र सब मरुत् तेरे सखा हैं' इस प्रकार के कथनों द्वारा मरुतों को इन्द्र का मित्र बताया गया है। कई जगह 'मरुद्भिः इन्द्र सख्यं ते अस्तु' (ऋग्० 8.96.7) इस प्रकार के कथनों द्वारा इन्द्र को उपदेश दिया गया है कि 'हे इन्द्र तुझे मरुतों के साथ सख्य अर्थात् मित्रता रखनी चाहिए।

इसी प्रकार कई स्थानों पर इन्द्र को कहा गया है कि 'भ्रातरो मरुतस्तव' (ऋग्० 1.170.2) अर्थात् 'हे इन्द्र मरुत् तुम्हारे भाई हैं।' तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमें अपने भाई प्यारे होते हैं और हम उन्हें अपने पास रखते हैं उसी प्रकार इन्द्र को मरुत् प्यारे हैं और वह उन्हें अपने पास रखता है।

कई स्थानों पर इस प्रकार के वर्णन आते हैं कि—

1. उग्रं मरुद्भिः इन्द्रम्। ऋग्० 10.126.5.
2. अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चित्। यजु० 33.64; ऋग्० 10.73.1.

3. ये ते शुष्मं तविषीमवर्धन् । ऋग्० 3.32.3.
4. इन्द्र मरुतस्त ओजः । ऋग्० 3.32.3.
5. इन्द्रस्य शर्धोः मरुतः । ऋग्० 3.32.4.
6. ये त्वामवर्धन्नभवन् गणस्ते । ऋग्० 3.35.9.
7. अदधुस्तुभ्यमोजः । ऋग्० 3.47.3.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

(1) इन्द्र मरुतों के कारण उग्र है। (2) मरुत् इन्द्र की वृद्धि करते हैं। (3) हे इन्द्र जो मरुत् तेरे महान् बल को बढ़ाते हैं। (4) हे इन्द्र मरुत् तेरे ओज हैं। (5) मरुत् इन्द्र के बल हैं। (6) हे इन्द्र जो मरुत् तेरी वृद्धि करते हैं और तेरे गण बनते हैं। (7) हे इन्द्र जो मरुत् तुझमें बल देते हैं।

इन प्रसंगों में मरुतों का इन्द्र के साथ इतना गहरा सम्बन्ध बताया गया है कि इन्द्र का बल ही मरुत् हैं, उसकी शक्ति ही इनके कारण है।

कई जगह 'इन्द्रवन्तो मरुतः' (ऋग्० 10.128.2) अर्थात् 'मरुत् इन्द्र वाले हैं' ऐसा कहकर इन्द्र और मरुतों का सम्बन्ध बताया गया है। मरुतों को इन्द्र वाले कहने का अभिप्राय है कि मरुत् विना इन्द्र के नहीं रहते। इन्द्र ही उन्हें रखता है।

ये कुछ थोड़े से नमूने उपस्थित किये गये हैं और भी अनेक प्रकार से वेद में इन्द्र और मरुतों का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। इन्द्र और मरुतों का सम्बन्ध बताने वाले जो विशेषण और वाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं उनके उदाहरण के लिए केवल एक-एक प्रतीक दे दी गई है। वेद में इनकी कितनी ही बार प्रसंगानुसार आवृत्ति हुई है।

अब जो मरुत् शूर-वीर पुरुष हैं, गणों में रहने वाले हैं, जिनके गण के गण एक-एक घर में रहते हैं और जिनका इन्द्र अर्थात् सम्राट् के साथ गहरा सम्बन्ध है, जिन्हें सम्राट् के गण कहा गया है तथा जिन्हें सम्राट् के बल बताया गया है, वे मरुत् सैनिक के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते।

मरुतों के शस्त्रास्त्र

इतना ही नहीं मरुतों के भाँति-भाँति के शस्त्रास्त्रों का भी वर्णन आता है। उदाहरण के लिए कुछ मन्त्र देखिये :—

1. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। ऋग्० 1.39.2.
2. अस्तार इषुम्। ऋग्० 1.64.10.
3. मरुतो भ्राजदृष्टयः। ऋग्० 1.64.11.
4. धमन्तो वाणं मरुतः। ऋग्० 1.85.10.
5. ते वाशीमन्तः। ऋग्० 1.87.6.
6. अयोदंष्ट्रान्। ऋग्० 1.88.5.

7. ऋञ्जती शरु:····अश्मा । ऋग्० 1.172.2.

8. वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिण: सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिण: ।
स्वश्वा: रथ सुरथा: पृश्निमातर: स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ।
ऋग्० 5.57.2.

9. स्थिरा धन्वान्यायुधा । ऋग्० 8.20.12.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

(1) हे मरुतो शत्रुओं को मार भगाने के लिए तुम्हारे शस्त्र (आयुधा) स्थिर हों, उन्हें रोकने के लिए तुम्हारे शस्त्र दृढ़ हों । (2) ये मरुत् वाण फेंकते हैं । (3) ये मरुत् ऋष्टि नामक चमकीले शस्त्रों वाले हैं । (4) ये बाणों को इस प्रकार फेंकते हैं कि वे शब्द करते हुए जाते हैं । (5) उनके पास वाशी नामक शस्त्र हैं । (6) इन मरुतों की दंष्ट्राएँ लोहे की हैं । मन्त्र में वर्णित लोहे की दंष्ट्राएँ शास्त्रों की वाचक हैं । यों किसी की लोहे ही दाढ़ें नहीं हो सकती । (7) मरुतों के पास चमकीले और सधे हुए अर्थात् तीक्ष्ण (ऋञ्जती) शरु और अश्मा नामक शस्त्र हैं । (8) वाशियों वाले, ऋष्टियों वाले, उत्तम धनुषों वाले, बाणों वाले, निषंगों वाले, और भी उत्तम शस्त्रों वाले, हे बुद्धिमान् मरुतो तुम अपनी मातृभूमि को माता समझने वाले हो, उत्तम घोड़ों और रथों वाले हो, तुम शुभ गति से चलो । (9) इनके धनुष और अन्य शस्त्र स्थिर हैं, दृढ़ हैं ।

ऊपर के सन्दर्भों में वर्णित बातों से युक्त तथा शस्त्रास्त्र धारण करने वाले मरुत् सैनिक ही हो सकते हैं यह पाठकों को भली-भाँति स्पष्ट हो गया होगा ।

सम्राट् मरुतों की सहायता से शत्रुओं को जीतता है

वेद में ऐसे वर्णन आते हैं जिनमें कहा गया है कि इन्द्र (सम्राट्) मरुतों की सहायता से अपने शत्रुओं को जीतता है । कुछ उदाहरण नीचे देखिये :—

1. चर्क्रत्यं मरुत: पृत्सु दुष्टरं द्युमन्तं शुष्मं मघवत्सु धत्तन ।
ऋग्० 1.64.14.

2. त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन् भवा मरुद्भिरवयातहेळा: सुप्रकेतेभि: ।
ऋग्० 1.171.6.

3. सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भि: सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ।
जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाऽथाभयं कृणुहि विश्वतो न: ।।
ऋग्० 3.47.2.

4. मरुद्भिरुग्र: पृतनासु साळ्हा । ऋग्० 7.56.23.

5. युष्मोत: सम्राळुत हन्ति वृत्रं । ऋग्० 7.58.4.

6. तिग्ममायुधं मरुतामनीकं कस्त इन्द्र प्रति वज्रं दधर्ष ।
ऋग्० 8.96.9.

7. यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आदित् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ऋग्० 8.12.29.

8. ये त्वाऽहिहत्ये मघवन्नवर्धन् । यजु० 33.63; ऋग्० 3.47.4.

9. इन्द्र आसां नेता ... देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ।
यजु० 17.40; अथ० 19.13.9; ऋग्० 10.103.8.

10. प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु । यजु० 17.46.

11. इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा । अथ० 3.1.6.

12. यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीन शत्रून् ।
अथ० 5.21.11.

13. मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ।
ऋग्० 8.96.7.

14. न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति ।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥
ऋग्० 5.54.7.

इनका अर्थ क्रम से निम्न प्रकार है :—

(1) हे मरुतो ऐश्वर्यशाली इन्द्र में (मघवत्सु) ऐसा बल दो जो अनेक भाँति के कर्म करा सके (चर्कृत्यं), तेजस्वी हों, जो युद्धों में (पृत्सु) दुर्जेय हो । (2) हे इन्द्र (सम्राट्) तू अपने क्रोध या लापरवाही को दूर करके (अवयातहेळाः) उत्तम ज्ञानी अपने मरुतों द्वारा हम सहनशील लोगों की शत्रुओं से रक्षा कर । (3) हे अवरोधक शत्रुओं को मारने वाले शूर और विद्वान् इन्द्र (सम्राट्) तू हमसे सोम अर्थात् करादि रूप ऐश्वर्य का पान कर, मरुतों से प्रीति करने वाला और मरुतों के गण रखने वाला हो, और उनकी सहायता से शत्रुओं को मार दे तथा हिंसा करने वाली उनकी सेनाओं को मार भगा और हमारे लिए सब ओर से अभय कर दे । (4) उग्र सम्राट् मरुतों द्वारा युद्धों में शत्रुओं का पराभव करता है । (5) हे मरुतो तुम्हारे द्वारा रक्षित सम्राट् (सम्राट्) अवरोधक शत्रु को (वृत्रं) मार डालता है । (6) हे इन्द्र मरुतों की सेना (अनीकं) तुम्हारा तीक्ष्ण हथियार है, तुम्हारे वज्र को कौन रोक सकता है । (7) हे इन्द्र (सम्राट्) जब मरुतों की प्रजाएँ (मारुतीः विशः)[1] अर्थात् मरुतों की सेनाएँ तुम्हारे लिए शत्रुओं का नियमन कर देती हैं (नियेमिरे) तब सब ही लोक तुम्हारे द्वारा वश में कर लिये जाते हैं (येमिरे) । (8) जो मरुत् हे इन्द्र अवरोधक शत्रु को मारने के कर्म में तुम्हें बढ़ाते हैं । (9) इन विजिगीषु सेनाओं का (देवसेनानां) इन्द्र नेता है, शत्रुओं को तोड़ती हुई और जीतती हुई इन सेनाओं के मरुत् आगे चलें । (10) हे नर मरुतो आगे बढ़े चलो, विजय करो, इन्द्र तुम्हें सुख-शांति देवे । (11) इन्द्र शत्रुओं की सेनाओं को मूढ बना देवे और मरुत् अपने बल से उन्हें मार डालें । (12) भूमि को माता समझने वाले हे उग्र मरुतो तुम इन्द्र से मिलकर शत्रुओं

[1] सर्वत्रानवरुद्धप्रवेशा मरुतां सेनाः । प्रजावाचको विट्शब्दोऽत्र सेनार्थे पर्यवसीयते ।

को मार डालो। (13) हे इन्द्र तेरा मरुतों के साथ सखिभाव रहे और फिर तू इनकी सहायता से शत्रुओं की सब सेनाओं को (पृतना) जीत ले। (14) हे मरुतो जिस ऋषि को अथवा राजा को (राजानं) तुम अपनी सहायता से शुभ कर्मों में प्रेरित करते हो वह जीता नहीं जा सकता, मारा नहीं जा सकता, क्षीण नहीं होता, पीड़ित नहीं होता, हिंसक नहीं होता, न उसके धन क्षीण होते हैं और न उसकी रक्षाएँ क्षीण होती हैं।

ऊपर के संदर्भों में वर्णित तथा जिनकी सहायता से सम्राट् शत्रुओं को जीतता है ऐसे मरुत् सैनिक ही हो सकते हैं। पाठक यह भी देखें कि अभी ऊपर उद्धृत मन्त्रों में से ऋग्० 7.58.4. और ऋग्० 5.54.7. में सम्राट् के लिए लौकिक संस्कृत में भी प्रयुक्त होने वाले 'सम्राट्' और 'राजा' शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। यों इन्द्र शब्द तो सम्राट् का वाचक है ही।

मरुत् श्रेणीबद्ध होकर चलते हैं

ऋग्० 5.59.7 में मरुतों के सम्बन्ध में निम्न वर्णन आता है—

वयो न ये श्रेणीः पप्तुः।

अर्थात्—'जो मरुत् पक्षियों की भाँति पंक्तियाँ बाँध कर चलते हैं।'

मरुतों के ऊपर के वर्णनों के साथ जब हम इस वर्णन को मिलाकर पढ़ते हैं तो उनके सैनिक होने में जरा भी सन्देह नहीं रह जाता। क्योंकि शूर-वीर, गुणों में रहने वाले, शस्त्रास्त्रधारी, राजा से सम्बन्ध रखने वाले और राजा को युद्धों में विजय दिलाने वाले, और श्रेणियों में बँधकर चलने वाले पुरुष सैनिक ही हो सकते हैं।

मरुतों की सेनाएँ

इतना ही नहीं। वेद में मरुतों की सेनाओं का वर्णन भी हुआ है। देखिये—

1. मरुतामनीकम्। — ऋग्० 1.168.9.
2. मरुतामनीकम्। — ऋग्० 6.47.28.
3. मरुतामनीकम्। — ऋग्० 8.96.9.
4. वो ऽनीकेष्वधि श्रियः। — ऋग्० 8.20.12.
5. महिवरूथम्। — ऋग्० 2.34.14.
6. बृहद् वरूथं मरुतां देवं त्रातारम्। — ऋग्० 8.18.20.
7. मारुतं शर्ध आ गमद्‌...वरूथ्यम्। — ऋग्० 5.46.5.
8. मरुतामनीकम्। — यजु० 29.54.
9. तिग्ममनीकं....मारुतम्। — अथ० 4.27.7.
10. मरुतामनीकम्। — अथ० 6.125.3.

इन दस वाक्यों में से प्रथम तीन और अन्तिम तीन इन छः वाक्यों में मरुतों के 'अनीक' का उल्लेख है। अनीक का अर्थ सेना की एक टुकड़ी होता है। इसीलिये संस्कृत में सेना को 'अनीकिनी' कहते हैं। क्योंकि सेना बहुत से अनीकों अर्थात् समूहों या टुकड़ियों से मिलकर बनी होती है। जब सेनाएँ श्रणी बाँधकर खड़ी होती हैं तो उनकी एक-एक श्रेणी या पंक्ति को भी अनीक कहते हैं। 'मरुतों के अनीक' कहने का स्पष्ट अर्थ यह है कि मरुत् सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियों या श्रेणियों में बँटे होते हैं। यह ठीक है कि वेद में अनीक के बल, तेज, मुख आदि और भी कई अर्थ होते हैं परन्तु सेना की टुकड़ी या श्रेणी अर्थ में भी वेद में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद के निम्न मन्त्र देखिये—

1. तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः। अथ० 5.21.8.
2. ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ अथ० 5.21.9.

अर्थात्—(1) इन्द्र (सम्राट्) के उन पदघोषों से हमारे वे शत्रु डर जायें जो अनीक बनाकर (अनीकशः) चल रहे हैं। (2) शत्रुओं की पराजित सेनाएँ अनीक बनाकर जिन दिशाओं में भाग रही हैं उनमें हमारे धनुषों और दुन्दुभियों के नाद बज उठें।

इन मन्त्रों में सेनाओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ यह 'अनीकशः' शब्द स्पष्ट सूचित करता है कि अनीक का एक अर्थ वेद में सेनाओं की टुकड़ियों या श्रेणियाँ भी होता है। सामान्य संस्कृत में तो अनीक का यह अर्थ होता ही है। मरुतों का वेद में जिस प्रकार का वर्णन पाया जाता है, जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर के पृष्ठों में कराया गया है, वह यहाँ अनीक का अर्थ सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियों या पंक्तियाँ ही करने के लिए हमें बाधित करता है। जब मरुत् सेनाओं की टुकड़ियों में रहते हैं तो वे स्पष्ट ही सैनिक हुए।

ऊपर उद्धृत 10 मन्त्रों से शेष 4 मन्त्रों में मरुतों के 'वरूथ' का उल्लेख है। इनमें से तीन में तो सीधा ही वरूथ शब्द आया है। एक में मरुतों के बल को 'वरूथ्य' अर्थात् वरूथ में होने वाला कहा है। अब, 'वरूथ' भी सेनाओं के छोटे-छोटे समूहों को कहते हैं। यह शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से बनता है। सेना के छोटे-छोटे समूहों को वरूथ इसलिये कहते हैं क्योंकि सैनिक लोग अपनी योग्यतानुसार इनका वरण करते हैं। योग्यतानुसार कोई किसी समूह या टुकड़ी का सैनिक बनता है और कोई किसी का। वरूथ के सेनाखण्ड का वाचक होने के कारण ही संस्कृत में सेना को 'वरूथिनी' कहा जाता है। क्योंकि वह अनेक वरूथों या टुकड़ियों से मिलकर बनी होती है। जब मरुत् सेनाओं के वरूथों में रहते हैं तो वे स्पष्ट ही सैनिक हुए।

इतना ही नहीं। वेद में मरुतों की सेनाओं का भी वर्णन आता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. मरुतो वृद्धसेनाः। ऋग्० 1.186.8.

2. एषां····विश्वमेरिणं प्रुषायन्त सेनाः। ऋग्० 1.186.9.
3. देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्।
यजु० 17.40; ऋग्० 1.103.8.
4. मरुतो यन्तु सेनया। अथ० 3.19.6.

इनका शब्दार्थ निम्न है—

(1) ये मरुत् बड़ी-बड़ी सेनाओं वाले हैं अर्थात् ये मिलकर बड़ी-बड़ी विशाल सेनाएँ बनाते हैं। (2) इन मरुतों की सेनाएँ सम्पूर्ण शत्रु प्रदेश को जलाकर ऊजड़ कर देती है (इरिणं[1] प्रुषायन्त) (3) शत्रुओं को तोड़ती और जीतती हुई विजयशील सेनाओं के आगे मरुत् चलते हैं अर्थात् मरुत् विजयशील सेनाएँ बनकर आगे-आगे चलते हैं। (4) मरुत् सेना रूप से (सेनया) चलें।

जब मरुतों की सेनाएँ हैं तो उनके सैनिक होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता।

मरुतों की सैनिक वेश-भूषा

वेद में मरुत् का अर्थ सैनिक है यह पाठकों ने ऊपर के पृष्ठों में असंदिग्ध रूप में देख लिया है। अब इसे सिद्ध करने के लिए और अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर फिर भी पाठकों के मन में मरुत् के सैनिक अर्थ को बद्धमूलता से अंकित करने के लिए हम नीचे कुछ वेद मन्त्र उद्धृत करके उनका अर्थ देते हैं। पाठक देखें इनमें मरुतों का चित्र कितना स्पष्ट एक सैनिक का चित्र है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षः सुरुक्माँ अधि येतिरे शुभे।
असेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः····॥ ऋग्० 1.64.4.
2. यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः। ऋग्० 1.85.3.
3. अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्रा इव स्तृभिः। ऋग्० 1.87.1.
4. भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे॥
ऋग्० 1.166.10.
5. महान्तो मह्ना विभ्वो विभूतयो दूरेदृशो ये दिव्या इव स्तृभिः।
मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितारः आसभि संमिश्ला इन्द्रे मरुतः परिष्टुभः॥
ऋग्० 1.166.11.
6. ऐषामंसेषु रंभिणीव रारभे हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च सं दधे।
ऋग्० 1.168.3.
7. ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु।
श्राया रथेषु धन्वसु॥ ऋग्० 5.53.4.

[1] इरिणं यथास्यात् तथा प्रुषायन्त प्रोषन्ति दहन्ति।

8. अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ।।
ऋग्० 5.54.11.

9. प्रयज्यवो मरुतो भ्राजदृष्टयो बृहद् वयो दधिरे रुक्मवक्षसः ।
ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ।।
ऋग्० 5.55.1.

10. गणं पिष्टं रुक्मेभिरञ्जिभिः । ऋग्० 5.56.1.

11. ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ।।
ऋग्० 5.57.6.

12. अंसेष्वा मरुतः खादयो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः ।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः ।।
ऋग्० 7.56.13.

13. स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ।
ऋग्० 7.56.11.

14. नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः ।
आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः समानमञ्ज्यञ्जते शुभे कम् ।।
ऋग्० 7.57.3.

15. समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु ।
दविद्युतत्यृष्टयः ।। ऋग्० 8.20.11.

16. व्रातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः ।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः ।।
ऋग्० 5.57.4.

इनका शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) अपने शरीर को शोभा के लिए ये मरुत् विचित्र-विचित्र प्रकार की (चित्रैः) अञ्जियों (अञ्जिभिः) से शोभित हैं (व्यञ्जते), अपने को शोभित करने के लिए इन्होंने अपनी छातियों पर रुक्म (रुक्मान्) धारण किये हुए हैं (येतिरे)[1], इनके कंधों पर ऋष्टि नामक शस्त्र चमक रहे हैं (निमिमृक्षुः) ।

'अञ्जि' शब्द 'अञ्जू' धातु से बनता है जिसका एक अर्थ 'व्यक्ति' अर्थात् प्रकट करना, प्रकाशित करना, औरों से पृथक् करके दिखाना होता है । इसलिए 'अञ्जि' वे आभूषण या चिह्न होंगे जिनके पहनने से झट पता लग जायेगा कि ये मरुत् अमुक सेना के हैं, और ये अमुक सेना के । यहाँ 'अञ्जि' के 'चित्रैः' विशेषण पर भी ध्यान देना चाहिए । इसका अर्थ है कि विचित्र-विचित्र प्रकार के । सेना के सैंकड़ों छोटे-छोटे समुदाय होते हैं । प्रत्येक समुदाय के सैनिकों के अपने-अपने विशेष आकृति

[1] उपरि चक्रिरे इति सायणः ।

के 'अञ्जि' होंगे। इसलिये ये विचित्र-विचित्र प्रकार के होंगे ही। यहाँ 'अञ्जि' धारण करने के लिए 'व्यञ्जते' क्रिया का प्रयोग हुआ है। जिसका अभिप्राय है कि विभिन्न सेना-समुदायों के मरुत् अपने-अपने विशेष अञ्जि पहन कर अपने को 'व्यक्त' कर रहे हैं कि वे अमुक-अमुक विभागों का गणों से सम्बन्ध रखते हैं।

'रुक्म' शब्द 'रुच्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ दीप्त होना, चमकना, शोभित होना, होता है। इसलिये 'रुक्म' वे आभूषण या चिह्न होंगे जिनके पहनने से कोई सैनिक विशेष रूप में चमक उठे, उसकी विशेष शोभा बढ़ जाये। इससे यह प्रतीत होता है कि विशेष योग्यता रखने वाले मरुतों को विशेष रूप से शोभित या आदर-युक्त करने के लिए जो सैनिक-आभूषण या चिह्न पहनाये जाते हैं उन्हें रुक्म कहते हैं। दूसरों शब्दों में जो सैनिक अपने गण में अधिकार के पद पर होंगे या जो कोई विशेष वीरता या कौशल का कर्म करेंगे उन्हें धारण करने के लिए दिये जाने वाले चिह्न 'रुक्म' कहलायेंगे। 'रुक्म' का अर्थ सुवर्ण भी होता है। इससे रुक्म पद से यह भी ध्वनित होता है कि ये विशेष आदर के चिह्न सुवर्ण आदि चमकीली और बहुमूल्य धातुओं के बने होने चाहिए जिससे इनके पहनने वाले खूब प्रभावशाली लग सकें, जोकि इन्हें पहनाने का उद्देश्य है। इस प्रकार 'अञ्जि' का अर्थ सैनिकों के 'गण चिह्न' और 'रुक्म' का अर्थ 'अधिकार-चिह्न' समझना चाहिए। अञ्जि और रुक्म के अर्थों के सम्बन्ध में इतना लिखकर अब अगले मन्त्रों का अर्थ लिखते हैं—

(2) ये मरुत् जोकि अंजियों से शोभित हो रहे हैं और अपने शरीरों पर रुक्म (विरुक्मतः)[1] धारण किये हुए हैं। (3) ये मरुत् अञ्जियों से अभिव्यक्त हो रहे हैं (व्यानज्रे), इनमें किन्हीं के अंजि सूर्य किरणों की भाँति लम्बे-लम्बे हैं (उस्रा इव) और किन्हीं के अंजि तारों की भाँति हैं (स्तृभिः)[2]।

यहाँ अञ्जियों को सूर्य किरणों और नक्षत्रों से उपमा देकर यह संकेत किया गया है कि किस प्रकार आवश्यकतानुसार भाँति-भाँति के गण-चिह्न बनाये जा सकते हैं।

(4) इन मरुतों की मनुष्यों की हितकारी (नर्येषु) भुजाओं में अनेक मंगलकारी कर्म हैं, इनकी छातियों पर चमकीले रुक्म हैं, इनके कंधों पर अंजियाँ हैं, इनके वज्र जैसे तीखे शस्त्रों में (पविषु) श्वेत (एताः)[3] तीखी धारें (क्षुराः) हैं, इन्होंने अंग-अंग में शोभा धारण कर रखी है जैसे पक्षी पंखों को धारण करते हैं। (5) ये मरुत् अपनी महिमा से महान् हैं, महान् विभूति वाले हैं, आकाश के तारों की भाँति (दिव्या इव स्तृभि), ये दूर से ही अपने चिह्नों से दिखाई देते हैं, आनन्दित करने वाले हैं, उत्तम जिह्वाओं वाले हैं, मुखों से उत्तम वचन बोलने वाले हैं, ये इन्द्र के साथ मिले रहते हैं, और ये स्तुति करने योग्य गुणों वाले हैं (परिष्टुभः)। (6) इनके कंधों पर लटके हुए

[1] विशिष्टा रुक् विरुक् तद्वन्तो विरुक्मन्तस्तान् विरुक्मतः रुक्मानिति यावत्।

[2] स्तृभिरिति नक्षत्राणाम्। नि० 3.4.20.

[3] शुभ्रवर्णा इति सायणः।

शस्त्र रंभाने वाली गौ की भाँति (रंभिणीव) शब्द कर रहे हैं (रारभे)[1], इनके हाथों में हस्तत्राण (खादि) ओर काटने वाली तलवार (क्रति) है। (7) ये तेजस्वी मरुत् जोकि अंजियों का, वाशी नामक शस्त्रों का, मालाओं का, रुक्मों का, खादि नामक हाथ और पैर में पहनने के रक्षा साधनों का, रथों का और धनुषों का आश्रय लेते हैं (श्राया:)[2]। यहाँ मालाओं से तात्पर्य सैनिकों द्वारा पहनी जाने वाली धातुओं की बनी जंजीरों से है। ये जंजीरें भी भेदक चिह्न होती हैं।

(8) हे मरुतो तुम्हारे कंधों पर ऋष्टि नामक शस्त्र हैं, पैरों में खादि हैं, छातियों पर रुक्म हैं, तुम्हारे रथों में शोभाजनक उपकरण हैं (शुभ:), तुम्हारे हाथों में (गभस्त्यो:) अग्नि की भाँति चमकने वाले विद्युत् से संचालित अथवा विद्युत् की तरह तेजी से गिरने वाले शस्त्र हैं, तुम्हारे सिरों पर सुवर्ण सज्जित पगड़ियाँ या टोपियाँ हैं। (9) ये मरुत् मिलकर काम करने वाले (प्रयज्यव:) हैं, इनके पास चमकती हुई ऋष्टियाँ हैं, ये बड़ी आयु धारण करते हैं अथवा खूब अन्न खाते हैं (बृहद्वय:)[3] इनकी छातियों पर रुक्म हैं, ये शीघ्रगामी और सधे हुए (सुयमेभि:) घोड़ों पर चलते हैं, शोभन गति से चलने वाले इनके पीछे रथ चलते हैं।

यहाँ अश्वारोही सेना और रथारोही सेना के साथ-साथ चलने की ओर निर्देश है।

(10) इन मरुतों का गण रुक्मों और अंजियों से शोभित है। (11) हे मरुतो तुम्हारे कंधों पर ऋष्टियाँ हैं, तुम्हारी भुजाओं में ओज और बल है, तुम्हारे सिरों पर सुवर्णादि सज्जित पगड़ियाँ अथवा टोपियाँ (नृम्णा)[4] हैं, तुम्हारे रथों में शस्त्रास्त्र रखे हैं, तुम्हारे शरीरों में सम्पूर्ण शोभा है। (12) हे मरुतो तुम्हारे कंधों पर उनकी रक्षा के लिए खादियाँ हैं, छातियों पर रुक्म लगे हैं, विद्युत् जैसे वृष्टियों से शोभित होती हैं वैसे ही तुम शस्त्रास्त्रों से शोभित होते हो और उनकी सहायता से तुम प्रजाओं के भक्षणीय अन्न को (स्वधां) वश में रखते हो अथवा देते हो (अनुयच्छमाना:)। (13) ये मरुत् उत्तम शस्त्रास्त्रों वाले हैं, चेष्टाशील हैं (इष्मिण:) सुन्दर निष्क धारण करते हैं, और इस प्रकार अपने शरीरों की शोभित करते हैं।

निष्क सुवर्ण की बनी गोल मुद्रा (सिक्का) को कहते हैं। यहाँ इसका अभिप्राय सैनिकों द्वारा धारण किये जाने वाले सुवर्णादि निर्मित गोलाकृति के चिह्नों से है। लम्बी रेखा रूप, नक्षत्राकार, जंजीर रूप चिह्नों का वर्णन पीछे आ चुका है। यहाँ गोलाकार चिह्नों की ओर निर्देश है।

(14) इतने और लोग शोभा नहीं पाते हैं जितने कि ये मरुत् रुक्मों से, शस्त्रास्त्रों से और अपने शरीरों से शोभा पाते हैं, ये सब प्रकार के रूपों वाले

[1] रभि शब्दे। छान्दसो नुमभाव:।
[2] आश्रयभूता: सन्तीति सायण:।
[3] बृहत् प्रभूतं वयो यौवन-लक्षणं प्रभूतमन्नं वेति सायण:।
[4] हिरण्यमयानि पट्टोष्णीपादीनि—सायण:।

(विश्वपिश:) अपने रूपों से द्युलोक और पृथिवीलोक को शोभित कर देते हैं, ये अपनी शोभा के लिए एक समान अंजियाँ धारण करते हैं।

एक समान अंजियों का अभिप्राय अपने-अपने गण की अंजियों से है।

(15) इनकी समान अंजियाँ हैं और इनकी भुजाओं पर रुक्म चमक रहे हैं, इनकी ऋष्टियाँ भी चमक रही हैं। (16) ये मरुत् वायु की तरह दीप्ति वाले अर्थात् वायु की तरह तीव्रगामी हैं, वर्षा से धुले हुए की तरह स्वच्छ शरीर वाले हैं, ये सुन्दर रूप वाले जुड़वाँ भाइयों की तरह एक जैसे दीखते हैं, इनके घोड़े भूरे और लाल रंग के हैं, इनके जीवन निष्पाप हैं, इनमें प्रकृष्ट वल है या ये शत्रुओं के छेदक हैं (प्रत्वक्षस:), अपने महिमाशाली गुणों से ये द्युलोक की तरह विस्तीर्ण हैं।

सैनिक लोग एक रंग के, एक आकृति के वस्त्र पहनते हैं, एक जैसे उनके शस्त्रास्त्र होते हैं, और अपने अपने गण के अनुसार उनके एक ही जैसे चिह्नाभूपण होते हैं। इसलिये वे देखने वाले को सबके सब एक जैसे लगते हैं जैसे कि जुड़वाँ भाई एक जैसे दीखा करते हैं। इसलिये मरुतों को 'यमा इव सुसदृश:'—जुड़वाँ भाइयों की भाँति एक जैसे दीखने वाले—कहा गया है। इस उपमा द्वारा वेद ने यह भी संकेत कर दिया है कि सैनिकों की सब साज-सज्जा एक समान होनी चाहिए।

क्या मरुतों का यह सैनिक रूप देखकर कोई कह सकता है कि वे सैनिक नहीं हैं?

मरुत् वायु के अधिष्ठात्री-देवता नहीं

जो लोग वेद के मरुत्सूक्तों में मरुत् का अर्थ वायु अथवा वायु के अधिष्ठातृ-देव-विशेष करते हैं। उनका मत कितना भ्रान्त है यह ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। इन प्रकरणों में मरुत् का अर्थ सामान्य वायु तो किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। ये लोग वायु के अधिष्ठातृ-देव-विशेष इस शब्द का अर्थ करने का आग्रह करेंगे उन्हें भी मरुतों के सम्पूर्ण वर्णन इन देव-विशेषों पर लगा सकने असंभव होंगे। विशेषकर मरुतों के लिए प्रयुक्त होने वाले मनुष्यवाची नामों और मरुतों की मृत्यु के वर्णन को इन देव-विशेषों पर कभी नहीं घटाया जा सकता।

मरुत् मनुष्यों से युद्ध करते हैं

इसी प्रसंग में मरुतों के एक और विशेषण को हम पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। वह विशेषण है—

मानुषप्रधना:।

ऋग्० 1.52.9.

इस विशेषण का अर्थ है—जिनके युद्ध मनुष्यों के साथ होते हैं। अब जिनके युद्ध मनुष्यों के साथ होंगे वे स्वयं भी मनुष्य ही होंगे। कल्पित देवताओं के युद्ध तो

मनुष्यों के साथ कभी नहीं होते। उनके युद्ध तो कल्पित असुर-राक्षसों के साथ ही होते हैं। जिस मन्त्र में यह विशेषण आया है उसी में मरुतों को 'नृषाचः' अर्थात् 'मनुष्यों के साथ मिलकर रहने वाले' भी कहा है। इस विशेषण की ओर हम ऊपर भी पाठकों का ध्यान खींच चुके हैं, अब जो मरुत् मनुष्यों से मिलकर रहते हैं वे मनुष्य ही हो सकते हैं, कल्पित देव-विशेष नहीं।

मरुतों पर मनुष्य सेना लेकर चढ़ाई करते हैं

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखिये—

ये मर्त्यं पृतनायन्तमूमैः····पतयन्त सर्गैः।

ऋग्० 1.169.7.

इसका अर्थ है—'जो सेनाओं द्वारा आक्रमण करने वाले (पृतनायन्तं)[1] मनुष्य पर (मर्त्यं)[2] अपने रक्षा-साधनों से (ऊमैः) युक्त होकर, अपने शास्त्रों से (सर्गैः)[3] आक्रमण करते हैं (पतयन्त)।' अब मरुतों पर मनुष्यों का सेना लेकर चढ़ाई करना और मरुतों का मनुष्यों की इन सेनाओं से लड़ना स्पष्ट द्योतित करते हैं कि ये मरुत् भी मनुष्य ही हैं जिनसे कि दूसरे मनुष्य सेना लेकर लड़ाई करने आते हैं। स्वर्ग विशेष में रहने वाले देवताओं पर तो मनुष्य-सेनाएँ कभी चढ़ाई नहीं कर सकतीं।

प्रजा मरुतों के कारण सुवीर बनती है

इसी सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखिये—

सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु सनात् सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम्।

ऋग्० 7.56.5.

अर्थात्—'जिस प्रजा में मरुत् रहते हैं वह प्रजा (विट्) मरुतों के कारण (मरुद्भिः) उत्कृष्ट वीरों वाली (सुवीरा) बन जाती है, और चिरकाल तक (सनात्)[4] शत्रुओं का पराभव करती हुई ऐश्वर्य की (नृम्णं) पुष्टि प्राप्त करती रहती है।'

प्रजाओं का मरुतों के कारण सुवीरा बनना स्पष्ट सिद्ध करता है कि मरुत् प्रजाओं में रहने वाले प्रजाओं के ही आदमी हैं। उनसे बाहर के देव-विशेष नहीं हैं।

राजा के सहायक मरुत्

इसी सम्बन्ध में अधोलिखित मन्त्र भी देखिये—

1. यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्। ऋग्० 5.54.14.

[1] पृतना आत्मन इच्छन्तं वैरिणमिति सायणः।

[2] मरणधर्माणमिति सायणः।

[3] सृष्टैः स्वकीयप्रहारविशेषैरिति सायणः।

[4] चिरादिति सायणः।

2. यूयं राजानमियँ जनयथा। ऋग्० 5.58.4.

अर्थात्—(1) हे मरुतो तुम राजा को सुखयुक्त बनाकर रखते हो। (2) हे मरुतो तुम राजा को अपने शत्रुओं को भगाने वाला (इयँ)[1] बनाते हो।

जो मरुत् राजा की सहायता करके उसे सुखी रखते हैं और जिनकी सहायता से राजा अपने शत्रुओं को भगाता है वे राजा के सहायक मरुत् राजा जैसे मनुष्य ही हो सकते हैं। स्वर्ग के देवता किसी राजा के शत्रुओं को मारने के लिए उसकी सेनाओं में भर्ती नहीं हो सकते। सम्राट् मरुतों की सहायता से शत्रुओं का पराभव करता है इस सम्बन्ध में पाठक ऊपर देख आये हैं।

वायु के से शीघ्रगामी मरुत्

मरुत् वायु अथवा वायु के देवता-विशेष नहीं हो सकते इस विषय में पाठक जरा निम्न वर्णनों पर भी दृष्टिपात करें। वेद में कई स्थानों पर मरुतों के लिए—

वातत्विषः।

ऋग्० 5.54.3; 5.57.4.

इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ होता है, वायु की तरह दीप्ति वाले। अब, वायु में दीप्ति तो होती नहीं। इसलिये लक्षणा से इस विशेषण में का 'त्विष्' शब्द दीप्ति का वाचक न रहकर वायु की तीव्र गति का वाचक हो जाता है। इसलिए 'वातत्विष' का अर्थ हुआ वायु की भाँति तीव्रगामी। ग्रिफिथ ने भी अपने इंग्लिश अनुवाद में इस शब्द का यही अर्थ किया है। परन्तु श्री सायण ने वायु में दीप्ति की संगति होती न देखकर यहाँ वायु-वाची 'वात' शब्द का ही अर्थ बदल दिया है। उन्होंने 'वातत्विषः' का अर्थ कर दिया है, 'प्राप्तत्विषः' अर्थात् दीप्ति वाले, तेजस्वी। श्री सायण की यह सरासर ज्यादती है। क्योंकि मरुतों की तेजस्विता को बताने के लिए मन्त्रों में 'विद्युन्महसः' और 'महिना द्यौरिवोरवः' पद आ चुके हैं जिनका अर्थ है 'विद्युत् की तरह तेजस्वी' 'द्युलोक, सूर्य अथवा प्रकाश की भाँति महान् महिमा वाले।' इसलिये उन्हें वायु में प्रसिद्धार्थक 'वात' शब्द का अर्थ बदलने का कोई अधिकार नहीं था, जबकि ऐसा करने से अर्थ में कोई विशेषता भी उत्पन्न नहीं होती। कोई चमत्कार भी नहीं आता।

अब 'वातत्विषः' का अर्थ हुआ वायु की तरह तीव्रगामी। यदि मरुत् वायु की भाँति तीव्रगामी हैं तो वे वायु नहीं हो सकते। वायु वायु की तरह तीव्रगामी है इस कथन का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। इसलिये उपमेय मरुत् उपमान वायु से भिन्न होना चाहिए। मरुत् का अर्थ यदि वायु के अधिष्ठाता देव करें तो भी कुछ बात नहीं बनती भला जो मरुत् वायु के देवता हैं, जिनके कारण ही साधारण वायु की स्थिति है, जिनके कारण ही वायु में गति है, एक शब्द में जिनके कारण ही वायु का वायु-रूप

[1] शत्रूणां प्रेरकं च्यावयितारमिति सायणः।

है, उन मरुतों के विषय में यह कहना कि वे वायु की भाँति तीव्रगामी हैं, यह कुछ बनता नहीं है। मरुतों के वायु से सर्वथा भिन्न होने की अवस्था में ही इस उपमा में स्वारस्य रहता है। इसलिए मरुत् साधारण वायु अथवा उसके अभिमानी देव नहीं हैं।

मरुतों द्वारा बिना वायु के वृष्टि

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ॥

ऋग्० 1.38.7.

अर्थात्—'(त्वेषाः) तेजस्वी और (अमवन्तः) बलशाली अथवा ज्ञानी (रुद्रियासः) रुद्र से सम्बन्ध रखने वाले ये मरुत् (धन्वन्) मरु प्रदेश में (चित्) भी (अवातां)[1] बिना वायु के (मिहं)[2] वर्षा (कृण्वन्ति) कर देते हैं (सत्यं) यह बात सत्य है।'

वर्षा बिना वायु के नहीं हो सकती। समुद्र का पानी सूर्य की गरमी से उत्तप्त होकर भाप रूप में वायु में चढ़ जाता है। वायु के साथ वह पानी की भाप समुद्र से चलकर भूमि पर आती है। यहाँ वह भाप ऊँचे पर्वतों से स्पर्श खाकर अथवा आकाश में ऊँचे चढ़कर ठण्डी होकर छोटे-छोटे जलकणों में परिवर्तित हो जाती है जिन्हें मेघ कहते हैं। ये मेघ वायु के कारण इधर-उधर उड़ते फिरते हैं। फिर वायु के और अधिक ठण्डा होने पर ये मेघ रूप छोटे-छोटे जलकण बड़े-बड़े जलकणों में परिवर्तित होकर भूमि पर बरस जाते हैं। इसी को वृष्टि होना कहते हैं। इस प्रकार बिना वायु के वर्षा का होना असंभव है। मन्त्र कहता है कि मरुत् बिना वायु के वर्षा कर डालते हैं। इसलिये मरुत् का अर्थ साधारण वायु तो हो नहीं सकता। क्योंकि वायु बिना वायु के वृष्टि कर देता है यह बात कुछ बनती ही नहीं। यदि वायु वृष्टि करता है तो फिर वृष्टि बिना वायु के कैसे हुई? तब तो वृष्टि वायु से ही हुई। मरुत् का अर्थ वायु के अभिमानी देवता भी नहीं हो सकता। क्योंकि वे भी तो अन्ततोगत्वा वायु ही हैं। वायु का वायुपन उन्हीं के कारण तो है। वे ही तो वायु की प्रेरक शक्ति हैं। उनके अभाव में वायु कुछ रहता ही नहीं। साधारण वायु उनसे कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं है। उनकी ही शक्ति का रूपान्तर से प्रकाशमात्र तो साधारण वायु है। इसलिये जब वायु के अभिमानी देव वृष्टि करते हैं तो इसका दूसरे शब्दों में यही अर्थ हुआ कि वायु वृष्टि करता है। साधारण वायु अभिमानी देवों का शरीरमात्र है। इस शरीर की सहायता के बिना वे वृष्टि नहीं करा सकते। अतः मरुत् वृष्टि करते हैं तो इसका यही तात्पर्य है कि वायु वृष्टि करता है। फिर यह कहना कि मरुत् बिना वायु के वृष्टि करते हैं कुछ अर्थ नहीं रखता। जब मरुतों ने वृष्टि की तो वायु

[1] वायुरहितामिति सायणः।
[2] वृष्टिमिति सायणः।

ही ने तो वृष्टि की। मरुत् और वायु एक ही वस्तु के तो दो नाम या रूपान्तर मात्र हैं।

यदि किसी को आग्रह हो कि वायु के अभिमानी देव साधारण वायु से भिन्न हैं और उनमें यह सामर्थ्य है कि वे बिना वायु की सहायता के भी बादल बना सकते और वृष्टि कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए हमारा उत्तर यह है। एक तो बिना वायु के वृष्टि हो सकना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। प्रत्यक्ष में यही देखा जाता है कि वर्षा वायु के कारण ही होती है। वायु में ही बादल बनते हैं और वायु द्वारा ही वे इधर से उधर उड़ते फिरते हैं और फिर वायु में शीतता आने से ही बादल बरसते हैं। इस प्राकृतिक प्रक्रिया से भिन्न प्रकार से वृष्टि होती हुई कभी किसी ने देखी नहीं और इसलिये कल्पित मरुत् देव भी इस प्राकृतिक प्रक्रिया से भिन्न रीति से वर्षा नहीं करा सकते। दूसरे यह कि बिना वायु के वर्षा हो सकती है इस बात को वेद भी नहीं स्वीकार करता। अथर्ववेद 4.15 सूक्त में वृष्टि का वर्णन है। वहाँ बड़े कवितामय शब्दों में यह बताया गया है कि वर्षा किस प्रकार होती है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि वर्षा वायु के कारण होती है। वहाँ के कुछ वाक्य देखिये—'उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ' (अथ० 4.15.5) अर्थात् 'हे वायुओ (मरुतः) समुद्र से जलों को प्रेरित करो, प्रदीप्त सूर्य और तुम उन जलों को आकाश में चढ़ाओ'; 'महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः' (अथ० 4.15.16) अर्थात्, 'हे मेघ तू जल के महान् कोश को ऊपर उठा, वर्षा कर, वर्षा के समय विद्युत् होवे और वायु (वातः)[1] चले; 'समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु' (अथ० 4.15.1) अर्थात् 'दिशाएँ जल से युक्त होकर (नभस्वतीः)[2] उठ खड़ी हों, जल से भरे हुए बादल (अभ्राणि)[3] वायु से प्रेरित होकर (वातजूतानि)[4] घटाओं के रूप में मिलकर चलने लगे (संयन्तु)।' मन्त्र के 'उठ खड़ी हो' का भाव सायण ने यह लिया है कि दिशाएँ बादलों की घटाओं से भरी हुई दिखाई दें। वेद के इन और सूक्तगत ऐसे ही अन्य वर्णनों से स्पष्ट है कि वर्षा का वायु बहुत भारी कारण है। बिना वायु के वर्षा नहीं हो सकती। जब, वेद की वर्षा के सम्बन्ध में यह स्थिति है तो कल्पित मरुत् देवों में बिना वायु के वर्षा कराने की शक्ति कहा हो सकती है? और इसलिये उनका यह वर्णन कि वे बिना वायु के वर्षा करा देते हैं मिथ्या हो जायेगा। यदि यह वर्णन सत्य है तो वेद का वह वर्णन मिथ्या हो जायेगा जिसमें बताया गया है कि वर्षा वायु के द्वारा होती है। मरुतों को वायु से भिन्न, वायु के कल्पित देवता मानने की अवस्था में वेद के इन दो वर्णनों में से एक अवश्य मिथ्या मानना पड़ेगा। परन्तु वेद-भक्त किसी वर्णन को मिथ्या नहीं मान सकते। वेद के दोनों

[1] वायुः वृष्ट्यनुकूलं वात्विति सायणः।

[2] नभ इति उदक नामसु पठितम्। नभस्वता वायुना युक्ता इति सायणः।

[3] अपो बिभ्रति वृष्ट्यर्थं उदकं धारयन्तीति उदकपूर्णं मेघा अभ्र शब्देनोच्यन्ते इति सायणः।

[4] वातेन वायुना प्रेरितानीति सायणः।

वर्णन तभी सच्चे हो सकते हैं जबकि प्रस्तुत ऋग्० 1.38.7 मन्त्र में मरुत् का अर्थ वायु अथवा वायु के अभिमानी कल्पित देव-विशेष न किया जाये।

मरुतों द्वारा विना वायु के वृष्टि कराने का तात्पर्य

वस्तुतः यहाँ मरुत् का अर्थ वायु या वायु के देवता नहीं है। यहाँ मरुत् का अर्थ सैनिक है। इस मन्त्र वाला सारा का सारा सूक्त ही मरुत् नाम से सैनिकों का वर्णन कर रहा है। सूक्त में इनके रथों, सधे हुए घोड़ों और लगामों का वर्णन है। फिर इससे अगले ही सूक्त में इनके शस्त्रास्त्रों और सेनाओं का वर्णन है। इस मन्त्र में मरुतों द्वारा विना वायु के वर्षा करने का जो वर्णन है वह केवल एक आलंकारिक वर्णन है। और क्योंकि इस वर्षा को विना वायु की कहा है इसी से यह सिद्ध होता है कि यह वर्णन आलंकारिक है। क्योंकि सचमुच की वर्षा तो विना वायु के हुआ नहीं करती। फिर मन्त्र में यह जो कहा है कि मरुत् मरुस्थल में भी वर्षा कर देते हैं वह भी यही सिद्ध करता है कि यहाँ आलंकारिक वर्णन है। सामान्य वर्षा तो मरुस्थलों में होती नहीं, वर्षा न होने के कारण ही तो उन प्रदेशों को मरुस्थल कहा जाता है। पर इन मरुतों द्वारा की हुई वर्षा मरुस्थलों में भी हो जाती है। इस आलंकारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि मरुत् अर्थात् सैनिक अपने मंगलकारी रक्षणों द्वारा मरुस्थल जैसे रुखे-सूखे प्रदेशों के लोगों के लिए भी सुख-चैन की वृष्टि बरसा देते हैं। और वहाँ पानी की सुविधा कर देते हैं।

वायु की भाँति कर्तव्यपरायण और गतिशील मरुत्

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखिये—

1. अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः।

ऋग्० 10.78.2.

2. वातासो न धुनयो जिगत्नवो ऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः।

ऋग्० 10.78.3.

अर्थात्—(1) ये छातियों पर रुक्म धारण करने वाले मरुत् अपने तेज के कारण अग्नि की तरह हैं और वायुओं की तरह (वातासः न) ये स्वयं ही अपने कर्तव्यों में लगे रहते हैं (स्वयुजः) तथा शीघ्र रक्षा करने वाले (सद्यऊतयः) हैं। (2) ये मरुत् वायुओं की भाँति (वातासः न) शत्रुओं को कंपाने वाले हैं तथा निरन्तर गतिशील हैं और अग्नि की ज्वालाओं (जिह्वाः) की भाँति चमकने वाले हैं।

इन मन्त्रों में मरुतों को वायुओं से उपमा दी गई है। वायु के लिए यहाँ 'वात' शब्द का प्रयोग हुआ है। सायण ने भी यहाँ वात का अर्थ वायु ही किया है। वायु जैसे 'स्वयुज्' अर्थात् स्वयं अपने कर्तव्य में जुटा रहता है वैसे ये मरुत् भी अपने कर्तव्य में स्वयं ही जुटे रहते हैं। ये इतने कर्तव्यपरायण हैं कि इन्हें अनेक कर्तव्य कर्मों में लगाने के लिए दूसरे की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। यह एक आदर्श

सैनिक का कितना सुन्दर गुण है। तथा वायु जैसे 'सद्य ऊति' है, शीघ्र रक्षा करने वाला है, वैसे ही ये मरुत् भी शीघ्र रक्षाकार हैं, वायु की 'सद्यऊतिता' स्पष्ट है। हम जो रह रहे हैं, हमारे जीवन की यह जो निरन्तर रक्षा हो रही है, वह हमें क्षण-क्षण में श्वास लेने के लिए शुद्ध और नवीन वायु मिलते रहने के कारण ही है। वायु जैसे शीघ्र रक्षाकारी है वैसे ही ये मरुत् भी शीघ्र रक्षाकारी हैं। कहीं से बुलावा आने की देर है, ये मरुत् (सैनिक) झट दौड़कर विपत्ति और भय में ग्रस्तों की रक्षा के लिए जा पहुँचते हैं। फिर जैसे वायु 'धुनि' है, वृक्ष लतादि को हिलाता रहता है, कँपाता रहता है, वैसे ही ये मरुत् भी 'धुनि' हैं अपने विरोधी शत्रुओं के कम्पाने वाले हैं और जैसे वायु 'जिगलु' है, निरन्तर गतिशील है, चलते-चलते कभी थकता ही नहीं, वैसे ही ये मरुत् भी गतिशील हैं, ये इतने सशक्त हैं कि चलने में कभी थकते ही नहीं, जब इन्हें कहीं चलने की आज्ञा दो तभी ये उठकर चलने के लिए, दौड़कर भी चलने के लिए उद्यत रहते हैं। सैनिकों के बल और फुर्तीलेपन का कैसा सजीव चित्र है।

मरुतों की वायु से उपमा असंगत

अब पाठक देखें कि मरुतों को वायु से जो यह उपमा दी गई है इससे स्पष्ट है कि इन प्रकरणों में मरुतों का अर्थ वायु नहीं हो सकता। नहीं तो वायु-वायु की तरह 'स्वयुजः' आदि है, ऐसी उपमाओं का कुछ अर्थ ही नहीं रह जायेगा। 'उपमेय' मरुत् 'उपमान' वायु से अवश्य ही भिन्न होना चाहिए। नहीं तो उपमा बन ही नहीं सकती। वायु से भिन्न मरुत् क्या है यह पाठक ऊपर देख ही चुके हैं।

मरुतों की इस वायु के साथ उपमा ने श्री सायण को भी तंग किया है। इसीलिए उन्होंने यहाँ लिखा है कि 'अत्र मारुते सूक्ते मरुतामेव दृष्टान्तकथनं संचरणस्वभाववायुपदार्थतदभिमानिदेवता भेदेनाविरुद्धम्।' अर्थात्, 'मरुत् सूक्त में यहाँ मरुतों की उपमा मरुतों (वायु) से दी गई है। यह ठीक नहीं जंचती। इसका समाधान यह है कि चलने के स्वभाव वाला वायु-पदार्थ (मरुत्) और उसका अभिमानी देवता वायु (मरुत्) ये दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इसलिए वायु-देवता को वायु-पदार्थ से उपमा दी जा सकती है।' सायण का यह समाधान बनता नहीं है। क्योंकि वायु-देवता और वायु-पदार्थ वास्तविक दृष्टि से दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। वायु-देवता का ही प्रकारान्तर से प्रकाश मात्र वायु-पदार्थ है। वायु का वायुपन वायु-देवता के कारण ही है। वायु-देवता के अभाव में वायु-वायु ही न होता। वायु-पदार्थ में जो मन्त्र वर्णित 'स्वयुज्', 'सद्यउतिः', 'धुनि' और 'जिगत्नु' आदि के गुण हैं वे वायु-देवता के कारण ही हैं। वायु के ये गुण स्वतन्त्र रूप से अपने नहीं हैं। वायु में ये गुण वायु-देवता से ही आये हैं। इसीलिए एक प्रकार से ये गुण वायु देवता के ही हैं। अतएव मरुतों की वायु से जो 'स्वयुज्' आदि गुणों के कारण उपमा दी गई है वह अन्ततः स्वयं मरुतों से ही जा बनती है और इस प्रकार मरुत्-देवों जैसे हैं फिर भी

वही असंगत उपमा बनी रहती है। इसीलिए यहाँ 'उपमेय' मरुत्-मरुत्-देव नहीं माने जा सकते। ये उनसे भिन्न वस्तु हैं। इन प्रकरणों में मरुत् का वास्तविक क्या अभिप्राय है यह हम ऊपर देख चुके हैं।

इस प्रकार ऊपर के पृष्ठों में हमने सिद्ध कर दिया है कि वेद में मरुत् का अर्थ अधिकांश स्थलों में सामान्य वायु-पदार्थ या उसका कल्पित देवता-विशेष नहीं होता प्रत्युत वेद के अधिकांश स्थलों में उसका अर्थ सेना के सैनिक होता है। कहीं-कहीं गौण-वृत्ति से मरुत् का अर्थ सामान्य मनुष्य और साधारण वायु तो होता है पर वायु के कल्पित देवता-विशेष इसका अर्थ कहीं नहीं होता।

३

रुद्र : सेनापति

वेद के रुद्र पौराणिक महादेव नहीं

इससे पूर्व कि हम युद्ध-विभाग के सम्बन्ध में अन्यान्य आवश्यक वर्णनीय बातों का वर्णन करें वेद के रुद्र देवता पर भी यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि रुद्र देवता के सूक्तों से भी हमें ग्रन्थ के इस खण्ड में काम लेना होगा।

पौराणिक साहित्य में रुद्र महादेव का वाचक है—जिसकी पत्नी पार्वती है जो अपने पूर्वजन्म में सती नाम से दक्ष की पुत्री और महादेव की ही प्रथम पत्नी थी, जो दक्ष के एक यज्ञ में दक्ष द्वारा अपने पति महादेव का अपमान देखकर मर गई थी और पुनः पार्वती रूप में हिमालय पर्वत की पत्नी मेनका के गर्भ से उत्पन्न हुई थी—जिसके पुत्र गणेश और स्कन्द नामक हैं, जिनकी उत्पत्ति की विचित्र कथाएँ पुराणों में दी गई हैं, जिसके भृङ्गी, शृङ्गी आदि विचित्र प्रकार के परिचारक हैं, जो मस्तक पर चन्द्र की सोलहवीं कला रखता है, जिसके जटाजूट में गंगा बहती रहती है, जिसके माथे के तीसरे नेत्र से अग्नि की ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, जो प्रलय काल में इस तीसरे नेत्र की ज्वाला से ही सारे ब्रह्माण्ड की प्रलय किया करता है, और त्रिशूल जिसका मुख्य शस्त्र है, बैल जिसकी सवारी है, कपालों की जो माला पहिनता है, हाथियों की खून से भीगी खाल को जो ओढ़ता है, साँप जिसके जटाजूट, गले और भुजाओं में लिपटे रहते हैं और कैलाश पर्वत जिसका निवास-स्थान है। पुराण-वर्णित रुद्र महादेव के चित्र का हमने यह दिग्दर्शन कराया है। पुराणों में उसका चित्र और चरित्र बड़ा अद्भुत वर्णित हुआ है। उस सबका यहाँ दिखा सकना संभव नहीं है। वेद के रुद्र-सूक्तों को, विशेषकर यजुर्वेद के रुद्राध्याय को, पढ़ते समय प्रचलित पौराणिक विचारों वाले पाठकों के मन में इन्हीं विचित्र देवता महादेव की मूर्ति उपस्थित होती है।

परन्तु वेद के रुद्र सम्बन्धी प्रकरणों को ध्यान से पढ़ने पर यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि वेद में रुद्र का अर्थ पौराणिक महादेव बिल्कुल नहीं है। रुद्र का महादेव अर्थ वेद में सर्वत्र तो सायणादि भाष्यकारों ने भी नहीं किया है।

यद्यपि यह ठीक है कि इनके मन में रुद्र का अर्थ करते समय बहुत स्थलों में पौराणिक महादेव की मूर्ति अवश्य विराजमान थी। वेद के रुद्र का वर्णन पुराणों के रुद्र महादेव के वर्णन से बहुत कम मिलता है। यह ठीक है कि वेद में भी रुद्र के भव, शर्व, पशुपति, कपर्दी आदि दस-पन्द्रह नाम आते हैं जो पौराणिक महादेव के भी नाम हैं। पर इतने से ही वेद का रुद्र पुराण का महादेव नहीं हो सकता। इन दस-पन्द्रह नामों के अतिरिक्त, पुराणों में जो महादेव के विचित्र वर्णन और कथानक पाये जाते हैं जिनसे पुराण के पुराण भरे पड़े हैं उनका वेदों में कहीं नाम भी नहीं है और तो और पुराण के महादेव का जो छोटा-सा खाका हमने ऊपर खींचा है वह भी एक ऐसा चित्र है जो वेद के रुद्र का नहीं है। इतना ही नहीं, महादेव की पत्नी के सती, पार्वती और उमा ये नाम भी वेद में नहीं पाये जाते। न ही सती और पार्वती की उत्पत्ति का वर्णन वेद में कहीं दृष्टिगोचर होता है और न ही महादेव के इनसे विवाह का कहीं वर्णन है। महादेव के पुत्र गणेश और स्कन्द का नाम भी वेद में नहीं है। न ही गणेश और स्कन्द की उत्पत्ति तथा इनके चरित्रों का वर्णन कहीं वेद में मिलता है। इसी प्रकार गंगावतरण, चन्द्रकला, कपालमाला, सर्व-परिवेष्टन आदि वातों का वेद में कुछ भी पता नहीं है। महादेव के निवास-स्थान कैलाश का भी वेद में कहीं नाम नहीं है। यह ठीक है कि यजुर्वेद के 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्विकया' (यजु० 3.57) इस मन्त्रखण्ड में 'अम्बिका' यह नाम आता है। पुराणों में अम्बिका महादेव की पत्नी पार्वती का ही नाम है। परन्तु वेद के इस मन्त्र में अम्बिका को महादेव की पत्नी नहीं अपितु उसकी 'स्वसा' अर्थात् बहिन कहा गया है। इस प्रकार वेद का रुद्र पुराण के रुद्र महादेव से सर्वथा भिन्न है फिर भी न जाने सायणादि भाष्यकार वेद के कितने ही स्थलों में रुद्र का अर्थ पौराणिक महादेव लेकर वेद के साथ क्यों अनर्थ करते रहे हैं। वेद के अधिकांश वर्णनों को उन्हें खींचातानी करके, पौराणिक महादेव पर लगाना पड़ा है। प्रत्युत सच तो यह है कि अधिकांश वर्णन उनसे पौराणिक महादेव पर लग ही नहीं सके हैं। केवल उन्होंने इतना कहकर छोड़ दिया है कि इस सूक्त या अध्याय में रुद्र अर्थात् महादेव का वर्णन है। सूक्त के सारे वर्णनों को उन्होंने महादेव पर घटाने की चेष्टा नहीं की है। क्योंकि वे वर्णन महादेव पर लग ही नहीं सकते थे। पौराणिक संस्कार ने उन्हें वेद के इन स्थलों का सुन्दर और शिक्षाप्रद अर्थ न करने दिया।

रुद्र का दूसरा प्रसिद्ध अर्थ वेद में वायु, प्राण अथवा वायु का अभिमानी देवता किया जाता है। रुद्र का अर्थ ब्राह्मणादि वैदिक साहित्य में तो प्राण सुप्रसिद्ध है ही। परन्तु हमारी सम्मति में वेद में रुद्र का अर्थ वायु का अधिष्ठाता देव तो है ही नहीं, साधारण वायु अथवा प्राणवायु भी इसका अर्थ सर्वत्र नहीं हो सकता। भले ही इसका गौण अर्थ प्राणादि भी होगा। परमात्मापरक अर्थ तो रुद्र का ही हो सकता है। हमारी सम्मति में वेद में 'रुद्र' का एक प्रधान अर्थ 'सेनापति' है। रुद्र का सेनापति अर्थ करने में हमारे निम्न हेतु हैं :—

रुद्र एक सैनिक

अभी ऊपर के पृष्ठों में हम देखकर आ रहे हैं कि वेद में मरुत् का मुख्य अर्थ सेना के सैनिक होता है। अब, वेद में कोई बीस से अधिक स्थानों में मरुतों को 'रुद्र' कहा है।[1] जब रुद्र मरुतों का ही एक नाम हुआ तो स्पष्ट है कि रुद्र का अर्थ भी सैनिक होगा। इस प्रकार रुद्र का अर्थ सैनिक होता है यह तो निर्विवाद हो जाता है।

युद्धोपकरणों से सुसज्जित रुद्र

केवल मरुतों का नाम रुद्र होने से ही रुद्र का अर्थ सैनिक हो जाता है। यही बात नहीं है। रुद्र का अपना स्वतन्त्र वर्णन भी सैनिक का सा ही है। उदाहरण के लिए देखिये :—

1. स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् ॥
ऋग्० 2.33.9.

2. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा उ ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥
ऋग्० 2.33.10.

3. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानो ऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ॥
अथ० 18.1.40; ऋग्० 2.33.11.

4. हेती रुद्रस्य। ऋग्० 2.33.14.

5. इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥
ऋग्० 7.46.1.

6. या ते दिद्युदवसृष्टा। ऋग्० 7.46.3.

7. यः स्विषुः सुधन्वा। ऋग्० 5.42.11.

8. अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः। यजु० 3.61.

9. नमस्ते रुद्र मन्यव उतो ते इषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ यजु० 16.1.

10. यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। यजु० 16.3.

11. प्र मुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥ यजु० 16.9.

[1] उदाहरण के लिए देखिए—ऋग्० 1.39.7, 8.7.12, 1.64.3, 1.166.2, 2.34.13, 5.60.2, 10.92.6, 2.34.9, 5.54.4, 5.60.6, 1.101.7, 10.64.11, 1.39.4, 1.85.2, 5.87.7, 5.57.1, 8.20.2, 8.103.14, 3.32.3, 3.32.2, 10.64.11.

12. विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणावाँ उत ।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ।। यजु० 16.10.
13. या ते हेतिः....हस्ते बभूव ते धनुः । यजु० 16.11.
14. ते धन्वनो हेतिः....अथो य इषुधिः । यजु० 16.12.
15. अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ।। यजु० 16.13.
16. त आयुधाय....धृष्णवे....बाहुभ्यां तव धन्वने । यजु० 16.14.
17. निव्याधिन । यजु० 16.20.
18. निषङ्गिण इषुधिमते । यजु० 16.21.
19. उष्णीषिणे । यजु० 16.22.
20. इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यः । यजु० 16.22.
21. विसृजद्भ्यः विध्यद्भ्यः । यजु० 16.23.
22. शतधन्वने इषुमते । यजु० 16.29.
23. आशुरथाय शूराय अवभेदिने । यजु० 16.34.
24. बिल्मिने कवचिने वर्मिणे वरूथिने श्रुताय दुन्दुभ्याय आहनन्याय ।
यजु० 16.35.
25. धृष्णवे प्रमृशाय निषङ्गिणे इषुधिमते तीक्ष्णेषवे आयुधिने स्वायुधाय सुधन्वने ।
यजु० 16.36.
26. अग्रेवधाय दूरेवधाय हन्त्रे हनीयसे । यजु० 16.40.
27. रुद्रस्य हेतिः त्वेषस्य । यजु० 16.50.
28. आयुधं निधाय कृत्ति वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदा गहि ।
यजु० 16.51.
29. यास्ते सहस्रं हेतयः । यजु० 16.52.
30. सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः । यजु० 16.53.
31. रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च । अथ० 6.90.1.
32. अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ।। अथ० 11.2.7.
33. धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् ।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ।।
अथ० 11.2.12.
34. यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्टचो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ।। अथ० 1.19.3.
35. रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।
अथ० 6.32.2.
36. रुद्र इष्वासः । अथ० 15.5.10,11.

वेद के इन मन्त्रों में रुद्र का जो वर्णन हुआ है वह पूर्ण रूप से एक सैनिक का वर्णन है। इन मन्त्रों और मन्त्रखण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) यह रुद्र दृढ़ अंगों से युक्त है, बहुत रूपों वाला है, उग्र शक्तिशाली है, आश्रितों का भरण करने वाला है, चमकते हुए सुवर्णालंकारों से शोभित है, इस भुवन के स्वामी और आश्रितों का भरण करने वाले (भूरेः)[1] रुद्र का शत्रुओं को मार फेंकने वाला बल (असुर्यम्)[2] कभी उससे पृथक् नहीं होता। (2) हे रुद्र तू योग्य होकर (अर्हन्)[3] बाणों और धनुष को धारण करता है, तेरे शरीर पर अच्छी तरह संगत होने वाले (यजतं) नानारूपों के (विश्वरूपं) निष्कों को तुम धारण करते हो, योग्य होकर विस्तृत जगत् की रक्षा करते हो, तुम से अधिक ओजस्वी हे रुद्र कोई नहीं है। (3) हे दर्शक जो अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध है अथवा जो नाना शास्त्र सुन चुका है ऐसे (श्रुतं), रथ पर बैठे हुए (गर्तसदं)[4] युवा, सिंह की तरह भयंकर, शत्रुओं के पास जाकर मारने वाले (उपहत्नुं), उग्र शक्ति युक्त रुद्र के गुणों की स्तुति कर, हे रुद्र तेरे गुणों की स्तुति करने वाले के लिए तू सुख दे, तेरी सेनाएँ हमसे भिन्न पुरुषों को मारें (निवपन्तु)[5]। (4) रुद्र के पास हनन के साधन शस्त्रास्त्र हैं (हेती)। (5) जिसका धनुष दृढ़ है, जिससे बाण बड़े तेज चलते हैं, जो दिव्य गुणों वाला है (देवाय), जिसके पास अन्न है अथवा जिसमें अपनी धारण शक्ति है (स्वधान्वे), जिस का शत्रु पराभव नहीं कर सकते, जो शत्रुओं का पराभव कर देता है, जो ज्ञानी है, जिसके शस्त्रास्त्र बड़े तीखे हैं, उसकी प्रशंसा में वाणियाँ बोलो (गिरः भरत) और वह हमारी पुकार को सुने। (6) हे रुद्र तुमने जो विद्युत् की तरह जगमगाता हुआ शस्त्र (विद्युत्) छोड़ा है। (7) जो रुद्र उत्तम बाणों और उत्तम धनुष वाला है। (8) अपना धनुष जिसने ढीला कर रखा है, अपने त्रिशूल द्वारा जो रक्षा कर रहा है, अंगुलित्र आदि के रूप में जिसने चमड़े पहन रखे हैं (कृत्तिवासाः)। (9) हे रुद्र तुम्हारे शत्रु संहारक क्रोध को, तुम्हारे बाण को तथा तुम्हारी भुजाओं को नमस्कार है। (10) हे वाणी में मंगल विस्तार करने वाले अर्थात् उत्तम वाणी बोलने वाले अथवा उत्तम शिक्षा प्राप्त (गिरिशन्त)[6], जिस बाण को तुम शत्रु पर फेंकने के लिए हाथ में धारण किये हुए हो। (11) हे रुद्र तुम अपने धनुष की दोनों कोटियों की डोरी को उतार लो, और जो तेरे हाथ में बाण है उन्हें हे भगवान् हमसे परे फेंको। (12) हम अनुयायियों के लिए इस कपर्दी रुद्र का धनुष ढीला हो जाये, इसका तूणीर बाणों से रिक्त हो जाये, इसके बाण छिप जाएँ, और इसकी म्यान तलवार से खाली हो जाये—

[1] भर्तुरिति सायणः।

[2] असुरः क्षेप्ता तत्र साधुः असुर्यं बलमिति सायणः।

[3] योग्य एव सन्निति सायणः।

[4] गर्तोरथस्तत्र सीदन्तम् इति सायणः।

[5] निघ्नन्तु इति सायणः।

[6] गिरि वाच्यां शं मंगलं तनोतीति गिरिशन्तः तस्य संबुद्धिः।

अर्थात् हम पर यह शस्त्र न उठाये। (13) हे रुद्र जो तेरे मारने वाले शस्त्र और हाथ में तेरे धनुप हैं। (14) हे रुद्र तेरे धनुष के जो मारने वाले वाण हैं और जो तेरा तूणीर है। (15) हे सहस्राक्ष अर्थात् सहस्रों आँखों की शक्ति वाले, हे सैंकड़ों तूणीरों वाले रुद्र तू हमारे लिये अपने धनुष को ढीला करके तथा वाणों को तोड़कर हमारे लिये मंगलकारी हो जा—अर्थात् हम पर तू शस्त्र न उठा। (16) शत्रुओं का घर्षण करने वाले तेरे शस्त्रास्त्र हैं, तेरी शस्त्र चलाने में निपुण भुजाएँ हैं, तेरा धनुष है। (17) यह रुद्र गहरा प्रहार करने वाला है। (18) इसके पास खड्ग है, तूणीर है। (19) इसने पगड़ी बाँधी हुई है। (20) यह वाणों वाला है, धनुष के साथ चलता है। (21) यह शस्त्र छोड़ता है और खींचता है। (22) इसके पास सैंकड़ों धनुप हैं और वाण हैं। (23) इसका तीव्रगामी रथ है, यह शूर है, शत्रुओं को भेदने वाला है। (24) इस रुद्र ने शिरस्त्राण (बिल्मं) पहना हुआ है, कवच पहना हुआ है, लोहे का कवच (वर्म) पहना हुआ है, इसके वरूथ हैं, यह गुणों के कारण प्रसिद्ध है या इसने विद्याएँ पढ़ी हुई हैं (श्रुताय) इसकी दुन्दुभियाँ हैं (दुन्दुभ्याय) और उन्हें वजाने के साधन हैं (आहनन्याय)। (25) यह रुद्र वड़ा घर्षणशील प्रगल्भ है, सब विषयों का स्पर्श करने वाला पण्डित (प्रमृशाय) है, खड्गधारी है, तूणीरधारी है, इसके वाण बड़े तीखे हैं, यह शास्त्रों और उत्तम शस्त्रों तथा उत्तम धनुष वाला है। (26) यह आगे होकर शत्रुओं का वध करने वाला है, दूर तक शत्रुओं का वध करने वाला है, यह शत्रुओं का हन्ता है और औरों से अधिक हन्ता है। (27) तेजस्वी रुद्र के मारने वाले शस्त्रास्त्र (हेतिः) हैं। (28) हे रुद्र तू अपने शस्त्रों को रखकर, अंगुलित्राणादि के रूप में चमड़े को पहने हुए, त्रिशूल या धनुष को धारण किये हुए आ। (29) हे रुद्र तेरी जो सहस्रों हेतियाँ अर्थात् मारने-काटने वाले शस्त्रास्त्र हैं। (30) हे रुद्र तेरी भुजाओं में सहस्रों और सहस्रों हेतियाँ हैं।

ऊपर के 7 मन्त्रों को छोड़कर शेष 23 मन्त्र और मन्त्रखण्ड यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के हैं। इस अध्याय को रुद्राध्याय कहते हैं। इस अध्याय में 66 मन्त्र हैं। इस अध्याय में रुद्र के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन है। वर्णनकर्ता रुद्र के एक-एक गुण का वर्णन करता है और उसके लिये आदर बुद्धि से युक्त होकर नमस्कार कर देता है। इसलिये अध्याय में रुद्र और उसके विशेषणों के लिए चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। परन्तु हमने अर्थ करते हुए चतुर्थी विभक्ति का ध्यान नहीं रखा है। हमने प्रथमा विभक्ति जैसे अर्थ कर दिये हैं। क्योंकि हमारा तात्पर्य मन्त्र का भाव दिखाने मात्र से है। मन्त्रों में चतुर्थी का प्रयोग नमस्कार के कारण हुआ है। हमने नमस्कार वाची पदों को छोड़ दिया है। अब शेष उद्धृत मन्त्रों का अर्थ देखिये—

(31) रुद्र शत्रु के अंगों और हृदय में वाण फेंक कर मारता है। (32) जो अस्त्र फेंककर मारता है, जिसका शिखण्ड नील है, जो सहस्राक्ष अर्थात् सहस्रों आँखों की शक्ति वाला है, बलशाली है, हिंसकों का घातक है, उस रुद्र के साथ हम समर न करें। (33) हे शिखण्ड वाले रुद्र तुम शत्रुओं के प्राण हरने वाले, सुवर्ण सज्जित,

सहस्रों का घात करने वाले, सैंकड़ों का वध करने वाले धनुष को धारण करते हो, रुद्र की जो दिव्य हेति अर्थात् हनन साधन शस्त्रास्त्र है, वह जिस भी दिशा में है उसके लिए हम नमस्कार करते हैं। (34) जो हमारा अपना, जो पराया, जो हमारा सजता अर्थात् वंश का अथवा जो बाहर का हमें दास बनाना चाहता है, उन हमारे शत्रुओं को रुद्र अपनी बाणावली से बींध डाले। (35) हे दूसरों का मांस खाने वाले पिशाचो और औरों को पीड़ा देने वाले यातुधानो रुद्र तुम्हारी ग्रीवाओं और पसलियों को काट डाले। (36) रुद्र शत्रुओं पर वाण बरसाने वाला धनुर्धर है (इष्वासः)।

पाठक देखेंगे कि ऊपर मन्त्रों में रुद्र का जो वर्णन हुआ है वह स्पष्ट ही एक शूर-वीर सैनिक का है। धनुष, वाण, खड्ग, कवच, वर्म, तूणीर, म्यान आदि युद्धोपकरणों से सज्जित तथा निष्कादि सैनिक आभरणों से भूषित, शस्त्रों के प्रहार करने में पटु, युवा और सिंह समान पराक्रमी शूर-वीर रुद्र सैनिक के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

रुद्र के कुछ नामों का अर्थ

ऊपर उद्धृत मन्त्रों में ईशान, कृत्तिवासाः, शिखण्डी, नीलशिखण्डः और कपर्दी पाँच विशेषण रुद्र के आये हैं। इनमें से ईशान, कृत्तिवासाः और कपर्दी से तीन नाम अमर कोशादि में पौराणिक महादेव के भी लिखे हैं शेष नीलशिखण्ड और शिखण्डी को कपर्दी का ही पर्यायवाची समझकर वेद के पौराणिक टीकाकार इनको भी महादेव का ही नाम समझ लेते हैं। इन पर यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। ईशान का अर्थ स्वामी होता है। महादेव को सारे जगत् का स्वामी माना जाता है। रुद्र का अर्थ हमने सेनापति करना है इसलिए वह अपनी सेनाओं का ईशान हो जायेगा। कृत्तिवासाः का अर्थ चमड़ा पहनने वाला होता है। महादेव हाथियों का चमड़ा पहनता है। रुद्र सेनापति, अंगुलित्राण आदि के रूप में चमड़ा पहनने के कारण कृत्तिवासाः कहा जायेगा। शिखण्ड का अर्थ सिर के बालों का समूह या जटायें किया जाता है। महादेव क्योंकि जटायें रखते हैं इसलिये उन्हें शिखण्डी कहा जाता है। एक सैनिक या सेनापति भी युद्ध में सिर की रक्षा में सहायक होने के कारण जटायें रखने के कारण शिखण्डी कहला सकता है। नीलशिखण्ड का अर्थ नीले केश समूह वाला होता है। युवा सैनिक या सेनापति भी अपने घने चमकते काले सिर के बालों के कारण नीलशिखण्ड कहा जायेगा। पण्डित क्षेमकरणदास ने अपने भाष्य में 'नील' का अर्थ धनकोश और 'शिखण्ड' का अर्थ प्राप्ति करके, जिसके कारण धनकोश की प्राप्ति हो ऐसा अर्थ नीलशिखण्ड[1] का किया है। राजाओं को सेनापतियों के कारण धनकोशों की प्राप्तियाँ होती ही हैं। कपर्द का अर्थ सिर के बालों का जूड़ा होता है। महादेव क्योंकि जटाजूट रखते हैं इसलिये उन्हें कपर्दी कहा जाता है। सैनिक या सेनापति सिर

[1] णीञ् प्रापणे+रक्, रस्य लः। नीयते प्राप्यते स नीलो निधिः। शिख शिखि गतौ+अण्डन्। निधीनां शिखण्डः प्राप्तिर्यस्मात् स नीलशिखण्डः। निधीनां प्रापकः।

की रक्षा में उपयोगी होने के कारण जटाजूट रखने से कपर्दी कहे जायेंगे। इसी प्रकार और भी जो पाँच-सात नाम महादेव के रुद्र के विशेषणों के रूप में आते हैं उनकी संगति भी बड़ी अच्छी तरह सेनापति में की जा सकती है। यहाँ प्रसंग न होने से उनका अर्थ हम नहीं दे रहे हैं। यों जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, महादेव के कुछ नाम रुद्र के विशेषण के रूप में वेद में आ जाने मात्र से वेद का रुद्र पौराणिक महादेव नहीं बन सकता।

रुद्र सामान्य सैनिक नहीं, उनका स्वामी है

रुद्र एक सैनिक है यह तो ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है। परन्तु वह खाली एक सैनिक ही नहीं है, एक मरुत् ही नहीं है, एक सामान्य रुद्र ही नहीं है। वह सामान्य रुद्रों अर्थात् मरुतों अथवा सैनिकों से एक भिन्न प्रकार का सैनिक भी है। यह बात निम्न हेतुओं से सिद्ध होती है—

(क) वेद में कोई सात[1] स्थानों में मरुतों को 'रुद्रियाः' विशेषण दिया गया है। 'रुद्रियाः' का अर्थ होता है—रुद्र के, रुद्र सम्बन्धी। जब मरुत् 'रुद्र के' हैं तो स्पष्ट ही रुद्र मरुतों से भिन्न हुआ। भले ही मरुतों का भी गौण वृत्ति से एक नाम रुद्र क्यों न हो। मरुत् रुद्र के हैं अर्थात् मरुतों और रुद्र में स्व-स्वामिभाव का सम्बन्ध है। मरुत् रुद्र के 'स्व' हैं और रुद्र मरुतों का 'स्वामी' है।

(ख) इसी प्रकार वेद में मरुतों के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के वाक्य भी आते हैं—

1. रुद्रस्य मर्याः। ऋग्० 1.64.2; 7.56.1.
2. रुद्रस्य मरुतः। ऋग्० 5.59.8; 7.58.5.

अर्थात्—(1) जिनका अर्थ है कि 'मरुत्' रुद्र के मनुष्य हैं। (2) मरुत् रुद्र के हैं। जब मरुत् रुद्र के मनुष्य हैं तो निःसन्देह ही रुद्र मरुतों से भिन्न हुआ और उनमें पारस्परिक स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध हुआ। मरुत् 'स्व' हुए और रुद्र 'स्वामी' हुआ।

(ग) कई स्थलों पर वेद में रुद्र को 'मरुत्वान्'[2] कहा गया है। मरुत्वान् का अर्थ होता है—मरुतों वाला। इसका भी वही भाव है कि रुद्र मरुतों से भिन्न है और उनमें पारस्परिक स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है। रुद्र 'स्वामी' है और मरुत् उसके 'स्व' हैं।

(घ) वेदों में कितने ही स्थानों में इस प्रकार के वाक्य आते हैं—

1. शं नो रुद्रेभिः। ऋग्० 7.35.6.
2. रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नः। ऋग्० 10.66.3.
3. उग्रं मरुद्भी रुद्रम्। ऋग्० 10.126.5.
4. रुद्रं रुद्रेभिः। ऋग्० 7.10.4.

[1] उदाहरण के लिए देखिए—ऋग्० 3.26.5, 2.34.10, 8.20.3, 1.38.7, 5.58.7, 5.37.7, 7.56.22।

[2] उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.114.9, 2.33.6।

5. रुद्रं रुद्रेषु हवामहे । ऋग्० 10.64.8.
6. ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः । यजु० 16.6.
7. रुद्राय रुद्रहूतये । यजु० 38.16.
8. रुद्रो रुद्रेभिः । अथ० 19.10.6.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) रुद्र रुद्रों के साथ मंगलकारी हो। (2) रुद्र देव रुद्रों के साथ हमें सुखी करे। (3) रुद्र मरुतों के कारण उग्र होता है। (4) रुद्रों से युक्त रुद्र को। (5) रुद्रों में रहने वाले रुद्र को हम बुलाते हैं। (6) जो रुद्र इस रुद्र के चारों ओर दिशाओं में ठहरे हुए हैं। (7) उस रुद्र के लिए जिसे कि रुद्र लोग पुकारते हैं। (8) रुद्र रुद्रों से युक्त है।

इन वर्णनों से भी स्पष्ट है कि सामान्य रुद्रों अर्थात् मरुतों से रुद्र भिन्न है। क, ख, और ग उप-खण्डों में मरुतों या सामान्य रुद्रों से रुद्र की भिन्नता और स्व-स्वामिभाव देखे जा चुके हैं। इस (घ) उप-खण्ड में भी सामान्य रुद्रों, मरुतों, से रुद्र की भिन्नता स्पष्ट हो रही है। साथ ही यहाँ उद्धृत ऋग्० 10.126.5 में यह भी कहा गया है कि रुद्र में जो उग्र शक्ति है वह रुद्रों, मरुतों, के कारण है। पुनः यजु० 38.16 में कहा है कि रुद्र लोग रुद्र को पुकारते हैं। फिर यजु० 16.6 में कहा है कि रुद्र रुद्रों (सैनिकों) से घिरा रहता है। अब, जो रुद्र सामान्य रुद्रों अर्थात् सैनिकों से भिन्न होते हुए उनका स्वामी है, जिसमें उन्हीं के कारण वस्तुतः उग्र शक्ति है और जिसे आवश्यकता पड़ने पर सामान्य रुद्र अर्थात् सैनिक लोग आवश्यकता पूर्ति के लिए पुकारते हैं, जो रुद्रों से घिरा रहता है, वह रुद्र क्या होगा पाठक यह स्वयं ही जान सकते हैं। स्पष्ट है कि यह विशिष्ट सैनिक रुद्र और कोई नहीं सेनापति है।

रुद्र सेनापति है

रुद्र के जो सैनिक के वर्णन वेद में हुए हैं उनमें भी बीच-बीच में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि यह सैनिक रुद्र सेनापति है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र । ऋग्० 5.3.3.
2. अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान् । ऋग्० 1.114.11.
3. तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो । ऋग्० 2.33.3.
4. त्वेषं रुद्रस्य नाम । ऋग्० 2.33.8.
5. ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् । ऋग्० 2.33.9.
6. न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति । ऋग्० 2.33.10.

7. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते ।
श्रेष्ठो देवानां वसुः ॥ ऋग्० 1.43.5.

8. तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः । अथ० 11.2.9.

9. सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद्रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । अथ० 11.2.17.

अर्थात्—(1) हे रुद्र तेरी श्री को मरुत् (सैनिक) बढ़ाते हैं ।

अब जिसकी श्री अर्थात् शोभा और गौरव को सैनिक लोग बढ़ाते हैं वह सामान्य सैनिकों से भिन्न सेनापति ही हो सकता है ।

(2) रक्षा चाहने वाले हम इस रुद्र को नमस्कार करते हैं, वह सैनिकों (मरुतों) वाला हमारी पुकार को सुने ।

जिसके पास सैनिक हैं और जिसे रक्षा के लिए लोग बुलाते हैं वह रुद्र सेनापति ही हो सकता है ।

(3) हे वज्रबाहो रुद्र तू बलियों में बली है ।

रुद्र का बलियों में बली होना भी उसके सेनापति होने की ओर निर्देश करता है । सबसे पराक्रमी व्यक्ति ही सेनापति बनाया जाता है ।

(4) रुद्र का नाम दीप्ति है ।

यह दीप्ति या तेज की प्रचुरता रुद्र के सेनापति होने की ओर संकेत करती है ।

(5) इस लोक के स्वामी और भरणकर्ता रुद्र से बल कभी पृथक् नहीं होता ।

यहाँ लोक शब्द सैन्य-लोक का वाचक समझना चाहिए । जो सेनाओं का स्वामी और भरणकर्ता है वह रुद्र सेनापति ही होगा ।

(6) हे रुद्र तुमसे अधिक ओजस्वी कोई नहीं ।

रुद्र की यह सबसे अधिक ओजस्विता उसके सेनापति होने की ओर ही संकेत करती है । सबसे ओजस्वी सैनिक को ही सेनापति बनाया जाता है ।

(7) जो रुद्र सूर्य की भाँति तेजस्वी है और सुवर्ण की तरह चमकता है, जो विजिगीषु सैनिकों में (देवानां) सबसे श्रेष्ठ है और सबका वासक है ।

यह तेजस्वितामय वर्णन और विजिगीषुओं में श्रेष्ठता रुद्र को सेनापति उद्घोषित करती है ।

(8) गौवें, घोड़े, पुरुष और बकरी तथा भेड़ ये पाँच प्रकार के विभिन्न पशु हे रुद्र तेरे ही हैं ।

रुद्र पशुपति क्यों है

रुद्र के लिए वेद में अन्यत्र 'पशुपति' विशेषण भी आया है । पौराणिक महादेव का भी एक नाम पशुपति है । संसार के सब पशुओं का स्वामी होने से

महादेव को पशुपति कहा जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र के लिए 'पशुपति' नाम तो नहीं आया है, परन्तु उसे पाँचों प्रकार के पशुओं का स्वामी कहकर एक प्रकार से पशुपति कह दिया है। सेनापति में यह पशुपति विशेषण बड़ी सुन्दरता से चरितार्थ होता है। सेनापति को सेना के लिए पुरुष पशुओं की तो आवश्यकता होती ही है। उसे सेना के लिए घोड़ों की भी आवश्यकता होती है और दूध, घी आदि के लिए गौवों तथा गरम वस्त्रों के लिए बकरी और भेड़ों की भी आवश्यकता होती है। इसलिए एक आदर्श सेनापति इन पाँचों प्रकार के पशुओं से उपयोग लेता है और उनकी उचित पालना करता है। अतः रुद्र अर्थात् सेनापति सचमुच पशुपति होता है। यों भी किसी राज्य के सभी प्रकार के पशुओं की पालना अन्ततोगत्वा सेना और सेनापतियों पर आश्रित होती है। इस दृष्टि से भी रुद्र को पशुपति कहा जा सकता है। यहाँ पाँचों प्रकार के पशुओं का रुद्र को स्वामी बताना उसे सेनापति सूचित करता है। सामान्य सैनिक इनका स्वामी नहीं हो सकता।

सेनापति सूक्ष्मदर्शी और दूरदर्शी होना चाहिए

(9) जो रुद्र सहस्राक्ष अर्थात् हजारों आँखों की शक्ति वाला है, जो दूर की देखने वाला (अतिपश्यं) है, जो सम्मुख शत्रुओं पर शस्त्र फेंकता है और जो विद्वान् है।

रुद्र की यह दूरदर्शिता और विद्वत्ता भी उसे सेनापति ही सूचित करती है। पाठक देखेंगे कि यहाँ यह भी सुन्दरता से बता दिया गया है कि सेनापति कैसे सैनिक को बनाना चाहिए। ऊपर वर्णित शूरवीरता और तेजस्विता आदि गुणों के अतिरिक्त सेनापति को विद्वान् तथा सहस्राक्ष और अतिपश्य होना चाहिए। उसकी दो ही आँखें परिस्थितियों को ध्यान से देखकर इतना ज्ञान प्राप्त कर लेने वाली हों जितना कि सामान्य मनुष्यों की सहस्र आखें प्राप्त करती हैं। वह अतिपश्य हो, बहुत दूर की बातों को ताड़ जाने वाला हो। ऐसा कुशल सेनापति ही अपनी सेनाओं को विजय प्राप्त करा सकता है।

वेद में कहा गया है—

अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अस्त्वग्नये।

अर्थात् जो अन्न का खूब भक्षण करता है और जो अन्न पति है, उस अग्नि जैसे तेजस्वी रुद्र को नमस्कार करते हैं। रुद्र का यह वर्णन भी उसे सेनापति सूचित करता है। सामान्य सैनिक अन्नाद, पुष्टि के लिए अन्न का खूब भक्षण करने वाला और अग्नि के समान तेजस्वी तो हो सकता है पर उसमें अन्नपति विशेषण संगत नहीं होता। यह विशेषण सेनापति में बड़ी सुन्दरता से संगत होता है। उसे अपनी सेनाओं और उनके घोड़े आदि के लिए अन्न के भण्डार सम्भाल कर रखने पड़ते हैं। इसलिए वह सचमुच में अन्नपति होता है।

अपने पास वीरों को रखने वाला रुद्र

वेद में कितनी ही जगह रुद्र के लिए 'क्षयद्वीर'[1] यह विशेषण आता है। इसका अर्थ होता है—जिसके पास वीर रहते हैं। इस शब्द का उवट और महीधर ने अपने यजुर्वेद भाष्य में यही अर्थ किया है। उनके शब्द हैं—क्षयद्वीराय क्षयन्ति वसन्त्यस्मिन् वीरा इति क्षयद्वीरस्तस्मै क्षयद्वीराय (उवट:) । क्षयद्वीराय क्षयन्तो निवसन्तो वीरा: शूरा यत्र क्षयद्वीर: तस्मै (महीधर:) । इस विशेषण से यह भी द्योतित होता है कि रुद्र सेनापति है। क्योंकि सेनापति के पास ही अनेक शूरवीर पुरुष रहा करते हैं।

इतना ही नहीं। रुद्र के निम्न विशेषणों को भी जरा ध्यान से देखिए—

1. अग्न्याय ।	यजु० 16.30.
2. प्रथमाय ।	यजु० 16.30.

अर्थात्—'वह रुद्र अग्न्य अर्थात् सबसे आगे रहने वाला है ।' और 'प्रथम अर्थात् मुखिया है ।' जो रुद्र (सैनिक) अग्न्य और प्रथम होगा वह नि:सन्देह ही सेनापति होगा।

रुद्र के गण और अनीक

यही नहीं। रुद्र के अधोलिखित विशेषणों पर दृष्टिपात कीजिए—

1. गणपतिभ्य: ।	यजु० 16.25.
2. व्रातपतिभ्य: ।	यजु० 16.25.
3. वरूथिने ।	यजु० 16.35.
4. रौद्रेणानीकेन ।	यजु० 5.34.

इनमें क्रम से प्रथम तीन में रुद्र को गणपति; व्रातपति और वरूथी कहा है और अन्तिम में 'रुद्र का अनीक' ऐसा कहा गया है। पाठक पीछे देख चुके हैं कि गण और व्रात समूह को कहते हैं और मरुत् अर्थात् सैनिक लोग गणों एवं व्रातों में रहते हैं। इसलिए रुद्र को गणपति और व्रातपति कहने का स्पष्ट अर्थ हुआ कि वह सैनिकों के समूहों का सेनापति है। वरूथ भी पाठक जानते हैं कि सेना की छोटी-छोटी टुकड़ियों या गणों को कहते हैं। इसलिए वरूथी जब रुद्र को कहा गया तो इसका भी स्पष्ट यही अर्थ हुआ कि वह सेनापति है। अनीक का अर्थ सेना के छोटे-छोटे समूह, सैनिकों की श्रेणियाँ और सेना भी होता है। इसलिए रुद्र के अनीक कहने का भी स्पष्ट अभिप्राय हुआ कि उसकी सेनाएँ हैं और वह उनका सेनापति है। इस प्रकार रुद्र का सेनापति होना स्पष्ट है।

[1] उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.114.1, 2.3.10, 10.92.9; यजु० 16.48 ।

रुद्र की सेनाएँ और उनका पति रुद्र

इनसे भी बढ़कर प्रबल हेतु रुद्र को सेनापति कहने में हमारे पास यह है कि स्वयं वेद में रुद्र की सेनाओं का वर्णन आता है और रुद्र को सेनापति कहा गया है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. अन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः। ऋग्० 2.33.11.
2. नमस्ते देव सेनाभ्यः। अथ० 11.2.31.
3. अन्यमस्मत्ते नि वपन्तु सेन्यम्। अथ० 18.1.40.
4. हिरण्यबाहवे सेनान्ये। यजु० 16.17.
5. पत्तीनां पतये। यजु० 16.19.
6. आव्याधिनीनां पतये। यजु० 16.20.
7. सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च। यजु० 16.26.
8. आशुषेणाय। यजु० 16.34.
9. श्रुतसेनाय। यजु० 16.35.

इन मन्त्र-खण्डों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) हे रुद्र तेरी सेनाएँ (सेनाः) हमसे भिन्न तेरे शत्रुओं को काट डालें। (2) हे देव रुद्र तेरी सेनाओं को (सेनाभ्यः) नमस्कार हो। (3) हे रुद्र तेरे सेना दल (सेन्यं) हमसे भिन्न तेरे शत्रुओं को काट डालें। (4) जो रुद्र हिरण्यबाहु सेनापति है (सेनान्ये)। (5) जो रुद्र पैदल सेनाओं का (पत्तीनां) पति है। (6) जो रुद्र शत्रुओं को चारों ओर से बींधने वाली सेनाओं का (आव्याधिनीनां) पति है। (7) जो रुद्र सेनाएँ भी है (सेनाभ्यः) और सेनापति भी है (सेनानिभ्यः)। (8) जिस रुद्र की सेनाएँ बड़ी तीव्रगामी हैं (आशुषेणाय)। (9) जिस रुद्र की सेनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं अथवा जिसने सेनाओं सम्बन्धी सब विद्याएँ पढ़-सुन रखी हैं (श्रुतसेनाय)।

रुद्राध्याय के चतुर्थी विभक्ति के पदों का अर्थ हमने प्रथमान्त का सा कर दिया है। क्योंकि वहाँ चतुर्थी का प्रयोग केवल नमस्कार के कारण हुआ है। हमने यहाँ खाली तात्पर्यार्थ दे दिया है।

वेद के इन वर्णनों के पश्चात् किसी को सन्देह नहीं रह सकता कि रुद्र सेनापति का वाचक है। यह आचार्यवर ऋषि दयानन्द के अपूर्व पाण्डित्य की द्योतक बात है कि उन्होंने अपने वेद भाष्य में सर्वप्रथम रुद्र का एक अर्थ सेनापति भी किया है।

रुद्र मनुष्य है

रुद्र का अर्थ गौणवृत्ति से सामान्य अर्थ सैनिक है और विशिष्ट और मुख्य अर्थ सेनापति है। यह ऊपर के पृष्ठों में हमने असंदिग्ध रीति से सिद्ध कर दिया है जब रुद्र सैनिक या सेनापति हुआ तो यह स्वयं ही निष्कर्ष निकल आता है कि वह कोई अलौकिक प्राणी नहीं है, हमारे जैसा मनुष्य ही है। भेद इतना है कि वह शूर-

वीर मनुष्य है। इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

रुद्रो नृणां स्तुतः ।

ऋग्० 10.93.4.

अर्थात्—'मनुष्यों में (नृणां) रुद्र प्रशंसनीय गुणों वाला (स्तुतः) है।'

इस मन्त्र में रुद्र को मनुष्यों में से एक बताया गया है । यहाँ 'नृणां' यह निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है। जिसका अर्थ यह है कि रुद्र मनुष्यों में से एक है। 'नृणां स्तुतः' का अर्थ 'मनुष्यों द्वारा प्रशंसा किया हुआ।' ऐसा नहीं हो सकता । उस अर्थ में 'स्तुतः' के योग में 'नृणां' की जगह 'नृभिः' ऐसी तृतीया विभक्ति आती है। यहाँ 'नृणां' यह षष्ठी निर्धारण में है और इसका भाव यह है कि रुद्र मनुष्यों में से एक है और वह मनुष्य होता हुआ प्रशंसनीय गुणों वाला है। ऐसी अवस्था में रुद्र को अलौकिक देव, महादेव या वायु का अभिमानी देवता नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार ऋग्० 4.3.6. में 'रुद्राय नृघ्ने' ये शब्द आते हैं । इनका अर्थ यह है कि रुद्र नृहा अर्थात् मनुष्यों को मारने वाला है। इसका अभिप्राय यह है कि रुद्र की मनुष्यों से लड़ाइयाँ होती हैं और वह उनमें मनुष्यों को मारता है । अब, पौराणिक महादेव अथवा वायु के अभिमानी देव की तो मनुष्यों से लड़ाइयाँ होती नहीं। उनकी लड़ाइयाँ तो कल्पित असुर-राक्षसों के साथ सुनी जाती हैं। मनुष्यों से लड़ाइयाँ लड़कर उन्हें मारने वाला रुद्र मनुष्य ही हो सकता है।

रुद्र यज्ञोपवीत धारण करता है

इसी भाँति यजु० 16.17 में रुद्र को 'उपवीती' अर्थात् 'यज्ञोपवीत धारण किये हुए' बताया गया है। रुद्र का यह वर्णन भी मनुष्यों का है। यज्ञोपवीत त्रैवर्णिकों और त्रैयाश्रमिकों का चिह्न है। भला वर्णातीत और आश्रमातीत महादेव जी को इसके पहिनने की क्या आवश्यकता हो सकती है ?

मरुतों का पिता रुद्र

यहाँ रुद्र के सम्बन्ध में एक बात पर और कुछ विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वेद में कई स्थानों पर रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. पित्रे मरुताम् । ऋग्० 1.114.6.
2. पितर्मरुताम् । ऋग्० 1.114.9; 2.33.1.
3. युवा पिता स्वपा रुद्र एषाम् । ऋग्० 5.60.5.
4. रुद्रस्य सूनवो मरुतः । ऋग्० 6.50.4.
5. पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः । ऋग्० 5.52.16.
6. रुद्रस्य सूनुं मारुतं गणम् । ऋग्० 1.64.12.
7. रुद्रस्य सूनवः । ऋग्० 1.85.1; 8.20.17.

8. मारुतं शर्धो रुद्रस्य सूनूम् । ऋग्० 5.42.15.
9. मारुतं रुद्रस्य सूनुम् । ऋग्० 6.66.11.
10. रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ।
ऋग्० 2.34.2.
11. रुद्रस्य ये मीळहुषः सन्ति पुत्रा··· सेत् पृश्निः सुभ्वे गर्भमाधात् ।
ऋग्० 6.66.3.

इनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

(1) मरुतों के पिता रुद्र के लिए । (2) मरुतों के पिता हे रुद्र । (3) उत्तम कर्म करने वाला युवा रुद्र इन मरुतों का पिता है । (4) ये मरुत् रुद्र के पुत्र हैं । (5) ये शक्तिशाली मरुत् (शिक्वसः) गतिशील पुरुषार्थी और अन्न वाले (इष्मिणं)[1] रुद्र को अपना पिता कहते हैं । (6) मरुतों का गण रुद्र का पुत्र है । (7) ये मरुत् रुद्र के पुत्र हैं । (8) मरुतों के बल को (शर्धः) अर्थात् बली मरुतों को जो रुद्र के पुत्र हैं । (9) मरुतों के गण को जो रुद्र का पुत्र है । (10) छातियों पर रुक्मों वाले हे मरुतो बली रुद्र ने जोकि तुम्हें पृश्नि के ऊधस् में उत्पन्न किया है । (11) जो मरुत् सुख-मंगल सेचन में समर्थ (मीळहुषः) रुद्र के पुत्र हैं, उस पृश्नि ने जिनकी सुन्दर उत्पत्ति के लिए (सुभ्वे) गर्भ धारण किया है ।

रुद्र और मरुतों का यह पिता पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है । जब रुद्र सेनापति है और मरुत् सैनिक हैं तो उनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक नहीं हो सकता । किसी सेना के सारे सैनिक उसके सेनापति के वास्तविक पुत्र नहीं हो सकते । यदि सेनापतियों और सैनिकों में पिता-पुत्र का वास्तविक सम्बन्ध लेना आवश्यक हो तो सेनाओं का बन सकना भी असम्भव हो जाये । रुद्र और मरुतों का पिता-पुत्र का यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है किन्तु आलंकारिक है । इसमें वेद की ही साक्षी विद्यमान है । वेद में स्थान-स्थान पर मरुतों को युवा[2] अर्थात् जवान कहा गया है । इसी प्रकार रुद्र को भी वेद में युवा[3] अनेक स्थानों पर कहा है । अब यदि रुद्र और मरुतों का पिता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक हो तो दोनों का युवा होना उपपन्न नहीं हो सकता । पिता भी युवा हो और पुत्र भी युवा हो यह बात असम्भव है । पुत्र युवा होगा तो पिता अवश्य ही अधेड़ अथवा वृद्ध होगा । दोनों एक आयु के नहीं हो सकते । इसलिए असम्भव होता हुआ रुद्र और मरुतों का यह पिता-पुत्र का सम्बन्ध द्योतित करता है कि यहाँ पर सम्बन्ध वास्तविक न होकर आलंकारिक है ।

इसी सम्बन्ध में वेद की एक और साक्षी है । अभी ऊपर उद्धत ऋग्० 2.34.2 में कहा गया है कि रुद्र ने मरुतों को पृश्नि के ऊधस् में पैदा किया है । अब ऊधस् में तैयार होकर कोई बच्चा नहीं उत्पन्न हो सकता । ऊधस् माता की दूध संचित

[1] गमनवन्तमन्नवन्तं वेति सायणः ।
[2] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 1.64.3, 1.165.2.
[3] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 2.33.11, 5.60.5.

होने की थैली (udder) को कहते हैं। इस थैली में दूध तो बन सकता है, बच्चा नहीं बन सकता। बच्चा तो गर्भाशय में बनकर ही उत्पन्न हो सकता है। इससे भी स्पष्ट है कि यहाँ मरुतों की उत्पत्ति और रुद्र के साथ उनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक न होकर औपचारिक हैं।

सेनापति अपने सैनिकों को पुत्रों की भाँति समझे

रुद्र और मरुतों के इस औपचारिक पिता-पुत्र सम्बन्ध की ध्वनि यह है कि सेनापति और उसके सैनिकों में पिता-पुत्र का सा घनिष्ठ प्रेममय सम्बन्ध रहना चाहिए। सेनापति को अपने सैनिकों के सुख-दुःख की पिता की तरह चिन्ता करनी चाहिए और सैनिकों को अपने सेनापति का पिता की तरह सम्मान करना चाहिए, बड़े आदर के साथ उसकी आज्ञायें माननी चाहिए। ऊपर उद्धृत ऋग्० 5.52.16 में रुद्र को 'पिता' कहने के साथ 'इष्मी' भी कहा गया है। इष्मी का अर्थ होता है अन्न देने वाला। 'पिता' के साथ रुद्र का 'इष्मी' विशेषण रखने की यह स्पष्ट व्यंजना है कि रुद्र मरुतों की अन्नादि के द्वारा भली-भाँति पालना करने के कारण ही उनका पिता है। ब्रिटिश सेना में सेनापति (कर्नल, Colonel) जिस अभिप्राय से अपने सैनिकों को 'मेरे बालकों (माइ बौय्ज, My boys) कहता है, उसी से मिलते-जुलते अभिप्राय से वेद में रुद्र को मरुतों का पिता और मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है।

मरुतों की माता पृश्नि

ऊपर 'रुद्र ने मरुतों को पृश्नि के ऊधस् में उत्पन्न किया है', 'रुद्र के पुत्र मरुतों की सुन्दर उत्पत्ति के लिए पृश्नि ने गर्भ धारण किया है', इन वाक्यों में पृश्नि को मरुतों की माता कहा गया है। यही नहीं अन्यत्र भी वेद में अनेक स्थानों पर पृश्नि को मरुतों की माता कहा गया है। मरुतों का एक विशेषण ही 'पृश्निमातरः'[1] है जो वेद में कितनी ही बार मरुतों के लिए आया है। इस विशेषण का अर्थ होता है—'पृश्नि जिनकी माता है।' तो मरुतों की माता पृश्नि है इसका क्या अभिप्राय हुआ? पृश्नि के वेद में कई अर्थ होते हैं। पृश्नि का एक बड़ा प्रसिद्ध अर्थ भूमि होता है। श्रीसायण ने मरुत्सूक्तों में प्रायः पृश्नि का अर्थ 'नाना वर्णा भूमिः' अर्थात् 'नाना वर्णवाली भूमि' किया है। शतपथ (1.8.3.15) और तैतिरीय (1.4.1.5) ब्राह्मण में भी पृश्नि का अर्थ भूमि किया गया है। मरुत् सैनिक हैं, राष्ट्र से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए अधिराष्ट्र अर्थ में भूमि का अर्थ किसी राष्ट्र की भूमि अर्थात् उस राष्ट्र की 'मातृ-भूमि' होगा। अब मरुतों को 'पृश्निमातरः' कहने का अभिप्राय बड़ा सुन्दर बन जाता है। मरुत् अपने राष्ट्र की भूमि को माता समझने वाले हैं। वे अपनी मातृ-भूमि से प्रेम करने वाले हैं।

[1] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 1.38.4, ऋग्० 1.85.2.

इससे सैनिकों के एक गुण पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है । सेना में ऐसे व्यक्ति भरती करने चाहिए जो पृश्नि अर्थात् अपने देश की भूमि को माता समझने वाले हों, जो मातृ-भूमि के प्रेम से प्रेरित होकर उसकी रक्षा के लिए सैनिक का कठोर जीवन व्यतीत करने के लिए उद्यत हुए हों। ऐसी भावना वाले सैनिक जैसी पूर्ण तत्परता से अपने राष्ट्र की रक्षा का कार्य कर सकेंगे वैसी तत्परता की आशा केवल धन की इच्छा से प्रेरित होकर सैनिक बनने वाले व्यक्तियों से नहीं की जा सकती।

इस प्रकार 'पृश्नि का ऊधस्' का अभिप्राय अब बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। रुद्र अर्थात् सेनापति अपने नियन्त्रण में रखकर सैनिकों को सैनिक बनाता है। और अपने राष्ट्र की धरती माता अपने में उत्पन्न हुए उन सैनिकों (मरुतों) का अपनी छाती में पैदा होने वाले सुमधुर जल, फल, अन्न, ओषधि आदि रूप दुग्ध से पालन-पोषण और संवर्धन करती है।

4

रुद्र और इन्द्र

यजुर्वेद के छठे अध्याय के बत्तीसवें मन्त्र में 'इन्द्राय रुद्रवत' अर्थात् 'रुद्र वाले इन्द्र के लिए' ऐसा कहकर रुद्र का इन्द्र के साथ सम्बन्ध बताया गया है। इन्द्र रुद्रवान् है इस कथन से रुद्र और इन्द्र का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध प्रकट होता है। इन्द्र रुद्र को अपने पास रखता है और रुद्र इन्द्र के पास रहता है ऐसा इस कथन का अर्थ है। दूसरे शब्दों में इन्द्र रुद्र का 'स्वामी' है और रुद्र इन्द्र का 'स्व' है। इन्द्र का अर्थ अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् होता है यह पाठक जानते हैं। रुद्र का अर्थ अभी दिखाया जा चुका है कि वह सेनापति है। 'इन्द्र रुद्रवान् है' का सीधी भाषा में यह अर्थ हुआ कि सम्राट् के पास सेनापति रहते हैं। जब, जैसाकि हम पीछे देख आये हैं, सम्राट् (इन्द्र) 'मरुत्वान्' है—उसके पास सेनाएँ रहती हैं—तो वह 'रुद्रवान्' भी होगा—उसके पास सेनापति भी रहेंगे ही। बिना सेनापतियों के सेनाएँ नहीं बन सकतीं।

इन्द्र राज्य के अन्यान्य विभागों के निरीक्षण के साथ-साथ सेना विभाग या युद्ध-विभाग का प्रत्यक्ष प्रबन्ध और संचालन स्वयं नहीं कर सकता। किसी भी एक व्यक्ति में राज्य के सभी विभागों का सीधा प्रबन्ध और संचालन अकेले स्वयं कर सकने की शक्ति नहीं हो सकती। इसलिए सम्राट् को राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का प्रबन्ध और संचालन करने के लिए अपने पास सहायक रखने की आवश्यकता होगी। सम्राट् इन सब सहकारियों के ऊपर निरीक्षण और शासन रखेगा। सेना-विभाग अथवा युद्ध-विभाग का प्रबन्ध और संचालन करने के लिए वह जो अपने अधीन अपना सहकारी नियत करेगा वह भी रुद्र कहा जायेगा। इन्द्र का यह सहकारी इन्द्र का ही प्रतिनिधि और उसी का एक रूप होगा। इसलिए यह अन्ततोगत्वा राष्ट्र की सारी सेनाओं के प्रबन्ध और व्यवस्था का इन्द्र के प्रति उत्तरदाता होगा। चाहे सम्राट् के इस सहकारी को स्वयं युद्ध में जाकर लड़ने की आवश्यकता न पड़े पर फिर भी इसके हाथ में सारी सेनाओं का अन्तिम प्रबन्ध, संचालन और शासन होगा। आजकल की लोकभाषा में सम्राट् के सहकारी सेना-विभाग के इस अन्तिम और प्रधान अधिकारी को युद्ध-सचिव, युद्ध-मन्त्री, युद्धामात्य आदि नामों से कहा जाता है। वेद की भाषा में इसका नाम भी रुद्र ही होगा और

इससे यह भी सूचित होता है कि इस युद्ध-मन्त्री को भी युद्ध शास्त्र का पूरा पण्डित होना चाहिए। रुद्र को 'रुद्रवान्' कहने की यह सब व्यंजना है।

वेद के अनेक सूक्तों[1] और मन्त्रों में इन्द्र के युद्धों का वर्णन आता है। इन्द्र स्वयं युद्ध-भूमि में जाकर लड़ता है और सेनाओं का संचालन करता है। इन्द्र स्वयं सेनापति प्रतीत होता है और यहाँ हमने सेनापति रुद्र को ठहराया है। इस विरोध का परिहार कैसे होगा? वेद के दोनों प्रकार के वर्णनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। सेनापति तो रुद्र ही है। परन्तु इन्द्र सम्राट् होने के कारण युद्ध-विभाग का भी अन्तिम उत्तरदाता है। इन्द्र में, उसके सम्राट् होने के कारण, राज्य के सभी विभाग और कार्य एकीभूत हो जाते हैं। इसलिए जब रुद्र युद्ध कर रहा होता है तो एक प्रकार से इन्द्र ही युद्ध कर रहा होता है। इन्द्र की इच्छा और सहायता के बिना रुद्र युद्ध कर नहीं सकता। इसलिए सब युद्ध अन्ततोगत्वा तो इन्द्र ही करता है। इस प्रकार इन्द्र सेनापति (रुद्र) के भी ऊपर एक परम सेनापति है। जब वेद में ऐसे वर्णन मिलें जिनमें इन्द्र को युद्ध करता हुआ बताया गया है, तब उन वर्णनों का यह अर्थ समझना चाहिए कि इन्द्र अपने मरुतों (सैनिकों) और रुद्रों (सेनापतियों) द्वारा युद्ध कर रहा है। साथ ही इन्द्र को युद्ध करता हुआ दिखाकर वेद ने यह भी ध्वनित कर दिया है कि सम्राट् को भी युद्ध-कला का ज्ञाता होना चाहिए जिससे संकट के समय वह भी युद्ध-क्षेत्र में जाकर लड़ सके और सेनाओं का संचालन कर सके। इसके साथ ही इन्द्र को सेनापति के रूप में उपस्थित करके वेद ने एक आदर्श सेनापति के गुणों पर भी और अधिक प्रकाश डाल दिया है।

1 उदाहरण के लिए देखिये—अथ० 19.13, ऋग्० 10.103 सूक्त और यजु० 17.33.51 मन्त्र।

5

सैनिकों का अभिषेक

राजा का वरण हो जाने के पश्चात् उसका अभिषेक करके—यज्ञपूर्वक विशेष स्नान कराके—उसे राजसिंहासन पर बिठाया जाता है। इसी प्रकार मरुत्सूक्तों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि सैनिकों को सेना में प्रविष्ट करने के समय उनका भी अभिषेक होना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये :—

1. त उक्षितासो महिमानमाशत। ऋग्० 1.85.2.
2. साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिताः श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः। ऋग्० 5.55.3.

अर्थात्, (1) वे मरुत् अभिषेक स्नान करके (उक्षितासः),[1] महिमा को प्राप्त हो गये हैं। (2) हे सुन्दर उत्पत्ति वाले नर मरुत् एक साथ उत्पन्न हुए हैं और एक साथ इनका अभिषेक स्नान हुआ है (उक्षिताः) इस प्रकार ये शोभा और गौरव के लिए (श्रिये) खूब बढ़ गये हैं।

दूसरे मन्त्र में यह जो कहा है कि 'ये सुन्दर उत्पत्ति वाले एक साथ उत्पन्न हुए हैं' इसका भाव यह है कि अनेक सैनिकों को एक साथ अभिषेक कराके सैनिक के जीवन में दीक्षित किया जाता है। उनकी एक साथ उत्पत्ति की और किसी प्रकार व्याख्या नहीं हो सकती। उद्धृत दोनों मन्त्रों में सैनिकों के अभिषेक का वर्णन है। एक मन्त्र में कहा है कि ये अभिषेक सैनिक महिमा को प्राप्त करते हैं और दूसरे में कहा है कि ये सैनिक अभिषिक्त होकर श्री अर्थात् शोभा और गौरव को प्राप्त करते हैं। दोनों का तात्पर्य एक ही है। आदर्श सैनिक जीवन की जो महिमा, जो शोभा और गौरव है वह उन्हें उक्षित होने के, अभिषिक्त होने के, पश्चात् ही प्राप्त होते हैं। मरुताभिषेक हुए बिना—सैनिक बनने के लिए आवश्यक दीक्षा-स्नान हुए बिना—किसी व्यक्ति को सेना में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। यज्ञार्थ किया हुआ पवित्र स्नान और मन्त्र-पाठ-पूर्वक यजमान पर पवित्र जल छिड़कना इस दोनों ही अर्थों में अभिषेक शब्द का प्रयोग होता है। किसी भी विधि से हो, मन्त्र-पाठ-पूर्वक जल स्पर्श करके सैनिक जीवन के लिए दीक्षित होना किसी सैनिक के लिए आवश्यक है।

[1] अभिषिक्ताः सन्त इति सायणः। उक्ष सेचने।

सैनिकों का यह 'समुक्षण' या 'अभिषेक' वेद-मन्त्र-पाठ-पूर्वक होना चाहिए इसकी सूचना स्वयं मरुत्सूक्तों में मिलती है। ऋग्० 5.56.5 में मरुतों के लिए कहा गया है कि 'स्तोमैः समुक्षितानाम्' अर्थात् 'ये सैनिक स्तोमों द्वारा 'समुक्षित या अभिषिक्त' किये गये हैं।' अब, स्तोम वेद-मन्त्रों के समूहों को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सैनिकों का अभिषेक वेद-मन्त्र-पाठ-पूर्वक होना चाहिए। हम सैनिकों के कर्तव्यों का वर्णन करने वाले मन्त्रों का संग्रह करके इस 'मारुताभिषेक' की विस्तृत यज्ञ-विधि बना सकते हैं।

सैनिकों को सेना में प्रविष्ट होते समय एक लोकोपकारी गण का अंश बनना होता है। लोकोपकार की किसी भावना को दृढ़ करने और उसके लिए आवश्यक कर्तव्य-कर्मों में सदा डटे रहने से संकल्प को बद्धमूल करने के लिए किसी संस्कार-समारोह का करना बड़ा सहायक हुआ करता है। विभिन्न धर्मों और संगठनों में विभिन्न बातों को करने के लिए इसीलिए विभिन्न संस्कारों या समारोहों की पद्धतियाँ बनाई जाती हैं। बाह्य क्रियाकलाप आन्तरिक भावनाओं को दृढ़ करता है यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी बात को ध्यान में रखकर वेद ने सैनिकों के लिए यह अभिषेक पद्धति बताई है। अभिषेकपूर्वक सैनिक जीवन में दीक्षित होना सैनिकों में क्षत्रियोचित परोपकार की ऊँची भावनाएँ भरने में भारी सहायक होगा। 'सेना में प्रविष्ट होते समय मैं एक लोक-कल्याणकारी उदात्त उद्देश्यों वाले गण का अंग बन रहा हूँ' ऐसी ऊँची और गौरवान्वित भावना मन में भरने से सैनिक सचमुच महिमा-शाली और श्रीसम्पन्न हो जायेंगे। इसलिए ऊपर मन्त्रों में कहा है कि अभिषिक्त होकर मरुत् महिमा को प्राप्त करते हैं और उनकी श्री बढ़ जाती है।

हमारे मन में पवित्र भावना भरने या हमारे मन को पवित्र भावनाओं को ग्रहण करने के अनुकूल बनाने में जितने भौतिक पदार्थ सहायक हो सकते हैं उनमें जल का सबसे ऊँचा स्थान है। जल स्नान मनुष्य के जीवन को कुछ समय के लिए सर्वथा और का और बना देता है। यह अनुभव की बात है। इसलिए कोई दीक्षा लेते समय वेद ने जलाभिषेकविधि को स्वीकार किया है और इसलिए वेद की यह अभिषेक विधि बौद्धों की संघ-दीक्षा, ईसाइयों के बपतिस्मा और सिखों के पौहल आदि में स्वीकार कर ली गई है। विशेष पवित्र कार्य करने के समय प्रायः सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में अभिषेक की प्रथा पाई जाती है।

प्राचीन महाभारतादि आर्य इतिहासों में सेनापति के अभिषेक के जो वर्णन पाये जाते हैं उनका मूल यही वेद का मारुताभिषेक है।

6

सैनिकों के सम्बन्ध में कुछ निर्देश

सैनिक मातृभूमि के भक्त होने चाहिए

ऊपर पाठक देख चुके हैं कि वेद में पृश्नि को मरुतों की माता कहा गया है। वेद में मरुतों का एक नाम ही 'पृश्निमातरः' आता है। यह नाम वेद में कोई 14 बार[1] प्रयुक्त हुआ है। उनके लिए 'पृश्नेः पुत्राः' (ऋग्० 5.58.5) अर्थात् 'पृश्नि के पुत्र' इस प्रकार के शब्द भी कई स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्० 1.85.3 में मरुतों को 'गोमातरः' अर्थात् 'गौ को माता समझने वाले' ऐसा भी कहा गया है। पृश्नि का अर्थ हम ऊपर देख आये हैं कि किसी राष्ट्र की मातृभूमि होता है। गौ का भी एक अर्थ भूमि संस्कृत साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसलिए 'गोमातरः' का अर्थ भी भूमि को माता समझने वाले ऐसा हुआ। इस पद का अर्थ करते हुए श्रीसायण ने भी गौ का अर्थ भूमि ही किया है और सैनिक के सम्बन्ध में भूमि का अर्थ किसी राष्ट्र की मातृभूमि करना होगा यह स्पष्ट ही है। जैसाकि हम ऊपर दिखा आये हैं मरुतों के इस प्रकार के वर्णनों द्वारा वेद ने यह बताया है कि आदर्श सैनिक वे हैं जो अपने देश को अपनी माता और अपने को उसके पुत्र समझकर उसकी रक्षा की भावना से प्रेरित होकर, सेना में प्रविष्ट हुए हैं। केवल वेतन के लोभ से प्रेरित होकर सेना में प्रविष्ट होने वाले सैनिक निकृष्ट कोटि के हैं। जिस त्याग की आशा किसी 'पृश्नि-माता' सैनिक से की जा सकती है वह किसी 'अर्थ-दास' सैनिक से नहीं की जा सकती।

युवा पुरुषों को ही सेना में प्रविष्ट करना चाहिए

वेद के कोई आठ स्थलों में मरुतों के लिए 'युवानः'[2] ऐसा विशेषण आता है। जिस अवस्था में शरीर के अंग-प्रत्यंग परिपूर्ण हो चुके होते हैं और मानसिक शक्तियों का विकास भी सम्पूर्ण हो चुका होता है, बाल्यावस्था के पश्चात् आने वाली,

[1] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 1.23.10, 1.38.4, 1.85.2, 1.87.7, 5.57.2, 5.57.3, 5.59.6, 8.7.3, 8.7.17; अथ० 4.27.2, 5.21.11, 13.1.3, 13.3.23; यजु० 25.20।

[2] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 1.64.3, 1.165.2, 1.167.6, 5.57.8, 8.20.17, 8.20.18, 5.58.3, 6.49.1।

उस अवस्था को यौवन कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र के भारतीय पण्डितों ने 25 वर्ष की आयु को यौवन की आयु निश्चित किया है। मरुतों को युवा कहकर वेद ने यह उपदेश दिया है कि बालकों को सेना में प्रविष्ट नहीं करना चाहिए, यौवन प्राप्त पुरुषों को ही सेना में भरती करना चाहिए।

किसी भी वंश का व्यक्ति सैनिक बन सकता है

भारतीय इतिहास के पौराणिक युग में वैदिक वर्णव्यवस्था के शुद्ध रूप को लोग भूल गये थे। वैदिक वर्णव्यवस्था में चातुर्वर्ण्य जन्म पर आश्रित नहीं होता। वहाँ चातुर्वर्ण्य गुण, कर्म और स्वभाव पर आश्रित होता है। परन्तु पौराणिक काल में लोग चातुर्वर्ण्य को जन्म पर आश्रित मानने लग पड़े। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहे जाने वाले माता-पिता की सन्तान ही ब्राह्मणादि कही जायेगी ऐसी धारणा पौराणिक काल में बन गई। इसके अनुसार क्षत्रिय कहे जाने वाले वंशों के लोग ही सैनिक बन सकते थे। दूसरे वंशों के लोग नहीं, चाहे उनमें शूर-वीरता आदि के क्षत्रियोचित गुण कितनी ही मात्रा में उपस्थित क्यों न हों। परन्तु वेद इस बात को नहीं मानता है। वेद के अनुसार किसी भी वंश का व्यक्ति, यदि उसमें शूर-वीरता आदि क्षत्रियोचित गुण हैं तो, क्षत्रिय कहलायेगा और उसे सेना में भरती होने का अधिकार होगा। वेद के अनुसार ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र पिता का पुत्र भी क्षत्रियोचित गुण पैदा कर लेने पर क्षत्रिय कहलायेगा और इसलिए उसे सेना में सैनिक बनने का अधिकार भी होगा। वेद के मरुतों के लिए 'विश्वकृष्टयः'[1] ऐसा एक विशेषण आता है। निघण्टु (2.3) में 'कृष्टि' का अर्थ मनुष्य किया गया है। 'विश्वकृष्टयः' पद के अर्थ दो प्रकार से हो सकते हैं। एक तो 'विश्वे च ते कृष्टयश्च' अर्थात् 'जो सारे ही मनुष्य हैं' और, दूसरा 'विश्वे कृष्टयः येषु ते' अर्थात् 'जिनमें सारे ही मनुष्य हैं।' अर्थ करने के ये दो प्रकार मात्र हैं। तात्पर्य दोनों प्रकार का एक ही है। अर्थात् राष्ट्र के सारे ही मनुष्य मरुत् हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में किसी के ऊपर जन्म का कोई बन्धन नहीं है। किसी का जन्म किसी भी घर में, क्यों न हुआ हो, सैनिक का जीवन सबके लिए खुला है। जिसमें भी सैनिक बनने की योग्यता होगी वही अपना मारुताभिषेक कराके सैनिक बन सकता है। और वस्तुतः सेना के लिए सैनिकों के छाँटने का क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा उतने ही अधिक बढ़िया सैनिक राष्ट्र को प्राप्त हो सकेंगे। यदि सैनिक बनना जन्म के क्षत्रियों पर रख दिया जाये तो सैनिकों के छाँटने का क्षेत्र बड़ा सीमित हो जाता है। उस अवस्था में बहुत से ऐसे व्यक्ति सेना में न लिए जा सकेंगे जो यदि लिये जा सकते तो बड़े बढ़िया योद्धा सिद्ध होते। वेद ने गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्णव्यवस्था रखकर मनुष्यमात्र के लिए जो सैनिक बन सकने का मार्ग खोल दिया है उससे किसी भी समय राष्ट्र की सेनाओं को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वीर योद्धा प्राप्त हो सकेंगे।

[1] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 3.26.5, 10.92.6, 1.169.2।

केवल मरुतों का 'विश्वकृष्टयः' ऐसा नाम आने से ही उपर्युक्त परिणाम नहीं निकलता। वेद में इसके लिए इससे भी स्पष्ट वर्णन आता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. को वेद जानमेषाम् । ऋग्० 5.53.1.
2. न किर्ह्येषां जनंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम् ।
ऋग्० 7.56.1.

अर्थात्—(1) इन मरुतों के जन्म को (जानं) कौन जानता है। (2) इनके जन्मों को (जनूंषि) कोई भी नहीं जानता, हाँ, वे अपनी एक साथ हुई (मिथः) उत्पत्ति या जन्म को (जनित्रम्) को जानते हैं।

प्रथम मन्त्र के प्रश्न का व्यंग्य यह है कि इनके जन्म को कोई भी नहीं जानता। क्योंकि किसी को इनका माता-पिता से होने वाला शारीरिक जन्म जानने की आवश्यकता ही नहीं है। इनके तो केवल शौर्य, वीर्य आदि क्षत्रियोचित पराक्रम के गुण ही देखे जाते हैं। सो इनमें भरपूर मात्रा में हैं। दूसरे मन्त्र में भी इसी अभि-प्राय से कहा गया है कि इनके जन्मों को कोई नहीं जानता। इसी भाव को दृढ़ करने के लिए दूसरे मन्त्र में यह भी कहा गया है कि स्वयं वे सैनिक भी अपने साथी दूसरे सैनिकों के साथ मिलकर हुई अपनी उत्पत्ति को ही जानते हैं। उन्हें अपने जन्म के विषय में इतना ही मालूम है कि अन्य सैनिकों के साथ उनका 'मारुताभिषेक' करके उन्हें सैनिक क्षत्रिय बनाया गया है, इसलिए वे क्षत्रिय हैं। अपने शारीरिक जन्म की उन्हें चिन्ता नहीं है। इसलिए वे उसे स्मरण नहीं रखते।

कैसे गुणों वाले पुरुष को सेना में भरती किया जाये

अभी ऊपर हमने देखा है कि वेद के अनुसार सेना में प्रविष्ट होने के लिए जन्म का कोई बन्धन नहीं है। किसी भी माता-पिता के यहाँ उत्पन्न होने वाला व्यक्ति सैनिक बन सकता है यदि उसमें सैनिक बन सकने की योग्यता हो। मरुत्सूक्तों में सैनिकों के अनेक ऐसे विशेषण आये हैं जिनसे इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि जिन व्यक्तियों को सेना में प्रविष्ट किया जाये उनमें किस प्रकार के गुण होने चाहिए। नीचे हम ऐसे कुछ थोड़े से विशेषण गिनाते हैं। वेद में मरुतों के इन विशेषणों की अनेक बार आवृत्ति हुई है। हम यहाँ केवल उनका एक-एक स्थान का पता दे रहे हैं—

1. **उग्राः** (ऋग्० 1.19.4)—जिनमें स्वभाव से उग्रता हो।
2. **अनाधृष्टासः ओजसा** (ऋग्० 1.19.4)—जो अपने ओज के कारण किसी से धर्षण न किये जा सकें। जिन्हें कोई दबा न सके।
3. **स्वभानवः** (ऋग्० 1.37.2)—जिनमें अपना स्वाभाविक तेज हो।
4. **सुक्षत्रासः** (ऋग्० 1.19.5)—जो उत्कृष्ट क्षत्रिय हों। जिनमें क्षत्रियो-चित उत्कृष्ट गुण हों।

5. **शुष्मिणे** (ऋग्० 1.37.4)—जो बली हों।
6. **त्वेषद्युम्नाय** (ऋग्० 1.37.4)—जिनके लिए तेजस्विता ही धन हो। जिन्हें धन की उतनी चिन्ता न हो जितनी अपने भीतर बल और तेज सम्पादन करने की हो।
7. **घृष्वये** (ऋग्० 1.37.4)—जिनमें से तेज झर-झर कर निकलता हो।
8. **अमवन्तः** (ऋग्० 1.38.7)—जो चलने-फिरने वाले और बली हों। अर्थात् जिनमें इतना बल हो कि कभी चलने-फिरने में थकावट न मानें।
9. **त्वेषाः** (ऋग्० 1.38.7)—जिनमें इतना तेज हो कि उन्हें त्वेष अर्थात् तेज के पुतले कहा जा सके।
10. **वीळुपाणिभिः** (ऋग्० 1.38.11)—जिनके हाथ बड़े दृढ़ हों।
11. **पनस्युम्** (ऋग्० 1.38.15)—जिनकी सैनिकोचित गुणों के कारण स्तुति की जा सके अथवा जो व्यवहारशील हों, आलस्य में न रहते हों।
12. **अर्किणम्** (ऋग्० 1.38.15)—जिनकी सैनिकोचित गुणों के कारण पूजा की जा सके।
13. **असाम्योजः** (ऋग्० 1.39.10)—जिनमें अतुल ओज हो।
14. **असामि शवः** (ऋग्० 1.39.10)—जिनमें शरीर को गति और वृद्धि देने वाला बल अतुल हो।
15. **धूतयः** (ऋग्० 1.39.10)—जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को कंपा डालने वाले हों।
16. **सुदानवः** (ऋग्० 1.39.10)—जो उत्कृष्ट दानी हों। जो अपनी किसी भी शक्ति को लोगों के उपकार के लिए देने में उद्यत रहते हों। यहाँ तक कि अपने प्राणों को भी दे डालें।
17. **वृष्णे** (ऋग्० 1.64.1)—जो दूसरों के उपकार के लिए अपनी शक्तियों को बरसा देने वाले हों।
18. **विदथेष्वाभुवः** (ऋग्० 1.64.1)—जो युद्धों में खड़े रह सकें। जिन्हें युद्धों से भय न लगता हो।
19. **ऋष्वासः** (ऋग्० 1.64.2)—जो महान् हों। जिनकी प्रत्येक बात में उदारता हो, बड़प्पन हो।
20. **असुराः** (ऋग्० 1.64.2)—जो प्राणशाली हों, जिनका सांस शीघ्र न फूल जाता हो। अथवा जो प्रतिद्वन्द्वियों को मार भगाते हों।
21. **उक्षणः** (ऋग्० 1.64.2)—जो दूसरों के भले के लिए अपनी सब शक्तियों को सींच डालने वाले हों। यहाँ तक कि अपने लहू को भी सींच छोड़ें।
22. **अरेपसः** (ऋग्० 1.64.2)—जो पाप से परे रहते हों।
23. **शुचयः सूर्या इव** (ऋग्० 1.64.2)—जो बाहर और भीतर से स्वच्छ

रहते हों जैसे कि सूर्य निर्मल रहता है।

24. **पावकाः** (ऋग्० 1.64.2)—जो दूसरों को पवित्र बनाने वाले हों। जिनकी संगति में आकर लोग अच्छे बनते हों, बिगड़ते न हों।
25. **सत्वानः** (ऋग्० 1.64.2)—जिनमें साहस तथा सत्ता हो।
26. **अनन्तशुष्माः** (ऋग्० 1.64.10)—जिनका बल कभी समाप्त न होवे।
27. **विचर्षणिम्** (ऋग्० 1.64.12)—जो अपने क्षेत्र की प्रत्येक बात को ध्यान से देखने वाले, समझने वाले हों।
28. **स्वधया जज्ञिरे** (ऋग्० 1.64.4)—जो स्वधा के साथ उत्पन्न हुए हों। अर्थात् जिनमें स्वधा अर्थात् अपने शरीर को धारण करने वाली शक्ति सदा रहती है। धारणशक्ति जिनके शरीर को कभी न छोड़े। जिनमें सदा अपना बल रहता हो।
29. **स्वतवसः** (ऋग्० 1.64.7)—जिनमें अपना स्वाभाविक बल हो अथवा जिनमें आत्मबल हो।
30. **रघुष्यदः** (ऋग्० 1.64.7)—जिनमें शीघ्र चलने की शक्ति हो।
31. **अहिमन्यवः** (ऋग्० 1.64.8)—जिन्हें शत्रु पर सांप की तरह क्रोध आता हो।
32. **शूराः** (ऋग्० 1.64.9)—जो शूर हों, जिन्हें कटने-काटने में भय न लगता हो।
33. **प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयः** (ऋग्० 1.85.1)—जो स्त्रियों और घोड़ों की तरह दीखते हों। इस उपमा का भाव यह है कि जिनमें बल, शक्ति, तेजी और फुर्तीलापन तो घोड़ों जैसा हो और जिनमें सुशीलता, नम्रता और मृदुता स्त्रियों जैसी हो। एक आदर्श सैनिक का वेद का यह चित्र अद्भुत है।
34. **वीराः** (ऋग्० 1.85.1)—जिनमें वीरता हो, पराक्रम हो।
35. **मदन्ति विदथेषु** (ऋग्० 1.85.1)—जिन्हें युद्धों में आनन्द आता हो, जो युद्धों से घबराते न हों।
36. **जनयन्त इन्द्रियम्** (ऋग्० 1.85.2)—जिनकी प्रत्येक इन्द्रिय शक्तिशाली हो।
37. **सत्यशवसः** (ऋग्० 1.86.8)—जिनका बल कभी झूठा न पड़ता हो, व्यर्थ न जाता हो अथवा जो अपने बल को जितना है उतना ही सच-सच बताने वाले हों।
38. **प्रचेतसः** (ऋग्० 1.64.8)—जो समझदार हों।
39. **मनोजुवः** (ऋग्० 1.85.4)—जो मननशील हों।
40. **पिशा इव सुपिशः** (ऋग्० 1.64.8)—जो रूप की भाँति सुन्दर रूप वाले हों। उपमा का तात्पर्य यह है कि जो अति सुन्दर हों, जिनके शरीर

का एक-एक अवयव सुन्दर हो और सुगठित हो।

41. त्वेष-संदृशः (ऋग्० 1.85.8)—जिनका शरीर दीप्तिमान् दीखता है।
42. प्रत्वक्षसः (ऋग्० 1.87.1)—जिनमें ऐसा बल हो कि शत्रु को छील डाले।
43. अनानतः (ऋग्० 1.87.1)—जो किसी के आगे दबाव से झुकते न हों।
44. अविथुराः (ऋग्० 1.87.1)—जो भय और पीड़ा आदि किसी भी बात से डगमगाते न हों।
45. जुष्टतमासः (ऋग्० 1.87.1)—जो अत्यन्त प्रीति के योग्य हों । जिन्हें देखकर प्रीति करने को जी चाहे।
46. नृतमासः (ऋग्० 1.87.1)—जिनमें मनुष्योचित गुण अतिशय मात्रा में हों।
47. अभीरवः (ऋग्० 1.87.6)—जो निडर हों।
48. क्रीळयः (ऋग्० 1.87.3)—जो खेलने में रुचि रखते हों।
49. विधावतः (ऋग्० 1.88.5)—जो दौड़ने वाले हों।
50. शुभंयावानः (ऋग्० 1.89.7)—जिनकी चाल बड़ी अच्छी हो। जिनकी चाल में लड़खड़ाना, लंगड़ाना आदि न हो।
51. चन्द्रवर्णाः (ऋग्० 1.165.12)—जो चन्द्रमा की भाँति मनोहर कान्तिमान् हों।
52. दूरेदृशः (ऋग्० 5.59.2)—जो दूर तक देखने वाले हों। जिनकी आँखों की शक्ति बड़ी तीव्र हो।
53. मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितार आसभिः (ऋग्० 1.166.11)—जो धीमी, मधुर और सुन्दर वाणी बोलने वाले हों।
54. धृष्णुना शवसा शूशुवांसः (ऋग्० 1.167.9)—जिनका बल प्रतिद्वन्द्वियों का धर्षण कर सकता हो, उन्हें दबा सकता हो।
55. स्वजाः (ऋग्० 1.168.2)—जिनमें सैनिकोचित गुण स्वभाव से उत्पन्न हुए हों।
56. अहिमानवः (ऋग्० 1.172.1)—जो सांप की तरह तेजस्वी हों।
57. अग्नयो न शुशुचानाः (ऋग्० 2.34.1)—जो अग्नि की भाँति तेज से धधकते हों।
58. हिरण्यवर्णान् (ऋग्० 2.34.11)—जो सुवर्ण की तरह कान्तिमान् हों।
59. शुभे संमिश्लाः (ऋग्० 3.26.4)—जो शुभ कर्मों में लगे रहने वाले हों। जिन्हें अशुभ कर्म करने की रुचि और अभ्यास न हो।
60. विप्राः (ऋग्० 3.47.4)—जो बुद्धिमान् हों।
61. नरः श्रेष्ठतमाः (ऋग्० 5.61.1)—जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्य हों । जिनमें मनुष्योचित गुण अतिशय मात्रा में हों।

62. पृष्ठे सदः (ऋग्० 5.61.2)—जिनकी पीठ में शरीर को सम्भाल कर रखने वाला बल हो। अर्थात् जिनका मेरुदण्ड झुका हुआ न हो, सीधा हो। जो सीधे तनकर चलते हों।
63. नसोर्यमः (ऋग्० 5.61.2)—जिनकी नासिका में वश में किया हुआ प्राण हो। जो नासिका से सांस लेते हों और यह सांस जिनका सदा वश में रहता हो, कभी फूलता न हो।
64. ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति (ऋग्० 5.52.2)—जो स्थिर बल के मित्र हों। अर्थात् जिनका बल कभी क्षीण न होता हो। ऐसा आदर्श बली शरीर जिनका हो।
65. सहः (ऋग्० 5.57.6)—जिनमें सहन शक्ति हो।
66. बाह्वीः बलं हितम् (ऋग्० 5.57.6)—जिनकी भुजाओं में बल हो।
67. स्वया मत्या (ऋग्० 5.58.5)—जो अपनी स्वाभाविक मननशील बुद्धि से युक्त हों।
68. वृद्धशवसः (ऋग्० 5.87.6)—जिनका बल खूब बढ़ा हुआ हो।
69. क्रुध्मी मनांसि (ऋग्० 7.56.8)—जिनके मन शत्रु पर क्रोध करने वाले हों।
70. अनवद्यासः (ऋग्० 7.57.5)—जिनमें कोई निन्दा की बात न हो।
71. सान्तपनाः (ऋग्० 7.59.9)—जो शत्रु को तपा डालते हों और स्वयं उग्र स्वभाव के हो।
72. तविषीयवः (ऋग्० 8.7.2)—जो सदा अपना बल बढ़ाने की इच्छा रखते हों। 'तविषी' का अर्थ बल के अतिरिक्त बलशाली सेना भी होता है। तव इस विशेषण का अर्थ यह होगा कि जो सेना में प्रविष्ट होने की स्वाभाविक इच्छा रखते हों।
73. चित्रवाजान् (ऋग्० 8.7.33)—जिनमें अद्भुत बल हो।
74. शिमीवताम् (ऋग्० 8.20.3)—जो कर्मशील हों।
75. सूर्यत्वचः (ऋग्० 7.59.11)—जो सूर्य की भाँति तेजस्वी त्वचा वाले हों।
76. अभिद्यवः (ऋग्० 10.77.3)—जिनमें से स्वाभाविक दीप्ति प्रकट होती हो।
77. वातासो न जिगत्नवः (ऋग्० 10.78.3)—जो वायुओं की भाँति खूब गतिशील हों। चलने में कभी थकते न हों।
78. अश्वासो न आशवः (ऋग्० 10.78.5)—जो घोड़ों की भाँति शीघ्रगामी और दौड़ने वाले हों।
79. आर्दर्दिरासो अद्रयो न विश्वहा (ऋग्० 10.78.6)—जो सदा ही पर्वतों की भाँति शत्रुओं को तोड़ने वाले हों। जैसे पहाड़ से टक्कर मारने

वाली वस्तु स्वयं ही टूटकर चकनाचूर हो जाती है वैसे ही जिनके साथ टकराकर विरोधी लोग चकनाचूर हो जाते हों। जो ऐसे वली हों।

80. **गभीराः** (ऋग्० 6.75.9; यजु० 29.46)—जो गम्भीर वृत्ति के हों। जिनके स्वभाव में उथलापन, छछोरापन न हो।

81. **शिशुला न क्रीडयः** (ऋग्० 10.78.6)—जो बच्चों की भाँति खेलने में रुचि रखते हों। खेलने में रुचि का गुण दिखाने के लिए ऊपर भी क्रीडयः विशेषण दिया जा चुका है। यहाँ इसे पुनः इसलिए दिया गया है कि इसके साथ यहाँ बच्चों की उपमा है। इस उपमा की ध्वनि यह है कि जैसे बच्चों के मन राग-द्वेषादि से सर्वथा स्वच्छ और निष्कपट एवं सरल होते होते हैं वैसे ही जिनके मन स्वच्छ, सरल और निष्कपट हों वे व्यक्ति सैनिक बनने के लिए आदर्श हैं।

82. **सुमातरः** (ऋग्० 10.78.6)—जिनकी माताएँ उत्कृष्ट हों। जिन्हें बचपन में उत्तम माताओं द्वारा उत्तम लालन-पालन और शिक्षा प्राप्त हुई हो।

83. **अमृध्राः** (ऋग्० 6.75.9; यजु० 29.46)—जो अहिंसक हों। जिनके स्वभाव में हिंसा नहीं है। शत्रु को दण्डित करके सीधे मार्ग पर लाने के लिए वे भले ही क्रोध धारण कर लें।

84. **मानासः** (ऋग्० 1.171.5)—जो मान के पुतले हों। जिन्हें अपने मान का बहुत अधिक ध्यान हो। इसीलिए जो कभी अपने कर्तव्य से न गिरते हों, कभी अपने वचन का भंग न करते हों। जो कह दिया उसे करने वाले हों।

85. **पूतदक्षसः** (ऋग्० 8.94.7)—जिनका बल बड़ा पवित्र हो। जिनका बल किसी अपवित्र पाप के काम में न लगता हो।

86. **मत्सराः** (अथ० 7.77.3)—जो सदा प्रसन्न रहते हों।

87. **मादयिष्णवः** (अथ० 7.77.3)—जो औरों को हर्षित करने वाले हों। जिनका बल दूसरों को क्लेशित करने में न लगकर उन्हें सुखी और प्रसन्न करने में लगता हो।

किस प्रकार के लोगों को सेना में प्रविष्ट किया जाय इसका एक आदर्श ऊपर दिये गये मरुतों के विशेषणों में वर्णित कर दिया गया है। यदि किसी राष्ट्र को पूर्ण आदर्श सेना का निर्माण करना हो तो उसे इस प्रकार के आदर्श गुणों को अपने में रखने वाले क्षत्रियों को सेना में प्रविष्ट करना होगा। और ऐसे आदर्श सैनिकोचित गुणों वाले व्यक्ति प्राप्त करने के लिए प्रवेश-प्रार्थी व्यक्तियों के जीवन का पूर्ण इतिहास अधिकारियों को जानना आवश्यक होगा। और इसीलिए शिक्षणालयों आदि में व्यक्तियों का पूर्ण जीवन-इतिहास रखने का प्रबन्ध भी राष्ट्र को करना होगा।

यह एक आदर्श है। जितना-जितना हमारे सैनिक बनाना चाहने वाले व्यक्ति

इस आदर्श के अधिक समीप पहुँचेंगे उतना-उतना ही हमारी सेनाएँ अधिक आदर्श बन सकेंगी।

सैनिक बनने वाले व्यक्ति शिक्षा-प्राप्त हों

मरुत्सूक्तों का अध्ययन करने से एक और बात सैनिक बनना चाहने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह ज्ञात होती है कि वे उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होने चाहिए। पाठक यों भी जानते हैं कि वैदिक धर्म के अनुसार प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को क्रमानुसार आश्रमों में से गुजरना होता है। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का है। 24 वर्ष की आयु तक कम से कम प्रत्येक वर्ण के पुरुष को ब्रह्मचारी रहना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम में तृण से लेकर परमात्मा तक सब पदार्थों की विद्याएँ पढ़ना आवश्यक होता है। प्रत्येक वर्ण के ब्रह्मचारी को अपने वर्ण के सामाजिक कर्तव्यों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का अध्ययन विशेष प्रकार से तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन सामान्य रीति से करना होता है। इससे भी स्पष्ट है कि सैनिक बनना चाहने वाले व्यक्ति भी 24 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहकर अनेक विद्याओं का पर्याप्त गहरा अध्ययन कर चुके होंगे। इसके अतिरिक्त मरुत्सूक्तों में भी सैनिकों के अनेक ऐसे विशेषण आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि सैनिक बनना चाहने वाले व्यक्तियों को पर्याप्त उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न कुछ विशेषण देखिये—

1. महामनूषत श्रुतम्। — ऋग्० 1.6.6.
2. ये महो रजसो विदुः। — ऋग्० 1.19.3.
3. सूनवो गिरः। — ऋग्० 1.37.10.
4. विदथेषु आभुवः। — ऋग्० 1.64.1.
5. ते जज्ञिरे दिवः। — ऋग्० 1.64.2.
6. जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः। — ऋग्० 1.64.4.
7. विश्ववेदसः। — ऋग्० 1.64.8.
8. विदथेषु धृष्वयः। — ऋग्० 1.166.2.
9. सुप्रकेतेभिः। — ऋग्० 1.171.6.
10. विप्राः। — ऋग्० 3.47.4.
11. ऋतजाताः। — ऋग्० 5.61.14.
12. ऋतज्ञाः सत्यश्रुतः कवयः। — ऋग्० 5.58.8.
13. को वो महांति महतामुदश्नवत् कस्काव्या मरुतः को ह पौंस्या। — ऋग्० 5.59.4.
14. ऋतेन सत्यं ऋतसाप आयन्। — ऋग्० 7.56.12.
15. निचेतारः। — ऋग्० 7.57.2.
16. सुश्रवस्तमान्। — ऋग्० 8.20.20.

17. विप्रासो न मन्मभिः । ऋग्० 10.78.1.
18. प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः । ऋग्० 10.78.2.
19. सुशर्माणो न सोमाः । ऋग्० 10.78.2.
20. ग्रावाणो न सूरयः । ऋग्० 10.78.6.
21. विदथेषु जग्मयः । यजु० 25.20.
22. सोमासो न सुताः । ऋग्० 1.168.3.
23. ते ऋतस्य सदनेषु वावृधुः । ऋग्० 2.34.13.
24. दिवो मर्याः । ऋग्० 5.59.6.
25. दिवस्पुत्रासः । ऋग्० 10.77.2.

इन मन्त्रखण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) इन मरुतों ने महान् शास्त्रों की (श्रुतं) स्तुति की है अर्थात् उनका अध्ययन किया है। (2) जो महान् लोक-लोकान्तरों की (रजसः) बातों को जानते हैं। (3) ये मरुत् वाणी के पुत्र हैं।

पाठक इस ग्रन्थ में कई स्थानों पर देख चुके हैं कि वेद में वाणी शब्द का प्रयोग बहुत स्थलों पर विद्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ मरुतों को वाणी के पुत्र कहा गया है। इसका यही अभिप्राय है कि उन्होंने गुरु-मुख से अनेक विद्याएँ सुनी हैं। वे अपने गुरुओं के विद्या-पुत्र हैं।

(4) वे ज्ञानों में रहने वाले हैं।

पिछले खण्ड में हमने विदथ का यह अर्थ किया था कि जो युद्धों में ठहर सकें, युद्धों से डरें नहीं। परन्तु वेद में विदथ का एक बड़ा प्रसिद्ध अर्थ ज्ञान भी होता है। ज्ञान अर्थ में इस विशेषण का यही अर्थ बनेगा कि जो ज्ञानों में रहते हैं। अर्थात् जो अनेक प्रकार के विद्या-विज्ञान जानते हैं।

(5) वे मरुत् वानप्रस्थाश्रम से (दिवः) अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में जाकर विद्या पढ़ाने वाले गुरुओं से उत्पन्न हुए हैं।

हमने मन्त्र में प्रयुक्त 'दिवः' शब्द का अर्थ 'वानप्रस्थाश्रम से' ऐसा किया है। वानप्रस्थियों के वानप्रस्थाश्रमों में चल रहे गुरुकुलों में जाकर विद्याध्ययन करने से मानो इनका नया जन्म होता है। इसीलिए कहा है कि ये वानप्रस्थाश्रम से उत्पन्न होते हैं। शिक्षा प्राप्ति के कारण यह दूसरा जन्म होने के कारण ही शास्त्रों में त्रैवर्णिकों को द्विज कहा जाता है।

(6) ये नर मरुत् अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा (स्वधया) वानप्रस्थाश्रम से (दिवः) अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में जाकर विद्या पढ़ाने वाले गुरुओं से उत्पन्न हुए हैं।

'स्वधया' का अर्थ अन्न भी होता है। इस अर्थ में मन्त्र का भाव यह होगा कि ये सैनिक वानप्रस्थाश्रम का अर्थात् वानप्रस्थी गुरुओं का अन्न खाकर उत्पन्न हुए हैं। दोनों अर्थों का तात्पर्य एक ही है। वह यह कि ये वानप्रस्थियों के गुरुकुलों में रहकर तैयार हुए हैं।

(7) ये सब बातों का ज्ञान रखते हैं। (8) ये ज्ञानों के क्षेत्र में (विदथेषु) बड़े तेजस्वी हैं। (9) ये उत्तम ज्ञान रखने वाले हैं। (10) ये अनेक आवश्यकताओं को पूरा करने वाले विद्वान् (विप्राः) हैं। (11) ये पदार्थों के यथार्थ ज्ञान (ऋत) से उत्पन्न हुए हैं। वेद में कवयः (हरेक बात का गहरा ज्ञान रखने वाले क्रान्तदर्शी विद्वान्) और वेधसः (भाँति-भाँति की बातों का निर्माण करने वाले विद्वान्) विशेषणों का प्रयोग भी हुआ है। (12) ये वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान को जानते हैं (ऋतज्ञाः), सत्य को इन्होंने सुन रखा है (सत्यश्रुतः), और ये क्रान्तदर्शी ज्ञानी हैं। (13) हे महान् मरुतो तुम्हारे महान् और तह तक पहुँचने वाले गहरे ज्ञानों (काव्या) और महान् बलों को (पौंस्या) कौन जानता है अर्थात् उनकी महिमा कोई नहीं पा सकता। (14) ये मरुत् यथार्थ ज्ञान के साथ मिलकर रहने वाले (ऋतसापः) हैं, इन्होंने यथार्थ ज्ञान के द्वारा (ऋतेन) सत्य को प्राप्त किया है। (15) ये प्रत्येक वस्तु को बहुत अच्छी तरह जानने वाले हैं। (16) इनके पास गुरुओं से सुना हुआ सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है (सुश्रवस्तमान्)। (17) ये मनन किये हुए ज्ञानों के कारण (मन्मभिः) मेधावी विद्वानों जैसे हैं। (18) ये प्रत्येक बात को भली-भाँति जानने वाले विद्वानों (प्रज्ञातारः) की तरह सबसे प्रधान (ज्येष्ठाः) रूप में नीतियों को जानने वाले (सुनीतयः) हैं। (19) जैसे स्नातक (सोमाः) मंगलदायी होते हैं वैसे ही ये मंगलदायी हैं।

हमने यहाँ सोम का अर्थ स्नातक किया है। वेद में सोम का एक अर्थ गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त स्नातक भी होता है। जिस मन्त्र से प्रस्तुत मन्त्र खण्ड को उद्धृत किया गया है उसमें अनेक उपमाओं द्वारा मरुतों के ज्ञान-प्रकर्ष को ही बताया जा रहा है। इसलिए वहाँ सोम का अर्थ स्नातक ही अधिक उपयुक्त होता है। यहाँ इस उपमा का तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य ब्राह्मणादि वर्णों के स्नातक मंगलदायी होते हैं वैसे ही ये सैनिक भी मंगलदायी हैं क्योंकि ये भी स्नातक हैं। भाव यह है कि जैसा स्नातकों को होना चाहिए वैसे ही ये हैं। इस प्रकार इस उपमा से मरुतों का गुरुकुलों में जाकर विद्याध्ययन करके स्नातक (सोम) बनना स्पष्ट प्रकट होता है।

(20) जैसे विद्या का उपदेश करने वाले अध्यापक लोग (ग्रावाणः) विद्वान् (सूरयः) होते हैं वैसे ही ये मरुत् भी विद्वान् हैं।

हमने 'ग्रावा' का अर्थ अध्यापक किया है।

(21) ये ज्ञान-सभाओं में (विदथेषु) जाने वाले हैं। (22) जैसे स्नातक (सोमाः) तैयार किये जाते हैं (सुताः) वैसे ही इन्हें भी तैयार किया गया है। (23) वे मरुत् यथार्थ ज्ञान (ऋतस्य) को देने वाले स्थानों में (सदनेषु) बढ़कर बड़े हुए हैं।

मन्त्र में प्रयुक्त 'ऋतस्य सदनेषु' शब्द स्पष्ट सूचना दे रहे हैं कि मरुत् लोग सत्यज्ञान के केन्द्र गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त करते-करते बड़े हुए हैं।

(24) वे वानप्रस्थाश्रमों के (दिवः) अर्थात् उनमें पलकर तैयार होने वाले मनुष्य (मर्याः) हैं।

(25) वे वानप्रस्थाश्रमों के (दिवः) पुत्र हैं अर्थात् वहाँ पल और बढ़कर तैयार होते हैं।

इस प्रकार पाठकों ने देखा कि मरुतों के ज्ञान-प्रकर्ष को बताने वाले तथा उनके गुरुकुल निवास की सूचना देने वाले इन विशेषणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि जो लोग सेना में भर्ती किये जाएँ उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। इन विशेषणों में सैनिकों का जो ज्ञान-प्रकर्ष बताया गया है वह शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त किये बिना नहीं हो सकता। इसलिए उनका गुरुकुलों में उच्च शिक्षा ग्रहण करना असंदिग्ध है। उद्धत मन्त्रों में उनके गुरुकुल निवास की ओर स्पष्ट संकेत भी कर दिया गया है।

इस प्रकार वेद के अनुसार सैनिकों को अशिक्षित और अबोध नहीं रखना चाहिए। उन्हें सब विषयों की पूर्ण शिक्षा मिलनी चाहिए। पूर्ण शिक्षित व्यक्ति ही आदर्श क्षत्रिय बन सकेंगे। और हमारी सेनाओं के सैनिक जितने ही आदर्श क्षत्रिय होंगे उतनी ही हमारी सेनाएँ आदर्श सेनाएँ बन सकेंगी।

सैनिक गृहस्थ होने चाहिए

वेद का अध्ययन करने से सैनिकों के सम्बन्ध में अगली जो बात पता लगती है वह यह है कि सैनिक बनना चाहने वाले लोगों को गृहस्थ होना चाहिए। इस सम्बन्ध में मरुतों के जो विशेषण और वर्णन आये हैं उन्हें देखिए—

1. प्र तं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति।
   सचा यदी वृषमणा अहंयुः स्थिराचिज्जनीर्वहते सुभागाः॥
   ऋग्० 1.167.7.
2. गृहमेधासः। ऋग्० 7.59.10.
3. भद्रजानयः। ऋग्० 5.61.4.
4. सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम्। ऋग्० 7.56.14.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) इन मरुतों की वर्णन करने योग्य जो सच्ची महिमा है उसका मैं वर्णन करता हूँ, वह यह है कि इनसे मिलकर (सचा) संसार पर सुख की वर्षा करने की इच्छा वाली (वृषमणाः)[1] अहंकार से भरी हुई (अहंयुः)[2] और स्थिर मनोवृत्ति वाली भी (स्थिरा चित्) पत्नियाँ (जनीः) सौभाग्यशाली सन्तानों को (सुभागाः) धारण करती हैं (वहते)। (2) ये मरुत् गृहस्थ (गृहमेधासः) हैं। (3) ये मरुत् भद्रशीला पत्नियों वाले (भद्रजानयः) हैं। (4) हे मरुतो जो गृहस्थों को दिया जाता है (गृहमेधीयं) जो घर में रखा जाता है (दम्यं) और जो हजारों की संख्या में दिया जाता है अथवा

[1] वर्षणमनस्का इति सायणः।
[2] अहंकारवती इति सायणः।

जो हजारों का पालन कर सकता है (सहस्रियं)[1] ऐसे अपने इस भाग का (भागं) प्रीतिपूर्वक सेवन करो (जुषध्वम्)।

मरुतों के इन वर्णनों से स्पष्ट है कि सैनिकों को विवाहित गृहस्थ होना चाहिए। अन्तिम मन्त्र में मरुतों को प्रीतिपूर्वक सेवन करने के लिए जो भाग दिया जा रहा है वह उनको भरण-पोषण के लिए दिये जाने वाले वेतन का सूचक है। और मन्त्र में आया भाग का 'सहस्रियं' यह विशेषण सूचित करता है कि सैनिकों को वेतन आदि पुष्कल मात्रा में मिलना चाहिए जिससे वे निश्चिन्तता के साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

नारी का एक उदात्त चित्र

उद्धृत ऋग्० 1.167.7 मन्त्र में स्त्रियों के लिए 'वृषमणाः' 'अहंयुः' और 'स्थिरा' ये तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इनमें एक आदर्श स्त्री का बड़ा सुन्दर चित्र खिंचा गया है। वह 'वृषमणाः' हो, अपनी शक्तियों का विकास करके उनके द्वारा संसार पर सुख की वर्षा करने की इच्छा वाली हो। आदर्श स्त्रियों से बढ़कर संसार पर सुख की वर्षा और कोई नहीं कर सकता। वह 'अहंयुः' हो, उसे अपने गुणों का समुचित अभिमान होना चाहिए। उसे जिस किसी के हाथ बिक जाने वाली अकिंचन वस्तु अपने आपको नहीं समझना चाहिए। वह 'स्थिरा' हो, उसका मन और देह दृढ़ और बलिष्ठ हो। वह न किसी प्रलोभन में बहे और न ही किसी के बलात्कार से दबने वाली हो। कैसा ऊँचा है वैदिक नारी का आदर्श। मन्त्र में 'चित्'—भी—अव्यय का प्रयोग करके सैनिकों की महिमा को भी बहुत ऊँचा करके दिखा दिया गया है। जो स्त्रियाँ वृषमणा, अहंयुः और स्थिरा हैं वे भी इन मरुतों से विवाह करके उनके संग में (सचा) रहना चाहती हैं। पाठक इस मन्त्र की कविता के रस का पान भी जरा करें। कितनी उदात्त है परम कवि की कविता।

सेना में प्रविष्ट सैनिकों का आदर्श

ऊपर हमने मरुतों के ऐसे विशेषणों का संग्रह करने का प्रयत्न किया है जिनसे सैनिकों के उन गुणों पर प्रकाश पड़ता है जो सेना में प्रविष्ट होने से पूर्व उनमें पाये जाने चाहिए। उनमें से अधिकांश विशेषण ऐसे हैं जो सैनिकों के मानसिक और शारीरिक स्वभाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को बताते हैं। ये स्वभाव-जन्य अवस्थाएँ स्वभावतः ही सैनिकों के जीवन में आरम्भ काल से ही दृष्टिगोचर होने लगेंगी। और इसीलिए हम कह सकते हैं ये सहज अवस्थाएँ सैनिकों के ऐसे गुणों को प्रकट करती हैं जो सैनिकों में सेना में प्रविष्ट होने से पहले ही पाई जानी चाहिए। वस्तुतः आरम्भ से दृष्टिगोचर होने वाली ये मानसिक और शारीरिक स्वभाव की विभिन्न अवस्थाएँ

[1] सहस्रसंख्याकमिति सायणः।

ही निश्चित करेंगी कि अमुक व्यक्ति क्षत्रिय वर्ण का है अथवा नहीं। जिसमें ये होंगी वह क्षत्रिय वर्ण का कहलायेगा और जिसमें न होंगी वह क्षत्रिय न कहा जाकर किसी अन्य वर्ण का कहा जायेगा। और जो क्षत्रिय होंगे उन्हें ही सेना में प्रविष्ट किया जायेगा। यहाँ हम सैनिकों के कुछ ऐसे विशेषणों और वर्णनों का संग्रह करना चाहते हैं जिनसे इस बात पर प्रकाश पड़ेगा कि सेना में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् सैनिकों की सैनिक योग्यता का आदर्श कितना ऊँचा रहना चाहिए।

ऊपर सैनिकों की सेना में प्रविष्ट होने से पूर्व की जो योग्यता बताई गई है उसको सेना में प्रविष्ट होने के पश्चात् भी स्थिर रखने का पूर्ण प्रवन्ध सेनाधिकारियों को करना होगा। न केवल स्थिर रखने का प्रत्युत उसे वढ़ाने का प्रयत्न भी सेनाधिकारियों को करना होगा। क्योंकि जिस योग्यता के कारण उन्हें सैनिक जीवन के लिए चुना गया है वह योग्यता सेना में प्रविष्ट होने के पश्चात् नष्ट नहीं होने दी जा सकती। उसे तो स्थिर रखना, प्रत्युत बढ़ाना भी, होगा। और इसके लिए सेनाधिकारियों को विशेष प्रयत्नशील रहना होगा। क्योंकि यह मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव है कि यदि उन्हें स्थिर रखने और वढ़ाने का प्रयत्न न किया जाये तो मनुष्य की स्वाभाविक योग्यताएँ भी नष्ट हो जाती हैं। जिस सेना के सैनिकों में उपर्युक्त योग्यताओं को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जायेगा उस सेना के सैनिकों की सैनिक योग्यता का आदर्श कितना ऊँचा होगा यह सोचकर रोमांच होता है।

सेना में प्रविष्ट सैनिकों की योग्यता का आदर्श कितना ऊँचा रहना चाहिए इस पर और प्रकाश डालने के लिए हम नीचे सैनिकों के कुछ नये विशेषणों और वर्णनों को उद्धृत करते हैं—

1. वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिद् वह्निभिः। ऋग्० 1.6.5.
2. विश्वे देवासो अद्रुहः। ऋग्० 1.19.3.
3. ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासः। ऋग्० 1.19.5.
4. यद् यूयं पृश्निमातरो स्यातन।
   स्तोता वो अमृतः स्यात्॥ ऋग्० 1.38.4.
5. युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी। ऋग्० 1.39.2.
6. असामि हि प्रयज्यवः। ऋग्० 1.39.9.
7. वनिनं विचर्षणिम्। ऋग्० 1.64.12.
8. जुष्टतमासः। ऋग्० 1.87.1.
9. विरप्शिनः। ऋग्० 1.87.1.
10. विदथेषु जग्मयः। ऋग्० 1.89.7.
11. स्वतवसः। ऋग्० 1.166.2.
12. विश्ववेदसः। ऋग्० 5.60.7.
13. चित्रवाजान्। ऋग्० 8.7.33.
14. वातासो न स्वयुजः। ऋग्० 10.78.2.

15. वातासो न धुनयो जिगत्नवः ।	ऋग्० 10.78.3.
16. जिगीवांसो न शूराः ।	ऋग्० 10.78.4.
17. संवत्सरीणाः ।	अथ० 7.77.3.
18. कृच्छ्रेश्रितः ।	ऋग्० 6.75.9.
19. शक्तीवन्तः ।	ऋग्० 6.75.9.
20. इषुबलाः ।	ऋग्० 6.75.9.
21. तिग्ममायुधं मरुताम् ।	ऋग्० 8.96.9.
22. व्रातसाहाः ।	ऋग्० 6.75.9.
23. वृषव्रातासः ।	ऋग्० 1.85.4.
24. ग्रामजितः ।	ऋग्० 5.54.8.
25. भीमसंदृशः ।	ऋग्० 5.56.2.
26. धुनिव्रतम् ।	ऋग्० 5.58.2.
27. अपारो वो महिमा स्थातारो हि प्रसितौ ।	ऋग्० 5.87.6.
28. अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चः ।	ऋग्० 7.56.16.
29. त्रातारो भूत पृतनास्वर्यः ।	ऋग्० 7.56.22.
30. स्थिरा चिन्नमयिष्णवः ।	ऋग्० 8.20.1.
31. पूतदक्षसः ।	ऋग्० 8.94.10.
32. सचेतसः ।	अथ० 5.21.12.
33. विश्वचर्षणिः ।	अथ० 4.32.4; ऋग्० 10.83.4.
34. विद्मनापसः ।	ऋग्० 1.31.1.
35. मरुतां पृत्सुतिर्हासमाना ।	ऋग्० 1.169.2.
36. मरुतो येन वृत्रहन्तमं ज्योतिरजनयन् ।	यजु० 20.30.
37. महामनसां भुवनच्यवानाम् ।	यजु० 17.41.
	अथ० 19.13.10.
38. मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।	अथ० 4.27.7.
39. यूयमुग्रा मरुतः ।	अथ० 3.1.2.

नीचे इन मन्त्रखण्डों का अर्थ क्रम से दिया जा रहा है—

(1) जो मरुत् दृढ़ से दृढ़ दुर्ग आदि को तोड़ गिराने वाले हैं और गुप्त से गुप्त स्थानों में पड़ी हुई वस्तुओं को उठा लाने वाले हैं।

सेना के सैनिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वे शत्रुओं के दृढ़ दुर्गों को भी तोड़ डालें और उन्हें ऐसा चतुर बनाना चाहिए कि वे शत्रु के गुप्त से गुप्त स्थानों का पता लेकर वहाँ से उनकी वस्तुओं को उठा लावें।

(2) ये मरुत् सबके सब देव हैं अर्थात् व्यवहार-निपुण और विजय की इच्छा रखने वाले हैं तथा आपस में कभी द्रोह नहीं करते हैं।

सैनिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिएं जिससे वे युद्धोपयोगी सब व्यवहारों

में निपुण हो जायें और उनके मनों में सदा विजय करने की इच्छा रहे। साथ ही उन्हें आपस में ईर्ष्या-द्वेष आदि द्रोह की वृत्तियों को छोड़कर प्रेम से मिलकर रहने की शिक्षा मिलनी चाहिए। सैनिकों को विजयी बनाने में उनमें पारस्परिक प्रेम होना नितान्त आवश्यक है।

(3) जो मरुत् शुभ गुणों वाले, उत्तम क्षत्रिय और घोर रूप वाले हैं (घोरवर्पसः)।

सैनिकों को उत्तम क्षत्रिय एवं सैनिकोचित शुभ्र गुणों का धनी बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। 'उनका रूप घोर होना चाहिए' का भाव यह है कि उन्हें शस्त्रों और अस्त्रों से सज्जित रखकर शत्रुओं के लिए घोर रूप वाला बनाये रखना चाहिए। यह घोर रूपवत्ता शारीरिक नहीं है। क्योंकि पीछे हम देख चुके हैं कि उनका वर्ण चन्द्र जैसा आह्लादक होना चाहिए।

(4) भूमि माता के पुत्र हे मरुतो जब तुम मर जाते हो तो तुम्हारा स्तुतिकर्ता अमर हो जाता है।

भाव यह है कि सैनिक इतने गुणशाली होने चाहिए कि जब वे राष्ट्र के लिए लड़ते-लड़ते मर जायें तो उनके गुणों का गान करके उनके स्तुतिकर्त्ता इतिहास लेखक और कवि अमर कीर्ति कमा जायें।

(5) हे मरुतो तुम्हारी बलवती सेना (तविषी) बड़ी प्रशंसनीय हो।

सैनिकों को इतनी पूर्ण और आदर्श रीति से शिक्षित करना चाहिए कि उनसे बनी सेना की सर्वदा प्रशंसा हो।

(6) ये ऐसे प्रयज्यु अर्थात् संघटन में मिलकर रहने वाले हैं कि इनकी कोई तुलना नहीं कर सकता।

'प्रयज्यु' शब्द 'यज' धातु से बनता है जिसका अर्थ देवपूजा, संगति और दान होता है। सैनिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे अपने से गुणी सैनिकों और सेनापतियों का आदर करें, स्वयं परस्पर प्रेम से मिलकर रहें और अपने से कम योग्यता वाले साथियों को सदा अपनी योग्यता का दान करने को उद्यत रहें।

(7) ये मरुत् संभक्तिशील अर्थात् मिलकर रहने वाले और बाँटकर खाने वाले हैं और प्रत्येक बात को अच्छी तरह जानने वाले हैं (विचर्षणिम्)।

सैनिकों का जहाँ संभक्ति का जीवन हो वहाँ उन्हें युद्ध सम्बन्धी प्रत्येक बात का पूरा ज्ञान होना चाहिए।

(8) ये अत्यन्त प्रीति से मिलकर रहने वाले और परस्पर की सेवा करने वाले हैं।

(9) ये बड़े महान् हैं।

सैनिकों को सैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात की शिक्षा इतनी पूर्ण दी जानी चाहिए कि वे प्रत्येक क्षेत्र में महान् हो जाएँ।

(10) ये मरुत् युद्धों में जाने वाले हैं।

सैनिकों को युद्ध के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली शिक्षा इतनी अच्छी तरह मिलनी चाहिए कि उन्हें किसी भी समय और किसी भी युद्ध में विश्वासपूर्वक भेजा जा सके।

(11) ये मरुत् स्वयं ही नियम में रहने वाले हैं।

सैनिकों को नियम पालन का इतना गहरा अभ्यास कराया जाना चाहिए कि वह उनकी प्रकृति का अंग बन जाये जिससे नियम-पालन के लिए उन्हें कहने की आवश्यकता न पड़े। वे स्वयं ही सब नियमों का पालन करते चले जाएँ।

(12) ये मरुत् सब कुछ जानने वाले हैं।

सैनिकों को युद्ध के प्रत्येक अंग की पूर्ण शिक्षा मिलनी चाहिए। युद्ध और सैनिक जीवन सम्बन्धी कोई बात उनसे अज्ञात नहीं रहनी चाहिए।

(13) इन मरुतों में अद्‌भुत बल है।

सेना में प्रविष्ट सैनिकों का बल सदा बढ़ता ही रह सके ऐसा प्रबन्ध सेनाधिकारियों को करना चाहिए। एक-एक सैनिक अद्‌भुत बलशाली हो जाये ऐसा यत्न होना चाहिए।

(14) ये मरुत् वायुओं की भाँति स्वयं ही अपने कामों में लगे रहने वाले हैं।

सैनिकों का जीवन इतना आदर्श नियम-परायण बनाया जाना चाहिए कि वे वायु की भाँति स्वयं ही अपने कर्तव्य-कर्मों में लगे रहें। उन्हें टोकने की आवश्यकता न पड़े।

(15) ये सैनिक वायुओं की भाँति शत्रुओं को कंपाने वाले और सदा गतिशील हैं।

सैनिकों को इतना युद्ध-निपुण वीर बनाया जाना चाहिए कि शत्रु उन्हें देख कर कांपने लगें। साथ ही सैनिकों के जीवन में आलस्य नहीं घुसने देना चाहिए। उन्हें वायु की भाँति गतिशील रखना चाहिए।

(16) ये मरुत् विजयी शूरों की भाँति शूर हैं।

अपने सैनिकों को सदा विजयी शूर बनाये रखने का प्रयत्न होना चाहिए।

(17) ये मरुत् संवत्सरीण हैं।

'सम्वत्सर' शब्द से व्याकरण की रीति से 'अधीष्ट' और 'भृत' अर्थ में 'ख' प्रत्यय होकर 'संवत्सरीण' शब्द बनता है। संवत्सर भर जो 'अधीष्ट' हों अर्थात् जिनको सत्कारपूर्वक रखकर कार्य में लगाया जाये और समय पर आवश्यकता पूर्ति के लिए जिनकी इच्छा की जाये तथा जो संवत्सर भर 'भृत' हों अर्थात् जिनका भरण-पोषण किया जाये वे सम्वत्सरीण कहलाएँगे। इस विशेषण का भाव यह है कि सैनिकों को वर्ष-भर सत्कारपूर्वक रखना चाहिए, कभी किसी सैनिक का अनादर नहीं करना चाहिए और उनका सदा भली-भाँति भरण-पोषण होना चाहिए। इसके साथ ही उनको वर्ष-भर ऐसा तैयार रखना चाहिए कि जब कभी कहीं से संकट से रक्षा करने के लिए उनके बुलाने की इच्छा की जाये तभी उन्हें वहाँ भेजा जा सके।
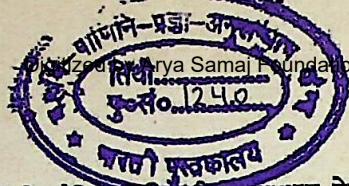
(18) ये सैनिक कठिनाई का आश्रय लेने वाले हैं अथवा कठिनाई में इनका आश्रय लिया जाता है।

पहले अर्थ का यह भाव होगा कि सैनिकों से कठिनाई के, परिश्रम के, काम कराये जाने चाहिए जिससे वे आलसी, विलासी और कष्ट से घबराने वाले न हो जाएँ। दूसरे अर्थ में यह भाव होगा कि उन्हें ऐसा कुशल सैनिक बनाना चाहिए कि कठिनाई के समय प्रजा के लोग उनका आश्रय ले सकें।

(19) ये सैनिक शक्तिशाली हैं अथवा शक्ति नामक शस्त्रों को धारण करने वाले हैं। (20) इन सैनिकों के बाण ही इनका बल हैं। (21) इन मरुतों के शस्त्र बड़े तीखे हैं।

इन तीनों विशेषणों का भाव यह है कि सैनिकों को सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों के चालन में निपुण बनाये रखना चाहिए। यहाँ निर्देश के रूप में ये विशेषण उद्धृत कर दिये गये हैं। शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में अधिक आगे लिखा जायेगा।

(22) ये सैनिक शत्रुओं के समूहों का पराभव करने वाले हैं। (23) इन मरुतों के समूह बड़े बली हैं। (24) ये मरुत् शत्रुओं के ग्रामों को जीत लेने वाले हैं।

इन विशेषणों का भी तात्पर्य यही है कि सेनाधिकारियों को ऐसा प्रयत्न रखना चाहिए कि सैनिक बड़े बली, वीर और शत्रुओं के समूहों और नगरों को जीतने वाले हों।

(25) ये मरुत् भयानक दीखने वाले हैं।

सैनिक ऐसे वीर और शस्त्र-निपुण हों कि उन्हें देखकर ही शत्रु को डर लगे।

(26) इन मरुतों का शत्रुओं को कंपाना ही व्रत है।

सैनिक ऐसे होने चाहिए जो शत्रु को कंपा सकें। इस बात के लिए सैनिक व्रत लेकर लड़ने वाले हों।

(27) हे मरुतो तुम्हारी महिमा अपार है, तुम सदा नियमों के बन्धन में रहते हो।

सैनिकों को ऐसा योग्य बनाना चाहिए कि शत्रुओं को उनकी महिमा दीखे। सैनिकों की महिमा को अपार बनाने वाला एक आवश्यक गुण नियम में बँधकर चलना होता है। उन्हें नियमों के बन्धन में रहने की पूर्ण शिक्षा दी जानी चाहिए।

(28) जो मरुत् सतत-गामी घोड़ों की भाँति सुन्दर चलने वाले हैं।

सैनिकों को घोड़ों की भाँति शीघ्र, देर तक लगातार तथा सुन्दर चाल से चलना सिखाना चाहिए।

(29) हे मरुतो तुम शत्रु की सेनाओं से अपने राष्ट्र की रक्षा करने वाले हो।

अपने राष्ट्र के सैनिक इतने कुशल रहने चाहिए जो शत्रु की सेनाओं से रक्षा कर सकें।

(30) ये मरुत् स्थिर अर्थात् कठोर और दृढ़ रुकावटों को भी अपने आगे झुका डालने वाले हैं।

सैनिकों को ऐसा बनाया जाना चाहिए कि दृढ़-से-दृढ़ शत्रु भी उनके आगे झुक जाये।

(31) ये मरुत् पवित्र बल वाले हैं।

सैनिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे अपने बल से कोई भी अपवित्र कार्य न कर सकें।

(32) ये मरुत् समान चित्त वाले हैं।

सैनिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वे सब बातों को एक-चित्त होकर सोचें, विचारें और करें।

(33) यह शत्रुओं पर गिरने वाला सैनिकों का क्रोध सब कुछ जानने वाला है।

जिस सूक्त से यह विशेषण लिया गया है उसमें शत्रुओं पर गिरने वाले सैनिकों के क्रोध को अलंकार से पुरुष की भाँति सम्बोधन किया गया है। तात्पर्यार्थं उस सूक्त का यही है कि आदर्श सैनिक कैसे होने चाहिए। इसलिए उद्धृत विशेषण का भाव भी यही है कि सैनिकों को युद्ध सम्बन्धी सब बातों का पूर्ण ज्ञान कराया जाना चाहिए।

(34) ये मरुत् सब कर्मों को जानते हैं।

ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि सैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक कर्म का ज्ञान सैनिकों को पूर्ण रीति से हो।

(35) मरुतों की सेना सदा हँसने वाली है।

सैनिकों का जीवन इस प्रकार का रखना चाहिए कि वे सदा हँसते रहें, उनके समीप कभी कोई दुःख-क्लेश न फटक सके।

(36) जिस इन्द्र (सम्राट्) की सहायता से मरुतों ने वृत्र को अर्थात् हमारी उन्नति और सुख में बाधा डालने वाले शत्रुओं को बुरी तरह मारने वाली ज्योति उत्पन्न की है।

सैनिक इतने शिक्षित होने चाहिए कि वे शत्रु का बुरी तरह हनन कर सकें।

(37) ये मरुत् महान् मन वाले और भुवन को हिला डालने वाले हैं। (38) मरुतों का बल सेनाओं में बड़ा उग्र है। (39) हे उग्र शक्ति वाले मरुतो शत्रुओं को मार डालो।

इन वाक्यों का यही तात्पर्य है कि युद्धोपयोगी सब शिक्षाएँ देकर सैनिकों के मन महान् बना डाले जाएँ, वे इतनी कुशलता से लड़ने वाले हों कि भुवन को हिला डालें, सेनाओं में जाकर वे उग्र पराक्रम दिखाने वाले और शत्रुओं को मार डालने वाले हों।

वेद के अनुसार सैनिक जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए यह वेद के इन और ऊपर दिये गये वर्णनों से पाठकों को भली-भाँति विदित हो गया होगा।

सैनिक समान आयु के होने चाहिए

ऋग्वेद 1.165.1 में मरुतों के लिए 'सवयसः' ऐसा विशेषण आया है। 'सवयसः' का अर्थ होता है समान आयु वाले। इससे यह सूचित होता है कि सैनिकों की आयु एक समान होनी चाहिए। एक समान आयु का अभिप्राय समझ लेना चाहिए। किसी राष्ट्र की समग्र सेना के सैनिकों की आयु तो एक समान हो नहीं सकती। जो सैनिक किसी निश्चित वर्ष से पूर्व के वर्षों में सेना में प्रविष्ट हुए हैं उनकी आयु निश्चय ही उस निश्चित वर्ष में प्रविष्ट होने वाले सैनिकों से बड़ी होगी। और पूर्व वर्षों में भी अपेक्षया पूर्व-पूर्व के वर्षों में प्रविष्ट होने वालों की आयु अपेक्षया पिछले वर्षों में प्रविष्ट होने वालों की आयु से असंदिग्ध रूप में बड़ी होगी। सैनिकों की आयु एक समान होने का अभिप्राय इतना ही है कि किसी एक वर्ष में प्रविष्ट होने वाले सैनिकों के सम्बन्ध में इस बात का यथासम्भव ध्यान रखा जाये कि उनकी आयु एक समान हो। किसी एक साल में भी प्रविष्ट होने वाले सैनिकों पर सर्वथा एक समान आयु के होने का नियम लगाना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव न हो सकेगा। क्योंकि यह प्रतिबन्ध उपयुक्त सैनिक प्राप्त करने में बाधक हो जायेगा। हम अभी देखेंगे कि वेद की सम्मति में किसी सेना के सैनिकों का सबसे छोटा गण दस का होना चाहिए। इसलिये प्रतीत यह होता है कि एक-एक गण के सैनिकों की आयु आपस में लगभग बराबर होनी चाहिए। एक-एक गण के सैनिकों की आयु का आपस में बराबर होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। आयु के अनुसार व्यक्ति की मानसिक अवस्था बदल जाती है। यदि एक गण में बहुत विषम आयु के सैनिक रहेंगे तो उनकी मानसिक अवस्थाएँ विभिन्न होने के कारण उनके पारस्परिक जीवन में सामञ्जस्य नहीं रहेगा। और इसलिये एक गण के सैनिकों को जिस एकचित्तता और सहयोग से अपना सैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिए वह कर सकना कठिन हो जायेगा। इसलिये एक-एक गण के सैनिकों की आयु लगभग समान होनी चाहिए।

'सवयसः' का एक और भी भाव हो सकता है। राज्य की ओर से सेना में प्रविष्ट होने की एक आयु निश्चित कर दी जायेगी। उस आयु से कम और अधिक आयु के व्यक्ति सेना में प्रविष्ट न हो सकेंगे। जितने भी सैनिक सेना में प्रविष्ट हुए होंगे वे सब उसी निश्चित आयु में प्रविष्ट हुए होंगे। इस दृष्टि से वे सब एक समान आयु वाले होंगे। और विशेषकर किसी एक निश्चित वर्ष में प्रविष्ट होने वाले सैनिक तो लगभग एक समान आयु वाले अवश्य ही होंगे। कुछ भी हो, कम से कम एक गण के सैनिकों की आयु तो यथासम्भव एक समान होनी ही चाहिए।

प्रतिवर्ष नये सैनिक भी प्रविष्ट किये जायें

ऋग्वेद 5.53.10 और ऋग्वेद 5.58.1 में मरुतों के लिए

गणं मारुतं नव्यसीनाम्

ये शब्द आते हैं। इस वाक्य का शब्दार्थ है—'मरुतों का गण नई-नइयों का है।' अब ये 'नव्यसी'—ये नई-नई—कौन हैं जिनसे मरुतों के गण बनते हैं? इसके लिए हमें ऋग्० 8.12.29 और ऋग्० 8.13.28 मन्त्र देखने चाहिए। इनमें 'मारुतीः विशः' और 'मरुत्वतीः विशः' क्रम से इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन वाक्यों का अर्थ है—'मरुतों की विश् अर्थात् प्रजाएँ।' यहाँ 'विश्'—प्रजा—शब्द सेनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। सेनाओं के लिए प्रजावाचक 'विश्' शब्द का प्रयोग सेनाओं की वहुलता को वताने के लिए हुआ है। जैसे प्रजाएँ दूर-दूर तक फैली हुई होती हैं वैसे ही राष्ट्र की सेनाएँ भी छावनियों में दूर-दूर तक फैली हुई होती हैं। साथ ही 'विश्' शब्द का प्रयोग धात्वर्थ के वल पर यह भी ध्वनित कर जाता है कि ये सेनाएँ ऐसी कुशल हैं कि इनका प्रवेश कहीं नहीं रुक सकता। ये सर्वत्र अनवरुद्ध-प्रवेशा हैं। सेना और विश् शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं। इन स्त्रीलिंगी सेना और सेनावाचक विश् शब्दों के लिए ही ऊपर 'नव्यसीनाम्' पद का प्रयोग हुआ है। यह पद यहाँ नई-नई सेनाओं को कहता है। अब मन्त्रखण्ड का अर्थ यह होगा कि 'मरुतों का गण नई-नई सेनाओं का है।' इस कथन से यह स्पष्ट सूचना निकलती है कि राष्ट्र को प्रतिवर्ष नई-नई सेनाओं के गण तैयार करने चाहिए। प्रतिवर्ष सेनाओं में नई-नई भरती होनी चाहिए।

पाठक जानते हैं कि वैदिक राज्य वर्णाश्रम-व्यवस्था का राज्य है। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का काल पूरा हो जाने पर वानप्रस्थाश्रम में जाना होगा। पीछे प्रथम भाग में हम देख आये हैं कि गृहस्थाश्रम का काल पूर्ण हो जाने पर सम्राट् भी राजसिंहासन को छोड़कर वानप्रस्थाश्रम में जायेगा। सेना के सैनिक क्षत्रिय वर्ण के लोग हैं। उन्हें भी गृहस्थाश्रम के काल के पश्चात् वानप्रस्थ में जाना होगा। इस प्रकार राष्ट्र की सेनाओं के अनेक सैनिक प्रतिवर्ष सैनिक जीवन समाप्त करके वानप्रस्थाश्रम में जाते जायेंगे। इससे सेना में प्रतिवर्ष जो कमी होगी उसे प्रतिवर्ष पूरा करना यों भी आवश्यक होगा। अर्थात् प्रतिवर्ष नये सैनिक प्रविष्ट करने ही होंगे। आश्रमव्यवस्था के क्रम से जो वात सिद्ध होती है उसी को ऊपर उद्धृत वेद के 'गणं मारुतं नव्यसीनाम्' इस वाक्य में कहा गया है।

सैनिक मिलकर एक स्थान में रहें

सैनिकों में मिलकर रहने से ही शक्ति उत्पन्न होती है। अलग-अलग बिखरे हुए सैनिकों का जीवन उपयोगी नहीं हो सकता। इसीलिए वेद में सैनिकों के मिलकर रहने पर वड़ा वल दिया गया है। उदाहरण के लिए नीचे दिये गये कुछ विशेषणों को देखिये—

1. जुष्टतमासः। ऋग्० 1.87.1.
2. प्रयज्यवः। ऋग्० 5.55.1.
3. रथानां न येऽराः सनाभयः। ऋग्० 10.78.4.

4. संमिश्लासः । ऋग्० 1.64.10.
5. गणश्रियः । ऋग्० 1.64.9.
6. वृषव्रातासः । ऋग्० 1.85.4.
7. समन्यवः । ऋग्० 2.34.3.
8. समित्सबाधः । ऋग्० 1.64.8.
9. ग्रामजितः । ऋग्० 5.54.8.
10. सचेतसः । ऋग्० 5.21.12.
11. समान्याः । ऋग्० 1.165.1.

इन विशेषणों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ये अत्यन्त प्रीतिपूर्वक रहने वाले और एक-दूसरे की सेवा करने वाले हैं। (2) ये मिलकर संगति में रहने वाले हैं, बड़ों की पूजा करने वाले और छोटों को दान देकर उनकी सहायता करने वाले हैं। (3) रथों के पहियों के अरे जैसे एक केन्द्र में मिलकर रहते हैं वैसे ही ये मरुत् भी एक केन्द्र में मिलकर रहते हैं। (4) ये मिलकर रहते हैं। (5) इनकी शोभा गणों में मिलकर रहने से होती है। (6) इनके व्रात अर्थात् समूह हैं जो कि बड़े बली हैं। (7) ये मिलकर शत्रुओं पर क्रोध करते हैं। (8) ये मिलकर युद्धों में शत्रुओं को रोकते हैं। (9) ये ग्राम अर्थात् समूहों में रहकर शत्रुओं को जीतते हैं। (10) ये समान चित्त वाले हैं अर्थात् प्रत्येक बात को मिलकर सोचते-विचारते हैं। (11) इनका मान मिलकर रहने में होता है।

ये विशेषण मरुतों के लिए अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ केवल एक-एक प्रतीक दे दी गई है। सैनिकों के इन विशेषणों से यह स्पष्ट निर्देश निकलता है कि सैनिकों को मिलकर रहना चाहिए। उनके सभी काम मिलकर होने चाहिए।

ऋग्वेद 6.75.9 और यजु० 29.46 में सैनिकों के लिए 'स्वादुषंसदः' ऐसा भी एक विशेषण आता है। इसका अर्थ है—'स्वादु भोजन खाने के लिए मिलकर बैठने वाले।' इससे वेद की यह स्पष्ट आज्ञा मालूम होती है कि सैनिकों को भोजन भी अकेले-अकेले न खाकर मिलकर बैठकर खाना चाहिए। इसी भाँति उनके रहने के स्थान भी एक होने चाहिए। अनेक सैनिकों को एक-एक मकान (बैरक Barrack) में रखना चाहिए। इसके लिए निम्न विशेषण देखिये—

1. समोकसः । ऋग्० 1.64.10.
2. सनीळाः । ऋग्० 1.165.1.
3. सनीळाः । ऋग्० 7.56.1.
4. स चक्रमे निरुरुक्रमः समानस्मात् सदसः । ऋग्० 5.87.4.

इनमें से पहले तीन विशेषणों का एक ही अर्थ है। और वह यह कि 'ये मरुत् समान घर में रहने वाले हैं।' इनमें प्रयुक्त ओकस् और नीळ शब्द घर के वाचक हैं और 'सम्' उपसर्ग समानता का बोधक है। चौथे मन्त्रखण्ड का अर्थ है—'वह पराक्रमी मरुद्गण समान (समानस्मात्) घर में से (सदसः) बाहर निकलता है।' इससे स्पष्ट

है कि वेद की सम्मति में सैनिकों को रहना भी एकत्र चाहिए।

अथ० 7.77.3 में मरुतों का एक विशेषण 'उरुक्षयाः' आता है। इसका अर्थ होता है—'बड़े-बड़े घरों वाले।' इससे यह सूचना मिलती है कि सैनिकों के रहने के घर (बैरक Barrack) बहुत लम्बे-चौड़े और खुले होने चाहिए।

ऊपर के विशेषणों द्वारा वेद ने सैनिकों के मिलकर कार्य करने, मिलकर खाने और मिलकर रहने का जो उपदेश किया है वह बड़ा मार्मिक है। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि हमारे मन की कोई भी भावना, यदि उस भावना वाले अनेक व्यक्ति हमारे साथ मिल जायें तो, बहुत बढ़ जाती है—बहुत बलवती हो जाती है। अपनी भावनाओं को बलवती करने का यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण उपाय है कि हम अपने जैसी भावनाओं वाले अनेक लोगों को अपने साथ मिला लें। सैनिक का जीवन एक बहुत ऊँची भावनाओं वाला जीवन है। सैनिक को लोक-कल्याण के लिए अपने जीवन की आहुति तक दे देनी होती है। इसलिये ये ऊँची भावनाएँ सैनिक के जीवन में सदा प्रज्ज्वलित रहनी चाहिए। इन भावनाओं को प्रज्ज्वलित रखने में दूसरे सैनिकों के साथ, जिनकी भावनाएँ भी वैसी ही हैं, मिलकर रहना बहुत सहायक होगा। ऊँची भावनाओं को दृढ़ रखने में तो किसी सैनिक के लिए दूसरे सैनिकों के साथ मिलकर रहना भारी लाभदायक होगा ही, शस्त्रों का अभ्यास, नियम-पालन और शारीरिक बल की वृद्धि करने आदि में भी यह साहचर्य महान् उपयोगी होगा। गृहस्थ सैनिकों का भी अधिकांश समय यथासम्भव एक साथ ही बीतना चाहिए।

सैनिकों के लिए खेलने का प्रबन्ध होना चाहिए

मरुतों के लिए वेद में अनेक जगह 'क्रीडयः'[1] और 'प्रक्रीडिनः'[2] इस प्रकार के विशेषण आते हैं। इनका अर्थ होता है—'खेलने वाले।' इससे यह भाव निकलता है कि सैनिकों के खेलने का प्रबन्ध सेनाधिकारियों को करना चाहिए। इतना ही नहीं—

1. उपक्रीळन्ति क्रीळाः। ऋग्० 1.166.2.
2. क्रीळथ मरुतः। ऋग्० 5.60.3.

वेद के इन वाक्यों में मरुतों के खेलने का सुस्पष्ट वर्णन है। इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) ये मरुत् क्रीड़ाएँ अर्थात् खेल खेलते हैं।

(2) हे मरुतो तुम खेलते हो।

अतः वेद का यह असंदिग्ध आदेश है कि सैनिकों के खेलने का भली-भाँति प्रबन्ध होना चाहिए। सैनिकों में बल-वृद्धि करने और उनके स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है।

[1] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 1.87.3.
[2] उदाहरण के लिए देखिये—ऋग्० 7.56.16.

सैनिकों को नहा-धोकर स्वच्छ रहना चाहिए

पुरुष को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने में नहा-धोकर स्वच्छ रहना बड़ा लाभदायक होता है। नहा-धोकर स्वच्छ हो जाने पर व्यक्ति सचमुच 'स्वस्थ' हो जाता है—अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है। इसीलिए वेद में सैनिकों को सदा नहा-धोकर स्वच्छ रहने का उपदेश किया गया है। वेद में मरुतों के लिए 'वर्षनिर्णिज' (ऋग्० 3.26.5) ऐसा एक विशेषण कई स्थानों पर आता है। इसका अर्थ होता है—'वर्षा से अपने आपको पूर्णरूप से शुद्ध करने वाले।' इस पद का 'निर्णिजः' शब्द 'णिजिर्' धातु से बनता है। यह धातु नहा-धोकर शुद्ध होने के अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसलिये 'वर्षनिर्णिजः' का अर्थ होगा—वर्षा से नहा-धोकर शुद्ध रहने वाले। यहाँ नहाने-धोने के साथ 'वर्षा' शब्द का प्रयोग जल की प्रचुरता को बताने के लिए हुआ है। भाव यह है कि थोड़े से जल से शरीर को चुपड़ कर नहीं समझ लेना चाहिए कि हम नहा-धोकर शुद्ध हो गये। प्रत्युत उन्हें खूब जल का प्रयोग करके शरीर के अंग-प्रत्यंग को भली-भाँति धोकर स्वच्छ करना चाहिए। मानो कि वे वर्षा में खड़े होकर नहाये हैं। इस शब्द की यह भी एक ध्वनि हो सकती है कि सैनिकों के नहाने के लिए धारायन्त्रों (Shower Bath) का भी प्रवन्ध होना चाहिए जिसमें सैनिक वर्षा में नहाने का आनन्द बिना वर्षा के ही प्राप्त कर सकते हैं। भाव यह है कि सैनिकों को नहा-धोकर भली-भाँति स्वच्छ रहना चाहिए।

सैनिकों को प्रतिदिन सन्ध्या-हवनादि यज्ञ करने चाहिए

वेद में कितने ही स्थानों पर मरुतों के लिए निम्न विशेषणों का प्रयोग हुआ है—

1. प्रयज्यवः। — ऋग्० 1.39.9.
2. विदथेषु आभुवः। — ऋग्० 1.64.1.
3. ऋतज्ञाः। — ऋग्० 5.57.8.
4. यजत्राः। — ऋग्० 7.57.5.
5. सुमखाः। — ऋग्० 5.87.7.
6. गन्ता नो यज्ञं यज्ञियाः। — ऋग्० 5.87.9.

इनमें से प्रथम विशेषण का अर्थ है कि 'ये मरुत् प्रयज्यु हैं।' प्रयज्यु का अर्थ होता है जो बहुत अच्छी तरह यज्ञ करे। इस शब्द का विस्तृत अर्थ पीछे दिया जा चुका है। इसका एक अर्थ संध्या-हवनादि यज्ञ करने वाला भी होगा। दूसरे विशेषण का अर्थ है—'ये मरुत् विदथों में बैठने वाले हैं।' विदथ के कई अर्थ होते हैं। एक दो अर्थों की ओर पिछले पृष्ठों में निर्देश किया जा चुका है। विदथ का एक अर्थ यज्ञ भी होता है। इसलिये मरुतों के इस विशेषण का यह भाव भी होगा कि वे सन्ध्या-हवनादि यज्ञों में बैठते हैं। तीसरे विशेषण का अर्थ है—'ये मरुत् ऋत को जानते हैं।' ऋत के सत्य ज्ञान आदि कई अर्थ होते हैं। इसका एक अर्थ यज्ञ भी होता है। इसलिये मरुतों के

इस विशेषण का यह अर्थ भी होगा कि वे संध्या-अग्निहोत्रादि यज्ञों का ज्ञान रखते हैं। चतुर्थ विशेषण का अर्थ है—'यज्ञ करने वाले'। पंचम विशेषण का अर्थ है—'उत्तम मख अर्थात् यज्ञ वाले।' अर्थात् मरुत् उत्तम रीति से यज्ञ करते हैं। अन्तिम मन्त्रखण्ड का अर्थ है—'यज्ञ करने वाले (यज्ञियाः) हे मरुतो तुम हमारे यज्ञ में आओ।'

मरुतों के इन विशेषणों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सैनिकों को प्रतिदिन संध्या-अग्निहोत्रादि यज्ञ करने चाहिए। संध्या-अग्निहोत्रादि यज्ञों का विधान जो शास्त्र ने किया है वह इसलिये किया है कि इनके करने से व्यक्ति के मन में पवित्र भावनाओं का उदय होता है और पाप का नाश होता है। प्रतिदिन इन यज्ञों के करने से सैनिकों के मनों को पवित्र रहने में बड़ी सहायता मिलेगी। इसीलिये वेद ने सैनिकों के लिए प्रतिदिन यज्ञ करने का विधान किया है।

महाभारतादि आर्य इतिहासों के पढ़ने से पता लगता है कि उस समय के कृष्ण, अर्जुन आदि वीर संध्या-अग्निहोत्र का समय हो जाने पर युद्ध बन्द करके भी इन यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। उस समय के क्षत्रियों में यह जो संध्या-अग्निहोत्रादि करने की प्रथा थी इसके मूल वेद के उपर्युक्त वर्णन ही हैं।

सैनिक लोग कभी-कभी साधारण लोगों के यज्ञों में भी सम्मिलित हुआ करें

ऊपर उद्धृत ऋग्० 5.87.9 में मरुतों को यह जो कहा गया है कि तुम हमारे यज्ञों में आओ इसका अभिप्राय भी समझ लेना चाहिए। यह वाक्य प्रजाजनों का है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि कभी-कभी सैनिकों को अपने स्कन्धावारों (छावनियों) के आस-पास के नगरों के निवासियों के यज्ञों में जाकर भी सम्मिलित होना चाहिए जिससे उनमें और प्रजाजनों में आत्मीयता के भाव उत्पन्न हों और बढ़ सकें। सैनिक सर्वसाधारण प्रजाजनों के साथ कभी हिल-मिलकर न बैठा करें—इस बात को वेद नहीं मानता है। वेद के इस वर्णन से प्रतीत होता है कि सैनिकों और प्रजाओं में घनिष्ठ आत्मीयता रहनी चाहिए।

7

सैनिकों का भोजन

सैनिकों को बलिष्ठ और दृढांग रखने के लिए उन्हें शक्तिदायक भोजन मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। वेद में इस सम्बन्ध में भी बहुत कुछ उपदेश किया गया है। वेद में अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि सैनिकों को भोजन कैसा मिलना चाहिए। इस विषय में नीचे दिये जा रहे कुछ मन्त्र देखिये—

1. प्र शंसा गोष्वघन्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्।
   जम्भे रसस्य वावृधे॥ ऋग्० 1.37.5.
2. द्रप्सिनः। ऋग्० 1.64.2.
3. ऋजीषिणः। ऋग्० 1.87.1.
4. चित्रवाजान्। ऋग्० 8.7.33.
5. स्वादुषंसदः। ऋग्० 6.75.9; यजु० 29.46.
6. मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः। ऋग्० 1.85.6.
7. सूरं चित् सस्रुषीरिषः। ऋग्० 1.86.5.
8. यस्य प्रयांसि पर्षथ। ऋग्० 1.86.7.
9. घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते। ऋग्० 1.87.2.
10. स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्। ऋग्० 1.168.9.
11. नापो न द्वीपं दधति प्रयांसि। ऋग्० 1.169.3.
12. नमस इद् वृधासः। ऋग्० 1.171.2.
13. इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिर्भ्राजदृष्टयः।
    आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः॥
    ऋग्० 2.34.5.
14. इषं स्वरभिजायन्त धूतयः। ऋग्० 1.168.2.
15. पिबन्तो मदिरं मधु। ऋग्० 5.61.11.
16. बृहद् वयो दधिरे। ऋग्० 5.55.1.
17. वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः। ऋग्० 7.56.16.

18. बृहद् वयो मघवभ्द्यो दधात । ऋग्० 7.58.3.
19. यातनान्धांसि पीतये इमा वो हव्या मरुतो । ऋग्० 7.59.5.
20. मरुतः सोम्ये मधौ स्वाहेह मादयाध्वै । ऋग्० 7.59.6.
21. धुक्षन्त पिप्युषीमिषम् । ऋग्० 8.7.3.
22. इमा उ वः सुदानवो घृतं न पिप्युषीरिषः । ऋग्० 8.7.19.
23. प्रयस्वन्तः । ऋग्० 10.77.4.
24. यदश्नामि बलं कुर्वे इत्थं वज्रमा ददे । अथ० 6.135.1.
25. यत्पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः । अथ० 6.135.2.
26. यद्गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः । अथ० 6.135.3.
27. वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् । ऋग्० 1.85.3.
28. हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे । ऋग्० 5.60.4.
29. शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां । ऋग्० 7.56.12.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) मरुतों के उस बल की प्रशंसा करो जो गौवों में आश्रित है (गोषु) अर्थात् गौ जिसका कारण है, जिस बल का नाश नहीं किया जा सकता (अघ्न्यं), जिसके कारण मरुत् सदा क्रीड़ा करते रहते हैं (क्रीळं), जो गौवों के दूध के (रसस्य)[1], खाने पर (जंभे) बढ़ता है ।

गौवों के साहचर्य से हमने रस का अर्थ गौ का दूध किया है । सायण ने भी यही अर्थ किया है । सामान्य संस्कृत साहित्य में रस शब्द का दूध अर्थ में प्रयोग बहुत होता है ।

(2) ये मरुत् दही खाने वाले हैं (द्रप्सिनः)[2] ।

द्रप्स का अर्थ संस्कृत कोशों में पतली दही किया गया है जिसे पिया जा सके । यहां हमने इसका अर्थ केवल दही कर दिया है ।

(3) ये मरुत् ऋजीषी हैं ।

सोम की बूटी को कूटकर उसमें से सोम-रस निकाल लेने के पश्चात् जो फोक बच जाती है उसे ऋजीष कहा जाता है । इसलिये ऋजीषी का अर्थ हुआ सोम की फोक बचाने वाले । तात्पर्य यह हुआ कि मरुत् सोम पीते हैं जिसकी फोक उनके भोजनागारों में बची रहती है । साथ ही ऋजीषी का 'इनि' प्रत्यय ऋजीष की अधिकता को भी द्योतित करता है । अर्थात् मरुतों के भोजनागारों में ऋजीष के खूब ढेर लगे रहते हैं । तात्पर्य यह है कि वे खूब सोम पीते हैं ।

(4) ये मरुत् अद्भुत प्रकार के अन्न खाने वाले हैं (चित्रवाजान्) ।

वाज का एक अर्थ अन्न भी होता है । चित्रवाज या अद्भुत अन्न खाने का यह अभिप्राय होगा कि मरुत् उपलब्ध भांति-भांति के अन्नों के नये-नये स्वादिष्ट और

1 गो-क्षीरस्येति सायणः ।
2 द्रप्सं दधि घनेतरत् । अमर० 2.9.51.

बलकारक मिश्रण बनाकर खाते हैं।

(5) ये सैनिक स्वादु भोजनों को मिलकर बैठकर खाते हैं।

इसमें सैनिकों के भाँति-भाँति के स्वादु भोजनों के खाने का विधान है।

(6) हे मरुतो तुम मधुर अन्न को खाकर आनन्दित होओ।

(7) शत्रुओं को मार भगाने वाले (सूरं) मरुतों को भाँति-भाँति के अन्न (इषः) प्राप्त होवें। (8) जिसके अन्नों को (प्रयांसि) हे मरुतो अपने भीतर सींचते हो (पर्षथ)[1] अर्थात् खाते हो। (9) तुम्हारी अर्चना करने वाले की रक्षा के लिए (अर्चते) हे मरुतो तुम मधुर घृत का अपने भीतर सिंचन करो (उक्षत) अर्थात् उसे खाओ। (10) ये मरुत् चाहने योग्य (इषिरां) अन्नों को (स्वधां)[2] देखते हैं अर्थात् उनका सेवन करते हैं। (11) जैसे जल अपने बीच में द्वीप को धारण करते हैं वैसे ही ये मरुत् अन्नों को (प्रयांसि) धारण करते हैं। (12) हे मरुतो तुम अन्नों को (नमसः) बढ़ाने वाले हो। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि मरुतों के भोजनागारों में अन्न खूब बढ़ाकर, भरकर रखा जाता है, उसे कभी कम नहीं होने दिया जाता, जिससे मरुत् खूब जी भरकर खा सकें।

(13) शत्रु पर मिलकर क्रोध करने वाले (समन्यवः) और चमकीली ऋष्टियों वाले हे मरुतो तुम भारी ऊधसों वाली (रप्शदूधभिः) गौवों के (धेनुभिः) साथ चमकीले (इन्धन्वभिः)[3] और नष्ट न होने वाले (अध्वस्मभिः) मार्गों से अपने रहने के स्थानों में (स्वसराणि)[4] उन गौवों के मधु जैसे मीठे दूध के (मधोः) आनन्द को प्राप्त करने के लिए (मदाय) आओ जैसे कि हंस अपने निवास स्थानों में आते हैं।

मन्त्र के वर्णन का भाव समझ लेना चाहिए। चमकीले मार्गों का भाव यह है कि जिन मार्गों से मरुत् चलते हैं वे उनके तेज से चमकीले अर्थात् तेजस्वी बन जाते हैं। उन मार्गों में अन्याय-अत्याचार का अन्धकार नहीं ठहर सकता। मार्गों को नष्ट न होने वाले कहने का यह तात्पर्य है कि उन मार्गों पर चलते हुए बलशाली मरुतों अथवा उनसे रक्षित प्रजाजनों का कोई नाश नहीं कर सकता। भारी ऊधसों वाली गौवों के साथ मार्गों से आने का यह अभिप्राय है कि जब सैनिक लोग युद्धादि के लिये यात्रा में हों तब भी उनके साथ दुधारु गौवें चलनी चाहिए जिससे उन्हें पड़ावों पर जाकर मधु जैसा मीठा दूध पीने को मिल सके। और इस प्रकार वे आनन्दित रह सकें।

(14) शत्रु को कम्पाने वाले (धूतयः) ये मरुत् सुखदायक (स्वः) अन्न को खाने के लिए (इषम्-अभि) उत्पन्न होते हैं। (15) ये मरुत् आनन्दित करने वाले (मदिरं) मधु को पीते हैं। (16) ये मरुत् बड़ा अन्न (वयः)[5] धारण करके रखते हैं।

[1] पृषु सेचने।
[2] अन्नमिति सायणः।
[3] समिन्धनवद्भिरिति,सायणः।
[4] निवास-स्थानानीति सायणः।
[5] वय इति अन्ननामसु पठितम्। निघं० 2.7.

इस वाक्य के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो यह कि सैनिक अपने अन्दर खूब अन्न धारण करते हैं अर्थात् खूब अन्न खाते हैं। दूसरे यह कि उनके अन्न-भण्डारों में अन्न भरा रहता है।

(17) ये खेलने वाले मरुत् खेलने वाले बछड़ों की भाँति दूध को धारण करने वाले हैं अर्थात् दूध को पीने वाले हैं। (18) ऐश्वर्यशाली मरुतों के लिए खूब अन्न (वयः) दो। (19) हे मरुतों अन्नों को (अंधांसि) पान करने के लिए आओ, तुम्हें देने के योग्य अन्न (हव्या) तैयार हैं। (20) हे मरुतो तुम इस सोम से बने हुए (सोम्ये) मधु में आनन्दित होओ। (21) ये मरुत् पोषण करने वाले (पिप्युषीं) अन्न को (इषं) खाते हैं (धुक्षन्त)। (22) हे मरुतो तुम्हारे लिए ये अन्न हैं (इषः) जो घृत की तरह पुष्टि देने वाले हैं (पिप्युषीः)। (23) ये मरुत् भाँति-भाँति के अन्नों वाले हैं (प्रयस्वन्तः)। (24) मैं जो कुछ खाता हूँ उससे अपने अन्दर बल उत्पन्न करता हूँ और इस प्रकार मैं अपने हाथों में वज्र धारण करता हूँ। (25) मैं जो कुछ पीता हूँ उसे अच्छी तरह पीता हूँ, हे मेरे आत्मा तू समुद्र की भाँति अच्छी तरह पी। (26) मैं जो कुछ खाकर निगलता हूँ उसे अच्छी तरह निगलता हूँ, हे मेरे आत्मा तू समुद्र की भाँति अच्छी तरह निगल।

ये तीनों मन्त्र जिस सूक्त के हैं उसमें एक योद्धा बोल रहा है। वह अपने बलवर्द्धक और यथेष्ट मात्रा में ग्रहण किये गये खान-पान की ओर निर्देश करके अपने शत्रुओं का संहार करने की भावना अपने भीतर प्रबल कर रहा है। इन मन्त्रों की व्यंजना यह है कि शत्रु का संहार करना चाहने वाले योद्धाओं को भरपूर मात्रा में बलवर्द्धक भोजन का सेवन करना चाहिए।

(27) इन मरुतों के मार्गों में घृत बहता है।

इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब सैनिक युद्धार्थ के लिए बाहर जाते हैं तो उनके साथ उनके खाने के लिए घृतादि पौष्टिक पदार्थ भी उन मार्गों पर चलते हैं।

(28) ये मरुत् उज्ज्वल, हितकारी और रमणीय (हिरण्ययैः) भोजनों से (स्वधाभिः) अपने शरीरों को कान्तिमान् बनाते हैं।

(29) हे मरुतो तुम पवित्र लोगों के भोजन भी (हव्या) पवित्र हैं।

पाठक इन उद्धृत मन्त्रों को एक बार फिर पढ़ जाएँ। और इनके अर्थों पर एक सामूहिक दृष्टि डालें। वह देखेंगे कि इनमें सैनिकों की बलवृद्धि के लिए एक तो यह कहा गया है कि उन्हें बलवर्द्धक भोजन मिलना चाहिए और खूब पेट भरकर मिलना चाहिए। उद्धृत दो मन्त्रों (अथ० 6.135.2,3) में समुद्र से दी गई उपमा पेट भरकर खाने के भाव को भली-भाँति स्पष्ट कर देती है। दूसरे, इन मन्त्रों में सैनिकों के लिए बलवर्द्धक भोजनों का संग्रह कर दिया गया है। पाठक देखेंगे कि इस संग्रह में गौ का दूध, दही, घृत, सोमरस, मधु (शहद), भाँति-भाँति के अन्न और उनके मिश्रण से बने हुए विविध स्वादिष्ट पदार्थों का ही उल्लेख हुआ है। अन्न की

व्याख्या यजुर्वेद 18.12 मन्त्र में की गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

> व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च में नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

इस मन्त्र में चावल, जौ, उड़द, तिल, मूँग, चने, कंगनी (प्रियंगु), ज्वार, बाजरा, सरसों आदि गोल दानों के अन्न (अणु), सामक, नीवार (जँगली घासों के दाने), गेहूँ और मसूर इन अन्नों के नाम आये हैं। वेद में अन्यत्र कुछ और अन्नों के नाम भी आये हैं। फिर इन नामों को उपलक्षणमात्र समझना चाहिए। इन जैसे, गुणों में इनसे मिलते-जुलते और भी जो अनाज धरती पर उगते हुए पाये जाते हैं उनका भी ग्रहण अन्न में कर लेना चाहिए। अन्न का शब्दार्थ होता है जो खाया जाये। इस धात्वर्थ के बल पर हम वृक्षों के फलों को भी अन्न में ग्रहण कर सकते हैं। ऋग्० 10.146.5 में फलों के खाने का विधान भी है। वहाँ वानप्रस्थी के लिए कहा है कि 'स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते' अर्थात् 'वानप्रस्थी स्वादु फलों को खाकर यथेष्ट विचरण करता है।' यहाँ सायण ने भी स्वादु फल का अर्थ रसीले आम्र आदि ही किया है। वेद में फल शब्द का प्रयोग अनाजों और ओषधियों के दानों और फलों के लिए भी हुआ है। परन्तु वृक्षों के फलों के लिए भी फल शब्द का प्रयोग वेद में हुआ है। उदाहरण के लिए अथ० 6.124.2 और अथ० 20.136.9 देखिये। वहाँ क्रम से 'यदि वृक्षादभ्ययप्तत् फलम्' और 'फलस्य वृक्षस्य' ये शब्द आये हैं। इनका क्रमशः शब्दार्थ है—'यदि वृक्ष से फल गिरता है, 'फल के वृक्ष का'। इस प्रकार वृक्षों के फलों को खाने का वेद में स्पष्ट विधान है। ऋग्० 3.45.4 में भी वृक्ष के फलों का उल्लेख आता है। इसलिये अन्न के धात्वर्थ को ध्यान में रखकर हम फलों को भी अन्न समझ सकते हैं। इस प्रकार गौ का दूध, दही, घृत, शहद और सोम-रस के अतिरिक्त सैनिकों के लिए खाद्य अन्नों का पूर्ण चित्र हमारे सामने आ जाता है।

मांस सैनिकों का भोजन नहीं है

वेद में मांस-भक्षण का पूर्ण निषेध है। कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि अन्य वर्णों को तो मांस नहीं खाना चाहिए परन्तु युद्ध करने वाले क्षत्रिय के लिए मांस का भोजन आवश्यक है। परन्तु पाठक देखेंगे कि वेद ने ऊपर जो सैनिकों के लिए खाद्य-सामग्री गिनाई है उसमें मांस का कहीं स्थान नहीं है। वस्तुतः मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। इसलिये वह क्षत्रिय का भी भोजन नहीं हो सकता। हम पशुओं का दूध ही ग्रहण कर सकते हैं, मांस नहीं। मांस को पवित्र भोजन नहीं कहा जा सकता। जहाँ उसमें शारीरिक अस्वास्थ्यजनक भौतिक अपवित्रताएँ होती हैं वहाँ हिंसाजन्य आध्यात्मिक अपवित्रता भी होती है।

४

सैनिकों का ऊँचा शील

पीछे सैनिकों की योग्यता को प्रदर्शित करने के लिए जो अनेक विशेषण उद्धृत किये गये हैं उनमें से अनेक ऐसे भी हैं जिनसे यह पता लगता है कि सैनिकों का शील कितना ऊँचा होना चाहिए। वेद सैनिकों के शील का आदर्श कितना ऊँचा रखना चाहता है इसे पाठकों के मन पर और अधिक अंकित करने के लिए हम यहाँ वेद से दो-एक उद्धरण और देना चाहते हैं। पहले वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्।
अर्को यद् वो मरुतो हविष्मान् गायद् गाथं सुतसोमो दुवस्यन्॥

ऋग्० 1.167.6.

अर्थात्—'हे मरुतो यज्ञोत्सवों में तुम्हें बुलाकर देने के लिए जिसने अनेक हविष्यान्नों को तैयार कर रखा है। (हविष्मान्), जिसने तुम्हारे पान के लिए सोमादि रस निकाल रखे हैं (सुतसोमः), ऐसा तुम्हारी अर्चना करने वाला गृहपति (अर्कः), तुम्हारी अर्चना करते हुए (दुवस्यन्), जो तुम्हारा स्तोत्र (गाथं) गाता है (गायत्) वह इस प्रकार है—तुम जवान होते हुए भी (युवानः) शुभ कर्मों में लगी हुई (शुभे निमिश्लाम्) और यज्ञ-यागादि तथा ज्ञानसंग्रह के कर्मों में (विदथेषु) बलपूर्वक आग्रह रखने वाली (पज्राम्)[1] युवति स्त्री को (युवतिं) आस्थापित करते हो (आस्थापयन्त) अर्थात् तुम्हें देखकर वह डरती और घबराती नहीं प्रत्युत निर्भय होकर स्वस्थ-चित्त रहती है।'

सैनिक युवा हैं। सामान्य पुरुषों में यौवन की अवस्था चंचलता उत्पन्न करके उनसे अनेक उच्छृंखल कर्म करवा डालती है। इन उच्छृंखल युवकों की समीपता में युवति स्त्रियों का जीना दूभर हो जाता है। फिर युवक सैनिकों की उच्छृंखलता का तो क्या कहना। परन्तु वेद के सैनिकों का चित्र देखिये वे पूर्ण जितेन्द्रिय और मनोवशी हैं। यौवन भी उनको चंचल और उच्छृंखल नहीं बना सकता। इन युवकों से किसी युवति को भय नहीं हो सकता। इन्हें देखकर कोई युवति डरती और घबराती नहीं है। उसे घबराकर अपने काम नहीं छोड़ने पड़ते। उलटा वह अपने कामों में और दृढ़ता से आस्थापित हो जाती है, लग जाती है। वह जानती है कि ये

[1] पज्रं बलम्। तद्वतीमिति सायणः। विदथेषु बलवतीं बलवदाग्रहवतीमिति निष्कृष्टार्थः।

वैदिक वीर हैं इनसे मुझे किसी तरह के विघ्न की आशंका नहीं हो सकती।

इसके साथ ही ऋग्० 1.85.1 मन्त्र को भी देखिये जिसमें कहा गया है कि ये सैनिक बल-वीर्य में घोड़ों जैसे हैं और शील में स्त्रियों जैसे। और फिर एक वैदिक सैनिक के इस उदात्त चरित्र की आजकल के राष्ट्रों की सेनाओं के सैनिकों से तुलना करके देखिये। कितना आकाश और पाताल का अन्तर है।

मन्त्र में एक गृहपति को सैनिकों को अपने यज्ञोत्सवों में बुलाकर उन्हें भोजन खिलाते हुए और उनके चरित्र की प्रशंसा करते हुए दिखाया गया है। इससे, जैसाकि हम ऊपर दिखा चुके हैं, यह निर्देश निकलता है कि कभी-कभी सैनिकों को आस-पास के नगरों के गृहस्थों के घरों में जाकर आतिथ्य ग्रहण करने की सुविधा होनी चाहिए जिसे प्रजाजनों और सैनिकों में आत्मीयता स्थापित हो सके।

यह तो हुआ सैनिकों का ब्रह्मचर्य-जन्य संयम और शील। उनके दूसरे शील का भी चित्र देख लीजिये। वेद में अनेक स्थलों पर मरुतों के लिए—

1. रिशादसः। ऋग्० 1.39.4.
2. अरेपसः। ऋग्० 5.57.4.
3. अमृध्राः। ऋग्० 6.75.9; यजु० 29.46.
4. शुभं यावानः। यजु० 25.20.
5. अरिष्टग्रामाः। ऋग्० 1.166.6.

—इस प्रकार के विशेषण आते हैं। इनका क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) ये हिंसा को खाने वाले अर्थात् नष्ट करने वाले हैं।

वैदिक सैनिक जब युद्ध करता है तो वह हिंसा करने की वृत्ति से प्रेरित होकर युद्ध नहीं करता। वह तो हो रही हिंसा को रोकने के लिए युद्ध करता है। क्योंकि वह तो—'रिशादस्'—हिंसा को खाने वाला है। इसलिये वैदिक सैनिक जब किसी शत्रु-नगर में जायेगा तो वहाँ के सर्वसाधारण नागरिकों को उससे किसी प्रकार से अत्याचार की आशंका नहीं हो सकती। वह उन्हें कोई क्लेश नहीं देगा। वह तो केवल उनके सैनिकों से लड़ेगा। और पराजय स्वीकार कर लेने पर शत्रु के सैनिकों को भी कुछ नहीं कहेगा।

(2) ये पाप से रहित हैं।

वैदिक सैनिक व्यभिचार, चोरी, लूट-खसोट, हत्या आदि कोई भी पाप नहीं कर सकता। इसलिए वह शत्रु-देश में जाकर युद्ध जीतने के तो सब उपाय करेगा। परन्तु युद्ध से दूर रहने वाली वहाँ की प्रजा के प्रति कोई पाप का व्यवहार नहीं करेगा।

(3) ये सैनिक हिंसा न करने वाले हैं।

इस विशेषण का भाव प्रथम विशेषण की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है।

(4) ये शुभ चाल-चलन वाले हैं।

वैदिक सैनिक जहाँ भी जायेगा वहाँ शुभ चाल से जायेगा। उसके चलने-फिरने से किसी का कोई अमंगल नहीं हो सकता। केवल युद्ध कर रहे शत्रु का ही वह अमंगल करेगा।

(5) ये मरुत् ग्रामों को कोई हानि नहीं पहुँचाते।

वैदिक सैनिक जब किसी शत्रु-सेना से युद्ध करेंगे तो उसे ही हानि पहुँचाने की चेष्टा करेंगे या जो लोग उनकी सहायता कर रहे होंगे उनको हानि पहुँचाने की चेष्टा करेंगे। युद्ध के क्षेत्र से दूर बसे हुए शत्रु के ग्रामों को वैदिक सैनिकों के हाथों कोई हानि नहीं पहुँच सकती।

पाठक वैदिक सैनिक के सर्वांगपूर्ण शील का चित्र देखें और उस पर मुग्ध हों।

9

सैनिकों की सभाएँ (क्लब) होनी चाहिए

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से यह भी सूचित होता है कि सैनिकों की सभाएँ (क्लब, Club) भी होनी चाहिए। मन्त्र देखिये—

मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः।
गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक्॥
ऋग्० 1.167.3.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'(येषु) जिन मरुतों अर्थात् सैनिकों में (सुधिता) भली-भाँति धारण की हुई (घृताची)[1] दीप्ति से युक्त (हिरण्यनिर्णिक्)[2] हितकारी और रमणीय रूपवाली (विदथ्येव)[3] युद्धकालीन वाणी की तरह (गुहा) हृदय में (चरन्ती) रहने वाली (सभावती) सभावाली (संवाक्) मिलकर बोली जाने वाली वाणी (मिम्यक्ष)[4] रहती है, उनकी यह वाणी (उपरा)[5] उनके कंधों पर रमण करने वाली अर्थात् रहने वाली (ऋष्टिः) ऋष्टि नामक शस्त्र की (न) तरह और (मनुषः) मनुष्य की (योषा) पत्नी की (न) तरह, सुधिता आदि गुणों से युक्त है।'

उद्धृत मन्त्र के तीन अर्थ

इस मन्त्र में मरुतों को 'संवाक्' को 'उपरा ऋष्टि' और 'मनुषः' के साथ उपमा दी गई है। उपमान 'उपरा ऋष्टि' और 'मनुषः योषा' तथा 'उपमेय संवाक्' में गुणों का साधर्म्य है। इसलिए मन्त्र में वर्णित सारे विशेषण तीनों में समान रूप से लगते हैं। इसका हलका सा स्पष्टीकरण नीचे कर देना उपयुक्त होगा।

[1] घृतं दीप्तिः। घृ क्षरण दीप्तयोः। घृतमञ्चन्ती घृताची।
[2] हितरमणीयरूपा। निर्णिगिति रूपनाम।
[3] विदथं युद्धं तदर्हति इति विदथ्या। यद्वा विदथो यज्ञः। धनं वा।
[4] म्यक्षतिर्गतिकर्मा। संगता भवति।
[5] उप समीपे रमते इति उपरा। ऋष्टयो हि मरुतां स्कन्धेषु वर्ण्यन्ते। ता हि स्कन्धोपरमणादुपराः।

ऋष्टि (शस्त्र) परक अर्थ

सैनिकों की 'उपरा ऋष्टि' अर्थात् उनके कन्धों पर रखी हुई ऋष्टि भी सुधिता होती है, अच्छे प्रकार धारण की हुई होती है। वह हिरण्यनिर्णिक् अर्थात् हितरमणीय रूप वाली भी होती है। उसका रूप मनोहर होता है और उसका हितकारी कामों में उपयोग किया जाता है। युद्ध में उसका उपयोग करने के कारण अथवा उस द्वारा यज्ञों और धनों की रक्षा होने के कारण वह विदथ्या भी होती है। सभाओं ने उसके अभ्यासार्थ खेल दिखाये जाने के कारण वह सभावती भी होती है। युद्ध के अतिरिक्त समयों में वह शस्त्रागारों में संभाल कर रखी जाती है इसलिए वह 'गुहा चरन्ती' भी होती है। ऋष्टि पक्ष में गुहा का अर्थ गुफा अर्थात् शस्त्र संभालकर रखने की जगह होगा।

पत्नी परक अर्थ

'मनुषः योषा' अर्थात् मनुष्य की पत्नी में भी ये सारे गुण होते हैं। वह सुधिता भी होती है। क्योंकि उसका भी भली-भाँति धारण किया जाता है। वह घृताची भी होती है। क्योंकि उसमें दीप्ति होती है, कांतित होती है और उसके पास घृत आदि स्निग्ध पदार्थ खाने के लिए रखते हैं। वह हिरण्यनिर्णिक् भी होती है। क्योंकि उसका रूप मनोहर भी होता है और वह सब घर के लोगों का हित करने वाली भी होती है। पति के हृदय में और घर में रहने के कारण वह गुहा चरन्ती भी है। विदथ का अर्थ युद्ध, यज्ञ, ज्ञान और धन होता है। वह यज्ञों में सम्मिलित होती है, ज्ञान सीखे होती है, धन उसके पास रहता है और आवश्यकता पड़ने पर वह युद्ध में भी भाग ले सकती है, इसलिए वह विदथ्या भी होती है और सभाओं में जाने के कारण वह सभावती भी होती है।

सैनिकों की सामूहिक वाणी परक अर्थ

इसी प्रकार सैनिकों की 'संवाक्' अर्थात् उनकी मिलकर बोली जाने वाली वाणी भी सुधिता होती है। क्योंकि वह भली-भाँति धारण की जाती है, अच्छी तरह सीखी जाती है। वह घृताची भी होती है। क्योंकि वह तेजोमयी होती है, उस वाणी में भय और गिड़गिड़ाने का स्थान नहीं रह सकता। वह हिरण्यनिर्णिक् भी होती है। क्योंकि वह मनोहर शब्दों में प्रकाशित की जाती है और उस द्वारा जो कुछ बोला जाता है वह हितकारी होता है। युद्धों में शत्रुओं का दिल दहलाने के लिए बोली जाने के कारण वह विदथ्या भी होती है। अथवा क्योंकि सैनिक लोग मिलकर यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण करते हैं इसलिए भी वह विदथ्या होती है। वह क्योंकि हृदय में रहती है, समझपूर्वक उसका हृदय से उच्चारण किया जाता है इसलिए वह 'गुहा चरन्ती' भी होती है। क्योंकि सैनिक लोग अपनी सभाओं में बैठकर उसे बोलते हैं इसलिए

वह समावती भी होती है।

ऋष्टि परक अर्थ के निष्कर्ष

ऋष्टि परक अर्थ में मन्त्रगत विशेषणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(क) शस्त्रों का धारण करना और चलाना सैनिकों को भली-भाँति सिखाया जाना चाहिए।
(ख) शस्त्र चमकीले, तेज और मनोहर रूप वाले होने चाहिए।
(ग) लोक हितकारी कार्यों में ही उनका प्रयोग करना चाहिए।
(घ) लोगों के भाँति-भाँति के लोकोपकारक कर्म रूप यज्ञों और धनों की रक्षा में शस्त्रों का प्रयोग होना चाहिए।
(ङ) समय-समय पर सभाएँ बुलाकर सैनिकों के शस्त्र चालन के कर्तव्यों का प्रदर्शन कराया जाना चाहिए जिससे सर्वसाधारण प्रजा का मनोरंजन और उत्साहवर्धन हो और सैनिकों को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर मिले।

पत्नी परक अर्थ के निष्कर्ष

पत्नी परक अर्थ में मन्त्रगत विशेषणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(क) पत्नी को अच्छी तरह धारण करना चाहिए। हलके मन से पति को उसका ग्रहण नहीं करना चाहिए। गम्भीरता के साथ उसके प्रति अपने कर्तव्यों को समझते हुए उसका ग्रहण करना चाहिए।
(ख) पत्नी का रूप, उसकी वेशभूषा मनोहारी रखनी चाहिए।
(ग) उसके खाने के लिए घृत, दुग्ध आदि पदार्थों की कमी नहीं रहनी चाहिए।
(घ) यज्ञों में पत्नी को साथ बिठाना चाहिए।
(ङ) उसे भाँति-भाँति के ज्ञान सिखाने चाहिए।
(च) घर का धन उसके हाथ में रहना चाहिए।
(छ) स्त्री को युद्ध की शिक्षा भी मिलनी चाहिए।
(ज) पति को चाहिए कि वह सदा अपनी पत्नी को अपने हृदय में रखे। अन्य नारी का चिन्तन न करे।
(झ) उसके रहने के लिए अच्छा घर हो।
(ञ) समय-समय पर पत्नी को सभाओं में जाकर भाषण सुनने और देने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए।

सैनिक परक अर्थ के निष्कर्ष

सैनिक परक अर्थ में मन्त्र के विशेषणों से अग्रांकित परिणाम निकलते हैं—

(क) सैनिकों की सभाएँ होनी चाहिए जिनमें समय-समय पर सैनिक भाषण दिया और सुना करें।

(ख) सैनिकों को भली-भाँति बोलने का अभ्यास कराया जाये।

(ग) उन्हें तेजस्वी परन्तु साथ ही मनोहर भाषा बोलने की शिक्षा दी जाये।

(घ) उन्हें हितकारी बातें बोलने का अभ्यास कराया जाये।

(ङ) उन्हें शिक्षा दी जाये कि वे जब बोला करें तो दिल की बात बोला करें।

(च) सैनिक अग्निहोत्रादि यज्ञ भी सम्मिलित होकर किया करें।

हमारा इस मन्त्र को यहाँ उद्धृत करने का मुख्य प्रयोजन तो यह दिखाना है कि वेद की सम्मति में सैनिकों की सभाएँ भी होनी चाहिए। शेष दो प्रकार के अर्थ तो हमने प्रसंग से मन्त्र का अर्थ भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए दे दिये हैं। इस मन्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि सैनिकों की अपनी सभाएँ होनी चाहिए। इन सभाओं में सैनिकों को समय-समय पर उत्तम शिक्षाप्रद भाषण सुनाये जायेंगे। उन्हें सुन्दर, मनोहर और प्रभावशाली ढंग से भाषण करना सिखाया जायेगा। परस्पर के मनोरंजन के लिए सैनिक इन सभाओं में शस्त्र-चालन आदि के खेल भी दिखाया करेंगे। सैनिकों के शिविर (कैम्प) के जीवन को आमोदमय बनाने के लिए नाटक खेलना आदि और भी जो बातें आवश्यक होंगी वे इन सभाओं में की जाया करेंगी। इन्हीं सब अभिप्रायों को ध्यान में रखकर वेद के इस मन्त्र में सैनिकों की सभाओं का उल्लेख किया गया है।

10

रुद्र के औषधालय

वेद के युद्ध सम्बन्धी प्रकरणों का अध्ययन करने पर हम इस परिणाम पर भी पहुँचते हैं कि युद्ध-विभाग का अपना एक ओषध-विभाग भी रहना चाहिए। जिन वर्णनों से यह परिणाम निकलता है उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

1. यत्सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः ।
   यत्पर्वतेषु भेषजम् ॥ ऋग्० 8.20.25.
2. विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत ।
   क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ ऋग्० 8.20.26.
3. हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत् ।
   ऋग्० 1.114.5.
4. त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः ।
   व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ॥
   ऋग्० 2.33.2.
5. उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ।
   ऋग्० 2.33.4.
6. क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः
   अपभर्ता रपसो दैव्यस्य । ऋग्० 2.33.7.
7. त्वं भेषजा रास्यस्मे । ऋग्० 2.33.12.
8. या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या
   मयोभु.....ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि । ऋग्० 2.33.13.
9. अनमीवो रुद्र जासु नो भव। ऋग्० 7.46.2.
10. सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा । ऋग्० 7.46.3.
11. रुद्रं जलाषभेषजम् । ऋग्० 1.43.4.
12. शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः । ऋग्० 7.35.6; अथ० 17.10.6.
13. रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नः । ऋग्० 10.66.3.
14. यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य । ऋग्० 5.42.11.

15. भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् ।
सुखं मेषाय मेष्यै ॥ यजु० 3.59.

16. प्रथमो दैव्यो भिषक् । यजु० 16.5.

17. या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ यजु० 16.49.

18. रुद्र जलाषभेषज । अथ० 2.27.6.

19. इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ अथ० 6.57.1.

20. जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ अथ० 6.57.2.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे भले प्रकार बढ़ाने वाले मरुतो (सैनिकों) जो ओषध (भेषजम्) नदियों में (सिन्धौ) है, जो रात्रियों में (असिक्न्याम्)[1] है, जो समुद्रों में है और जो पर्वतों में है। (2) उस सब प्रकार के (विश्वं) ओषध को जानते हुए (पश्यन्तः) तुम शरीरों में धारण करो, और उसे हमें बताओ, हममें से रोगी पुरुष के (आतुरस्य) रोग की (रमः) शान्ति (क्षमा) जैसे हो वैसे करो और रोगी के कटे हुए अंग को (विहुतं) भी फिर पूर्ण बना दो (इष्कर्त)।[2] (3) हाथ में ग्रहण करने योग्य उत्तम (वार्याणि) ओषधों को (भेषजा) धारण किये हुए वह रुद्र (सेनापति) हमें रोग से शान्ति (शर्म) दे, शस्त्रों से रक्षा (वर्म) दे, और हमारे घरों की (छर्दिः)[3] रक्षा करे। (4) हे रुद्र (सेनापति) तेरे द्वारा प्रदान की हुई अतिशान्ति देने वाली ओषधों से हम सौ साल तक जीवें, तुम हमारे शत्रुओं को (द्वेषः) रोगजनक हमारे पाप कर्मों को (अंहः) और रोगों को (अमीषाः) हमसे दूर चारों ओर भाग जाने वाले (विषूचीः) बनाकर नष्ट कर दो।' (5) हे रुद्र (सेनापति) हम तुम्हें वैद्यों से श्रेष्ठ वैद्य (भिषजां भिषक्तमं) सुनते हैं, तुम हमारे वीरों को अपनी ओषधों से (भेषजेभिः) युक्त करो (उन् अर्पय)।[4] (6) हे रुद्र (सेनापति) तुम्हारा सुख देने वाला, रोग दूर करने वाला (भेषजः) शान्ति देने वाला अथवा जल द्वारा रोग शान्त करने वाला (जलाषः)[5], दिव्य रोगों को भी (दैव्यस्य रपसः) हरने वाला वह हाथ कहाँ है। (7) हे रुद्र (सेनापति) तुम हमें ओषधियाँ (भेषज) प्रदान करते हो। (8) हे सुखवर्षक मरुतो (सैनिको) तुम्हारी जो पवित्र, अतिशय शान्ति देने वाली, सुख उत्पन्न करने वाली (मयोभु) ओषधियाँ

[1] असिक्नीति रात्रिनाम । निघं० 1.7.
[2] निःशेषेण सम्पूर्णं कुरुतेति सायणः ।
[3] छर्दिरिति गृहनामसु पठितम् । निघं० 3.4.
[4] उत्कृष्टं संयोजयेति सायणः ।
[5] जलाषमिति उदकनामसु पठितम् । नि० 1.12.
जलाषमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० 3.6.

(भेषजा) हैं, रुद्र (सेनापति) की उन सारी ओषधियों को रोगों के शमन के लिए (शं) और रोगजन्य भयों को भगाने के लिए (योः) मैं चाहता हूँ (वश्मि)। (9) हे रुद्र (सेनापति) तू हमारी प्रजाओं में नीरोगता उत्पन्न करने वाला (अनमीवः) हो। (10) हे रुद्र (सेनापति) तुम शमनकारक वायु देने वाले (स्वपिवात) हो, तुम्हारे पास हजारों प्रकार की ओषधियाँ (भेजषा) हैं। (11) रुद्र (सेनापति) जल से ओषध करने वाला (जलाषभेषज) है। (12) जल से ओषध करने वाला (जलाषः) रुद्र (सेनापति) अपने रुद्रों (सैनिकों) के साथ हमारे लिए शान्तिकारक होवे। (13) दिव्य गुणों वाला (देवः) रुद्र (सेनापति) अपने रुद्रों (सैनिकों) के साथ हमें सुख प्रदान करे। (14) वह रुद्र (सेनापति) जो कि सब प्रकार के (विश्वस्य) ओषधों का स्वामी है (क्षयति)। (15) हे रुद्र (सेनापति) तुम गौवों के लिए, घोड़ों के लिए, पुरुषों के लिए, मेंढों और मेंढियों के लिए सुखकारी ओषध हो अर्थात् उन्हें सुखकारी ओषध देने वाले हो। (16) रुद्र (सेनापति) सबसे श्रेष्ठ (प्रथमः) और दिव्य वैद्य (भिषक्) है। (17) हे रुद्र (सेनापति) जो तुम्हारा मंगलकारी (शिवा) सदा (विश्वाहा) ओषध देने वाला (भेषजी) रोगों की (रुतस्य) चिकित्सा करने वाला (भेषजी) रूप (तनूः) है उस अपने रूप से तुम हमें जीवन के लिए सुखी करो। (18) हे रुद्र (सेनापति) तुम जल द्वारा चिकित्सा करने वाले हो (जलाषभेषज)। (19) यह निश्चय से ओषध (भेषजम्) है, यह रुद्र की ओषध (भेषजम्) है, जिससे वह रुद्र (सेनापति) एक दण्ड वाले (एकतेजनां) और सौ शल्यों वाले (शतशल्याम्) बाणों को ओषध का नाम बोलकर ही परे फेंक देता है (अपब्रवत्)।[1] (20) (रुद्र के उस ओषध) जल से (जालाषेण)[2] इस रोग स्थान को सिक्त करो (अभिषिञ्चत) जल से इसके समीप के स्थान में सिंचन करो (उपसिञ्चत) यह जल बड़ा तेज (उग्रं) ओषध (भेषजं) है, उससे जीवन के लिए हमें सुखी करो।

इन मन्त्रों में मरुतों (सैनिकों) और रुद्र (सेनापति) का ओषधियों के साथ स्पष्ट सम्बन्ध बताया गया है।

आठवें मन्त्र में मरुतों की ओषधियों को रुद्र की ओषधि कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि ओषधियों पर वास्तविक नियन्त्रण रुद्र का ही है। रुद्र की आज्ञा से, उसके निरीक्षण में, ही मरुत् ओषधियों का प्रयोग करते हैं। इस मन्त्र का मरुत् शब्द सेना के चिकित्सकों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि सेना के वैद्य भी एक सीमा तक सैनिक शिक्षा प्राप्त किये होंगे इसलिए उन्हें मरुत् (सैनिक) कहा गया है। इस कथन का यह भी भाव प्रतीत होता है कि सेना के वैद्यों के पदाधिकार के नाम सैनिकों की तरह ही रखे जाने चाहिए।

दूसरे मन्त्र में मरुतों (सेना-वैद्यों) को सब प्रकार की ओषधियों को जानने

[1] नामोच्चारण पूर्वकमपा करोति।

[2] जलाषमित्युदकनामसु पठितम्। निघं० 1.12। जलाषमेव जालाषं स्वार्थे अण्। यद्वा जलाषनिष्पन्नं जालाषम्।

वाले कहा है। चौदहवें मन्त्र में रुद्र को सब प्रकार की ओषधियों का स्वामी बताया गया है। दसवें मन्त्र में रुद्र को हजारों ओषधियों वाला कहा गया है। इस वर्णन से यह ध्वनि निकलती है कि सेनाओं के औषधालयों में सब प्रकार के रोगों की ओषधियाँ प्रचुर मात्रा में रहनी चाहिए। दूसरे मन्त्र में यह भी कहा गया है कि टूटे हुए अंगों को जोड़ने के लिए आवश्यक ओषधियाँ भी रुद्र के औषधालयों में रहनी चाहिए। सेनाओं में, विशेषकर युद्ध के समय, इसी प्रकार की ओषधियों की आवश्यकता पड़ेगी। तीसरे मन्त्र में ओषधियों को 'वार्या' कहा है। इसका अर्थ वरण करने योग्य, ग्रहण करने योग्य होता है। भाव यह है कि रुद्र के अपने औषधालयों में जो ओषधें हों उनके बनाने में ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि उन्हें यथासंभव प्रत्येक प्रकार के स्वभाव का व्यक्ति ग्रहण कर सके। चौथे मन्त्र में ओषधों को 'शन्तम' कहा है। आठवें मन्त्र में उन्हें 'शन्तम', 'मयोभु' और 'शुचि' कहा है। 'शन्तम' का अर्थ अतिशय शान्ति देने वाली होता है। ओषध ऐसी होनी चाहिए जिनके प्रदान करते ही रोगी को शान्ति पड़ जाये। 'मयोभु' का अर्थ होता है सुख पैदा करने वाली। ओषध ऐसी होनी चाहिए जिनके सेवन से रोगी का सुख बढ़ जाये। 'शुचि' का अर्थ होता है पवित्र। ओषधियाँ पवित्र द्रव्यों से बनाई जानी चाहिए। सत्रहवें मन्त्र में रुद्र की ओषधियों को 'शिवा' कहा है। शिवा का अर्थ मंगलकारिणी होता है। ओषधियाँ रोगी का मंगल करने वाली, इसका भला करने वाली ही हों, उसका अमंगल, उसका विगाड़, करने वाली न हों। पन्द्रहवें मन्त्र में रुद्र को गौ, घोड़े, पुरुष, और मेंढ़ों को ओषध देने वाला कहा है। सैनिकों को शुद्ध दूध, घी आदि देने के लिए रुद्र की अपनी गौवें और गौशालाएँ भी होंगी। घोड़े और पुरुष तो सेनाओं में होंगे ही। सैनिकों के वस्त्रों का प्रवन्ध करने के लिए अनेक अवसरों पर रुद्र को अपनी भेड़ और बकरियाँ भी रखना आवश्यक हो सकता है। रुद्र के पास जहाँ पुरुषों के लिए औषधालय हों वहाँ उसके पास इन पशुओं के रोगों की चिकित्सा करने के लिए भी औषधालय होने चाहिए। ऐसी ध्वनि इस मन्त्र के वर्णन से निकलती है। छठे मन्त्र में रुद्र को दिव्य रोगों को दूर करने वाला कहा है। इससे यह द्योतित होता है कि रुद्र के औषधालयों में भयानक से भयानक और असाध्य से असाध्य समझे जाने वाले रोगों की चिकित्सा के भी साधन होने चाहिए।

प्रथम मन्त्र में ओषधियाँ प्राप्त करने के कुछ स्थान बताये गये हैं। कहा है कि ओषधियाँ नदियों में, समुद्रों में और पर्वतों में प्राप्त होती हैं। अन्वेषण द्वारा इन स्थानों में हजारों प्रकार की ओषधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इसी मन्त्र में कुछ ओषधियों को रात में उत्पन्न होने वाली भी कहा गया है। संभवतः कुछ ओषधियाँ ऐसी भी होती हों जो रात में उत्पन्न होती हों और रात के समय ही बढ़ती हों। इस सम्बन्ध में अनुसंधान की आवश्यकता है।

छठे, ग्यारहवें, बारहवें, अठारहवें और उन्नीसवें मन्त्रों में जल को रुद्र की ओषधि कहा गया है। बीसवें मन्त्र में जल को बड़ा उग्र ओषध बताया गया है।

उन्नीसवें मन्त्र में तो जल द्वारा सौ शस्त्रों से हुए घावों को अच्छा करने का वर्णन भी है। इन वर्णनों से जहाँ जल के ओषधीय गुणों की सूचना मिलती है वहाँ यह भी ध्वनित होता है कि रुद्र के औषधालयों में जलचिकित्सा का प्रबन्ध भी रहना चाहिए।

इस प्रकार इन मन्त्रों में रुद्र के साथ ओषधियों का जो वर्णन हुआ है, उसे उपचार से जो वैद्य (भिषक्) और श्रेष्ठ वैद्य (भिषक्तम) कहा गया है वह असंदिग्ध रूप में सूचित करता है कि रुद्र (सेनापति) के अपने औषधालय और उसका अपना ओषध विभाग होना चाहिए। सामान्य प्रजाओं की चिकित्सा जिन औषधालयों में होती है उनसे सेना विभाग का काम नहीं चल सकता, विशेषकर युद्ध के समयों में तो बिल्कुल ही नहीं चल सकता। इसी कारण इन मन्त्रों द्वारा रुद्र के अपने ओषध विभाग रहने की सूचना दी गई है।

11

सेनाओं का संगठन

पीछे इस भाग के दूसरे अध्याय में मरुत् का अर्थ सैनिक सिद्ध करते हुए हमने उनके सम्बन्ध में आने वाले गण, व्रात, अनीक, और वरूथ शब्दों को देखा था। और इनके विषय में हमने वहाँ कहा था कि ये सेना के घटक सैनिकों के समूहों के वाचक हैं। इस खण्ड में हम कुछ अधिक विस्तार से देखना चाहते हैं कि वेद ने सेनाओं के संघटन के सम्बन्ध में क्या उपदेश दिया है।

सेना का सबसे छोटा गण दस का होना चाहिए

ऋग्वेद 2.34.12 में मरुतों के लिए एक विशेषण 'दशग्वाः' आया है। इसका अर्थ होता है दस-दस की संख्या में चलने वाले। संस्कृत में इस पद की निरुक्ति होगी—'दशभिः गमनं येषां ते दशग्वाः।'[1] संख्यावाची दश पद उपपद में रखकर 'गम्' धातु से भाव में 'ड्व' प्रत्यय करने पर 'दशग्व' शब्द सिद्ध होता है। अब, मरुत् दस की संख्या में चलने वाले हैं इस कथन का क्या अभिप्राय हुआ? इस कथन का स्पष्ट यह अभिप्राय है कि सैनिकों की सबसे छोटी टुकड़ी दस की होनी चाहिए। फिर आगे जो उनकी टोलियाँ या गण बनेंगे वे भी इसी प्रकार दस-दस मिलकर बनेंगे। दस सैनिकों का एक गण, ऐसे दस गणों का उससे बड़ा अगला गण, फिर ऐसे दस गणों का उससे अगला और बड़ा गण, और फिर ऐसे दस गणों का उससे भी और बड़ा अगला गण, इस प्रकार सैनिकों के बड़े-बड़े गण बनते जाएँगे। सबसे छोटा गण दस का होगा।

ग्यारह रुद्र

ब्राह्मण ग्रन्थों और अन्य ग्रन्थों में 'एकादश रुद्रों'—ग्यारह रुद्रों—का बहुत वर्णन आता है। मरुत् 'दशग्व' हैं वेद के इस कथन से इन ग्रन्थों के 'ग्यारह रुद्रों' की बड़ी सुन्दर व्याख्या हो सकती है। पाठक पीछे देख चुके हैं कि वेद में मरुतों को भी रुद्र कहा गया है और सेनापति को भी रुद्र कहा गया है। अब ग्यारह रुद्र बड़े स्पष्ट हो जाते हैं। दस रुद्र तो हुए गण के दस सैनिक और ग्यारहवाँ रुद्र हुआ उस गण का सेनापति।

[1] ऋग्० 1.62.4 में सायण ने 'नवग्वैः' और 'दशग्वैः' पदों की निरुक्ति इसी भाँति की है।

मरुतों की यह दशग्वता या दशगामिता सेनाओं का हिसाव रखने में वड़ी सुविधाजनक है। प्रत्येक गण दस का होगा और ग्यारहवाँ उसका सेनापति होगा। इसी प्रकार अगले वड़े गणों की भी व्यवस्था होगी। कल्पना कीजिए जो गण तीसरी वार दस से गुणा होने पर वना है उसके आदमियों की संख्या हमें जाननी है। इसमें यह दशमलव का हिसाव वड़ी सुगमता उत्पन्न कर देगा। हमें मालूम है कि सवसे छोटे गण में दस सैनिक होते हैं। इसलिए इस तीसरी वार दस गुणित गण में 10×10×10=1000 (एक सहस्र) तो सामान्य सैनिक होंगे। फिर एक-एक दस पर एक सेनापति है। इसलिए 100 (एक सौ) ये दस-दस पर के सेनापति होंगे। फिर दूसरी बार दस-गुणित गण का भी अपना एक सेनापति है। इसलिए तीसरी वार दस-गुणित गण में ऐसे 10 (दस) सेनापति और होंगे। और इस तीसरी वार दस-गुणित गण का भी अपना पृथक् सेनापति होगा। इसलिए 1 (एक) सेनापति वह हुआ। इस प्रकार इस तीसरी वार दस-गुणित गण या सेना में कुल 1000+100+10+1=1111 आदमी होंगे। इसी प्रकार आगे के वड़े गणों या सेनाओं के कुल आदमियों की संख्या भी वड़ी सुगमता से जानी जा सकती है।

वेद में ग्यारह रुद्रों का उल्लेख नहीं

ऊपर ग्यारह रुद्रों का स्पष्टीकरण किया गया है। वेद में रुद्र के साथ ग्यारह संख्या का प्रयोग कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। वेद से अवान्तर ब्राह्मणादि अन्य साहित्य में ही ग्यारह रुद्रों का वर्णन प्राप्त होता है। हो सकता है पुराने आचार्यों ने सैनिकों की दशगामिता तो वेद में आये मरुतों के 'दशग्वा:' विशेषण से ली हो और वेद में ही रुद्र को सेनापति के रूप में वर्णित देखकर दस सैनिकों (मरुतों=रुद्रों) के साथ उसे अपनी ओर से जोड़कर ग्यारह रुद्रों की कल्पना कर ली हो। क्योंकि सैनिक बिना सेनापति के नहीं हो सकते इसलिए दस सैनिकों (रुद्रों) के साथ ग्यारहवाँ सेनापति (रुद्र) भी होना चाहिए, ऐसी तर्कणा सम्भवत: उन आचार्यों की रही होगी। फिर, ग्यारह रुद्रों का जो वर्णन सर्वत्र पाया जाता है उस सवको सैनिक और सेनापति परक नहीं लगाया जा सकता। कई जगह दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा ऐसा भी रुद्रों का अर्थ होता है। फिर पुराणों में तो ग्यारह रुद्रों का ऐसा स्वरूप बना दिया गया है जिसकी वेद के वर्णनों के साथ किसी प्रकार की संगति नहीं लगाई जा सकती। वहाँ ये ग्यारह रुद्र पार्वती के पति महादेव के रूपान्तर और उसी के वशवर्ती ग्यारह देव-विशेष[1] वन जाते हैं।

क्योंकि वेद में ग्यारह रुद्रों का वर्णन नहीं है। इसलिए ग्यारहवें रुद्र (सेनापति) को दस रुद्रों (मरुतों=सैनिकों) से पृथक् नहीं मानना चाहिए ऐसा भी

[1] महाभारत में ग्यारह रुद्रों के नाम इस प्रकार दिये हैं—मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशा:, अजैकपादहिर्बुध्न्य: पिनाकी च परन्तप:। दहनोथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युति:स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रां एकादश स्मृता:। महा० आदि० 66.2,3.

एक मत हो सकता है। इस मत में दस मरुतों (रुद्रों) अर्थात् सैनिकों में से ही एक को उनका सेनापति या गणनायक मानना होगा। क्योंकि गण के सुचारु रूप से अपना कार्य करने के लिए एक गण-नायक का होना तो नितान्त आवश्यक है। अब तो मरुतों का सबसे छोटा दस का गण बनेगा उसमें नौ तो सामान्य सैनिक होंगे और दसवाँ सेनापति होगा। अब इस सबसे छोटे गण से अगला जो दस गुणा बड़ा गण बनेगा उसमें सौ आदमी तो प्रारम्भिक दस-दस के गणों के होंगे और एक सौ-एकवाँ इस बड़े गण का सेनापति होगा। क्योंकि यहाँ आकर तो प्रारम्भिक दस-दस के गणों से बाहर का ही व्यक्ति सेनापति बनाना पड़ेगा। फिर इससे अगले और बड़े दस गुणे गण में 1000 आदमी तो प्रारम्भिक दस-दस के गणों के होंगे। 10 सौ-सौ के गणों के सेनापति होंगे। और 1001वाँ इस बड़े गण का अपना सेनापति होगा। इस प्रकार इस तीसरी बार दस-गुणित गण में कुल आदमियों की संख्या 1011 (एक सहस्र ग्यारह) होगी। इसी प्रकार और भी बड़े गणों या सेनाओं की संख्या जानी जा सकती है।

किसी का यह भी मत हो सकता है कि वेद में तो मरुतों को 'दशग्व' कहा है। उनके गण दस-दस गुणे होते चलते हैं। इसलिए सेनापति को दस से विभाजित होने वाली संख्या से बाहर का नहीं मानना चाहिए। उसके भीतर के ही एक व्यक्ति को सेनापति समझ लेना चाहिए। इस मत में पहला जो दस का गण होगा उसमें 9 सैनिक होंगे और 10वाँ सेनापति होगा। अगले दस गुणे गण में 100 सैनिक होंगे। जिनमें से किसी एक को इस गण का सेनापति बना दिया जायेगा। वह अपने दस के गण का भी सेनापति होगा और अपने सहित इन 100 का भी सेनापति होगा। फिर इससे अगला जो दस गुणा गण बनेगा उसमें 1000 (एक सहस्र) सैनिक होंगे और इनमें से ही एक व्यक्ति इस गण का सेनापति होगा। यह सेनापति अपने दस के गण का भी सेनापति होगा, अपने सौ के गण का भी सेनापति होगा और अन्त में अपने सहित इस एक सहस्र के गण का भी सेनापति होगा। इस प्रकार इस पद्धति से तीसरी बार दस-गुणित गण में कुल 1000 ही आदमी होंगे। इसी प्रकार आगे के और बड़े गणों या सेनाओं की संख्या भी जानी जा सकती है। वह पिछले का दस गुणा होती जायेगी और दस पर पूरी विभाजित होती रहेगी।

हमारी सम्मति में सेना-संघटन के इन तीनों प्रकारों में से पहिला प्रकार अधिक ठीक जँचता है। एक तो उसमें यह कारण है कि वह ग्यारह रुद्रों की जो अनुश्रुति चली आ रही है उसके साथ मिला रहता है। इससे अधिराष्ट्र अर्थ में ग्यारह रुद्रों की व्याख्या हो जाती है। दूसरे यह कि प्रत्येक गण का सेनापति उसके सामान्य सैनिकों से पृथक् होने पर व्यवस्था ठीक चल सकती है। पहले दस के गण में तो कुछ अव्यवस्था नहीं होती। नौ सामान्य सैनिक होंगे और दसवाँ सेनापति होगा। पर इसके आगे के बड़े गणों में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। कल्पना कीजिए तीसरी बार दस-गुणित गण का सेनापति एक स्थान पर घोड़े पर खड़ा होकर अपनी सेना से

अभिवादन ले रहा है। अब, इस सेना के दस-दस और सौ-सौ के गणों के सेनापति अपने-अपने अधीन सैनिकों से प्रधान-सेनापति का अभिवादन करा रहे हैं। और-और गणों का अभिवादन का कार्य ठीक हो जायेगा। दस के और सौ के एक गण का कार्य ठीक नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो प्रधान-सेनापति है, जिसका अभिवादन हो रहा है, वह दस के और सौ के एक-एक गण का भी सेनापति है। वह खड़ा होकर अभिवादन लेगा या सीधे अपने अधीन सैनिकों से अभिवादन दिलवायेगा ? यहाँ आकर अव्यवस्था मच जायेगी। सेनापति को गण के सैनिकों से पृथक् न रखने पर प्रबन्ध-सम्बन्धी और भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाएँगी।

रही मरुतों को 'दशग्व' कहने की बात। उसका भी समाधान हो जाता है। मरुतों को, सामान्य सैनिकों को, दशग्व कहा है सो वे तो दस-दस की संख्या में चलेंगे ही। अगले-अगले गण में मरुतों की संख्या तो पिछले-पिछले गण की अपेक्षा दस गुणा होती ही चलेगी। हाँ, रुद्र या सेनापति मरुतों अर्थात् सामान्य सैनिकों से पृथक् रहेंगे। सेनापतियों को पृथक् रखने पर भी मरुतों की दशगामिता में कोई बाधा नहीं आती।

सेना-संघटन का ऊपर वर्णित तीनों प्रकारों में से कोई भी प्रकार स्वीकार करें, वेद ने मरुतों को 'दशग्व' अर्थात् दशगामी कहकर सेना-संघटन में दशमलव की पद्धति से गिनने की शैली को अपनाया है। इसमें सेनाओं का हिसाब रखने में बड़ी सुविधा रहेगी। वेद के इन्हीं स्थलों से सम्भवतः संकेत पाकर महाराज मनु ने अपने ग्राम-प्रबन्ध में यही दशमलव की गणना-पद्धति अपनाई है।[1]

दूसरा बड़ा गण सौ का होना चाहिए

अभी ऊपर हमने मरुतों की दशग्वता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सेना के गणों का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि सबसे छोटा गण दस का हो। और फिर अगला-अगला गण पिछले से दस गुणा होता जाये। इस प्रकार दस-दस के गणों के पश्चात् अगला बड़ा गण सौ का बनेगा। यह हमने निरा अपनी कल्पना से ही नहीं कहा है। इसकी पुष्टि स्वयं वेद से भी होती है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 7.57.7 में मरुतों को शतिनः ऐसा कहा है। 'शतिनः' का अर्थ होता है—'सौ वाले।' सौ-सौ के समूहों में विभक्त होने के कारण मरुतों को 'शतिनः' अर्थात् 'सौ वाले' कहा गया है। मरुतों के इस विशेषण से स्पष्ट है कि सैनिकों के दूसरे क्रम के बड़े गण सौ-सौ के होने चाहिए।

उससे भी बड़ा गण सहस्र का होना चाहिए

गणों के सैनिकों की यह संख्या उत्तरोत्तर दस-गुणा होती जायेगी। इसमें और भी प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए ऋग्० 1.168.2 मन्त्र देखिये। इसमें मरुतों को

[1] ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशञ्च सहस्रपतिमेव च॥ मनु० 7.115.

लक्ष्य करके कहा है—

सहस्रियासो अपां नोर्मयः ।

अर्थात्—'ये मरुत् जलों की तरंगों की भाँति सहस्र संख्या में चलने वाले (सहस्रियासः)[1] हैं ।'

पाठक इस मन्त्र की उपमा को जरा ध्यान से देखें । समुद्र या किसी वड़े जलाशय में जैसे उठती हुई लहरें दिखाई देती हैं—उनकी जैसे एक के पीछे दूसरी श्रेणी आती हुई दीखती है—वैसे ही इन मरुतों की भी एक के पीछे दूसरी आती हुई श्रेणियाँ दिखाई देती हैं । सेना जव चलती है तो समुद्र में लहरें सी उठती हुई प्रतीत होती हैं । इस उपमा से यह ध्वनि निकलती है कि चलते समय सैनिकों को जमघट में नहीं चलना चाहिए प्रत्युत श्रेणियाँ बनाकर लहरों की भाँति एक के पीछे दूसरी श्रेणी को चलना चाहिए ।

पाठक देखेंगे कि यहाँ मरुतों को 'सहस्रियासः' अर्थात् हजार-हजार की संख्या में चलने वाला कहा है । इससे स्पष्ट है कि सैनिकों के तीसरे क्रम पर बड़े गण हजार-हजार के वनाने चाहिए ।

पाठक देखेंगे कि मरुतों को क्रम से दशग्व, शती, और सहस्री कहना स्पष्ट करता है कि हमने 'दशग्वाः' की जो व्याख्या की है और उससे जो यह परिणाम निकाला है कि सैनिकों का सबसे छोटा गण दस का हो और अगला-अगला गण दस-गुणा होता चला जाये वह सर्वथा ठीक है ।

और उससे भी बड़ा गण दस सहस्र का होना चाहिए

अथ० 8.8.7 में इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है—

तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ।

अर्थात्—'शक्तिशाली इन्द्र अपने जाल से दस्युओं को शत, सहस्र, अयुत और अर्बुद लोगों को बाँधकर अपनी सेना से मार देता है ।'

इस मन्त्र में इन्द्र की सेना की शक्ति बताई गई है । यदि उसके सम्मुख शत अर्थात् सौ शत्रु आ जायें तो वह उन्हें मार देती है । यदि सहस्र अर्थात् हजार आ जायें तो वह उन्हें मार देती है । और यदि अयुत अर्थात् दस हजार आ जायें तो वह उन्हें भी मार देती है । और फिर कहा कि गिनाते कहाँ तक चलें यदि अर्बुद अर्थात् एक अरव शत्रु भी उसके सामने आ जायें तो वह उन्हें भी मार देती है ।

पाठक देखेंगे कि हम मरुतों के दशग्व, शती और सहस्त्रों विशेषणों के आधार पर सेना के दस-दस, सौ-सौ और हजार-हजार के गणों की रचना पर दृष्टि डाल चुके हैं । प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र के शत्रुओं की सेना की गणना दी गई है । इसमें सौ, हजार और दस हजार का यह क्रम 'दशग्वाः' की हमारी व्याख्या से निष्पन्न होने वाले

[1] सहस्रसंमिता इति सायणः ।

क्रम के अनुसार दिया गया है। सौ, हजार और दस हजार इस प्रकार दस-गुणित क्रम से सेना को गिनाने की यह स्पष्ट सूचना निकलती है कि हजार-हजार के गणों के पश्चात् अगले बड़े गण दस-दस हजार के बनाने चाहिए।

इसी विधि से अरबों तक की सेनाएँ बनाई जा सकती हैं

इस प्रकार दस हजार तक के गणों का तो क्रमिक वर्णन वेद में उपलब्ध होता है। परन्तु आवश्यकतानुसार, इससे भी बहुत बड़ी-बड़ी सेनाओं का निर्माण कर लेना चाहिए इसके निर्देश भी हमें वेद में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. परःसहस्रा हन्यन्ताम्। अथ० 8.8.11.
2. हनाम शचीपतेमित्राणां सहस्रशः। अथ० 11.9.23.
3. शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः। अथ० 19.13.2; ऋग्० 10.103.1; यजु० 17.33.

अर्थात्—(1) हमारे सेनापति के प्रहार द्वारा हजारों शत्रु सेनाएँ मार डाली जाएँ। (2) हे इन्द्र हम हजारों शत्रुओं को मार डालें। (3) इन्द्र सैंकड़ों सेनाओं को एक साथ ही जीत लेता है।

इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में हजारों सेनाओं का वर्णन आता है। अभी ऊपर उद्धृत अथ० 8.8.7 मन्त्र में अरब तक की सेनाओं का वर्णन भी आया है। इन सब वर्णनों से यह स्पष्ट निर्देश निकलता है कि केवल दस, सौ, हजार और दस हजार तक हीं नहीं, आवश्यकतानुसार हजारों, लाखों, करोड़ों और अरबों तक की सेनाओं का निर्माण भी किया जा सकता है। परन्तु सेनाओं के इस निर्माण में ऊपर प्रदर्शित रीति के अनुसार सैनिकों की संख्या दशमलव की पद्धति से ही रखनी चाहिए जिससे सेनाओं का हिसाब सुगमता से रखा जा सके।

सेना के गणों के विभिन्न नाम रख लेने चाहिए

सेनाओं में दस-दस के, सौ-सौ के, हजार-हजार के, दस-दस हजार के अनेक गण होंगे। इन गणों से सुविधापूर्वक कार्य लेने के लिए इनके भिन्न-भिन्न नाम रख लेने चाहिए। ये नाम दो प्रकार से रखे जा सकते हैं। एक तो इस प्रकार से कि दस के गण को गण, व्रात, वरूथ, अनीक आदि नामों में से अमुक नाम से कहेंगे, सौ के गण को अमुक नाम से, हजार के गण को अमुक नाम से और दस हजार के गण को अमुक नाम से, इत्यादि। उदाहरण के लिए भारतवर्ष के मध्यकालीन सेनाधिकारी अपनी सेनाओं के गणों के नाम इस प्रकार रखा करते थे—एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल इनसे मिलकर सेना का जो सबसे छोटा गण बनता है उसका नाम पत्ति। तीन पत्तियों का नाम सेनामुख। तीन सेनामुखों का नाम गुल्म। तीन

गुल्मों का गण। तीन गणों की वाहिनी। तीन वाहिनियों की पृतना। तीन पृतनाओं की चमू। तीन चमुओं की अनीकिनी। तीन अनीकिनियों की दशानीकिनी। तीन दशानीकिनियों की अक्षौहिणी।[1] सेना की किस टुकड़ी को कहाँ भेजना है, किसको कहाँ इत्यादि व्यवस्था करने में सेना के गणों के नाम रखना भारी सुविधाजनक होगा। फिर दूसरे अमुक-अमुक नाम विशिष्ट गण भी सेनाओं में अनेक होंगे। कल्पना कर लीजिए कि हमने दस के गण का नाम वरूथ रख लिया और सौ के गण का नाम अनीक रख लिया। तो अब एक बड़ी सेना में हजारों वरूथ होंगे और सैंकड़ों अनीक होंगे। किसी युद्ध में कौन-कौन वरूथ या अनीक भेजना है इसकी व्यवस्था करने के लिए इन हजारों और सैंकड़ों वरूथों और अनीकों के भी पृथक्-पृथक् नाम रखने आवश्यक होंगे। जैसे कि आजकल लैंसर्स (Lancers=भाले वाले), राइफल्स (Rifles=बन्दूकची) आदि नाम रख लिए जाते हैं। और आवश्यकता पड़ने पर आजकल संख्याओं का प्रयोग करके भी सैंकड़ों गणों के नाम रखे जाते हैं। जैसे '81 लैंसर्स', '210 लैंसर्स', '350 लैंसर्स', '96 राइफल्स', '111 राइफल्स', '131 राइफल्स' इत्यादि। नाम किसी प्रकार के रखे जायें परन्तु उनका रखना आवश्यक है। इसके बिना सेनाओं की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

हमें अपनी सेनाओं के गणों के आवश्यकतानुसार अनेक नाम रख लेने चाहिए इसका भी निर्देश वेद में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मरुतों के सम्बन्ध में लिखा है—

1. उत स्तुतासो विश्वेभिर्नामभिः। ऋग्० 7.57.6.
2. नामानि यज्ञियानि दधिरे। ऋग्० 1.87.5.
3. प्र नामानि प्रयज्यवस्तिरध्वम्। ऋग्० 7.56.14.

अर्थात्—(1) इन मरुतों का सब नामों से स्तुति अर्थात् वर्णन किया जाता है। (2) ये मरुत् यज्ञ के लिए हितकारी अनेक नामों को धारण करते हैं। (3) हे प्रयज्यु मरुतो तुम अपने अनेक नाम बढ़ाओ।

प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि मरुतों की सब नामों से स्तुति की जाती है। सबका अर्थ यहाँ अनेक समझना चाहिए। भाव यह है कि आवश्यकता पड़ने पर अनेक नामों द्वारा सैनिकों का वर्णन किया जाता है। दूसरे मन्त्र में कहा है कि मरुत् यज्ञ के लिए हितकारी अनेक नामों को धारण करते हैं। यज्ञ का अर्थ संघटन भी होता है। मरुत् संघटन के लिए हितकारी अनेक नाम धारण करते हैं। भाव यह है कि सेना-संघटन के भली-भाँति चलाने में हितकारी अनेक नाम सैनिकों के रखे जाते हैं। तीसरे मन्त्र में मरुतों को प्रयज्यु कहा है। प्रयज्यु का अर्थ हम पीछे दिखा चुके

[1] एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्च पदातिका।
पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैं क्रमादाख्या यथोत्तरम्॥
सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः।
अनीकिनी दशानीकिन्योऽक्षौहिण्यथ संपदि॥ अमर० 2.8.80,81.

हैं जो संघटन में रहने वाला होता है। इस मन्त्र में सैनिकों के लिए कहा गया है कि वे प्रयज्यु होकर अपने अनेक नाम बढ़ाते हैं। भाव यह है कि सैनिक सेना-संघटन में रहते हैं और उसके लिए उपयोगी उनके अनेक नाम रखे जाते हैं। पाठक देखेंगे कि सैनिकों के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सेना की सुव्यवस्था के लिए उसके गणों के विभिन्न नाम रख लेने चाहिए।

सेनाओं को पंक्तिबद्ध होकर चलना चाहिए

सेनाओं को सुचारु रूप से कार्य कर सकने के लिए यह आवश्यक है कि वे पंक्तिबद्ध होकर चलें। पंक्तिबद्ध होकर चलने से सेनाओं के चलने में एक क्रम उत्पन्न हो जाता है। इस क्रम के कारण सेनाओं का व्यवस्था के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना और शीघ्र जाना बड़ा सुलभ हो जाता है। जमघट में चलने से यह बात नहीं हो सकती। इसलिए वेद में स्थान-स्थान पर यह उपदेश किया गया है कि सेनाओं को पंक्तिबद्ध होकर चलना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. वयो न श्रेणीः पप्तुः। ऋग्० 5.59.7.
2. ययि वय इव मरुतः। ऋग्० 1.87.2.
3. वयो न पप्तता सुमायाः। ऋग्० 1.88.1.
4. आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन्। ऋग्० 7.59.7.
5. आप इव सध्र्यञ्चो धवध्वे। ऋग्० 5.60.3.
6. अपां न ऊर्मयः। ऋग्० 1.168.2.
7. धारावराः। ऋग्० 2.34.1.

इनका शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ये मरुत् पक्षियों की भाँति श्रेणियों अर्थात् पंक्तियों में चलते हैं। (2) ये पक्षियों की भाँति चलते हैं। (3) हे कौशलमयी बुद्धि वाले मरुतो तुम पक्षियों की भाँति चलो। (4) ये मरुत् नीलपृष्ठ हंसों की भाँति चलते हैं। (5) हे मरुतो तुम जलों की भाँति साथ मिलकर दौड़ते हो। (6) ये मरुत् जलों की तरंगों की भाँति चलते हैं। (7) ये मरुत् अपनी धाराओं अर्थात् पंक्तियों से भूमि को आवृत करते हुए चलते हैं।

उद्धृत प्रथम चार मन्त्रों में मरुतों के चलने के लिए 'पत्' धातु का प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग पक्षियों के उड़ने के लिए हुआ करता है। यहाँ क्योंकि मरुतों के चलने की पक्षियों से उपमा दी गई है। इसलिए इस क्रिया का प्रयोग स्वाभाविक था। मरुतों के सम्बन्ध में इसका अर्थ शीघ्र चलना या दौड़ना कर लेना चाहिए। हमने साधारण अर्थ चलना कर दिया है।

इन चार मन्त्रों में कहा गया है कि मरुत् पक्षियों की भाँति चलते हैं। इस पक्षियों की भाँति चलने का क्या अभिप्राय है यह प्रथम मन्त्र में स्पष्ट हो जाता है।

उसमें कहा गया है कि मरुत् पक्षियों की भाँति श्रेणियाँ अर्थात् पंक्तियाँ बाँधकर चलते हैं। इसलिए शेष तीन मन्त्रों में भी पक्षियों की भाँति चलने का अर्थ पंक्ति बाँधकर चलना समझ लेना चाहिए। फिर पाँचवें और छठे मन्त्र में जलों के चलने से उपमा दी है। पाँचवें मन्त्र में कहा है कि जल जैसे एक के साथ दूसरा मिले हुए बहते हैं, उनके बहने की गति एक-रस रहती है, वैसे ही सैनिकों को चलते समय मिलकर चलना चाहिए—उनकी गति एक-रस रहनी चाहिए। अगले सैनिकों और पिछले सैनिकों की चाल में अन्तर पड़कर उनमें दूरी नहीं बढ़ जानी चाहिए। छठे मन्त्र में कहा है कि जैसे जलों की लहरें चलती हैं वैसे सैनिकों को चलना चाहिए। लहरें चलने के समय कैसी दीखती हैं? एक तो प्रत्येक लहर लम्बी-लम्बी होती है और दूसरे, लहरें एक के पीछे दूसरी इस प्रकार चलती हैं। इसी तरह सैनिकों को चलना चाहिए। उन्हें दो-दो, चार-चार, दस-दस, बीस-बीस, सौ-सौ की यथावश्यक श्रेणियाँ बना लेनी चाहिए। फिर इन श्रेणियों को एक-दूसरे के पीछे चलना चाहिए। जब सेनाएँ इस प्रकार चलेंगी तो वे चलती हुई लहरों की भाँति दिखाई देंगी। सातवें मन्त्र में तो स्पष्ट ही कहा है कि मरुत् चलते समय धाराओं अर्थात् अपनी पंक्तियों से भूमि को ढकते हुए चलते हैं। मरुतों की इन उपमाओं और इस वर्णन से स्पष्ट है कि सेनाओं को चलते समय पंक्तिबद्ध होकर क्रमपूर्वक चलना चाहिए। जमघट में उन्हें नहीं चलना चाहिए।

अनीक और प्रतीक

यहाँ ऋग्० 7.3.6 के दो शब्दों पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। मन्त्र में अग्नि को सम्बोधन करके कहा है—

सुसन्दृक् ते स्वनीक प्रतीकम्।

अर्थात्—'हे सुन्दर अनीक वाले अग्नि तुम्हारा प्रतीक भी बड़ा सुन्दर दीखता है।'

पाठक जानते हैं कि अपने सामान्य प्रयोग में अग्नि का अधिराष्ट्र अर्थ सम्राट् होता है। तो यहाँ सम्राट् के अनीक और प्रतीक बताये गये हैं। ये अनीक और प्रतीक क्या हैं? वेद में अनीक के बल, तेज, मुख आदि कई अर्थ होते हैं। प्रतीक के भी मुख, अंग, शरीर, रूप आदि कई अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ हम इन्हें एक और दृष्टि से देख रहे हैं। पाठकों ने पीछे अनीक का एक अर्थ सेना की छोटी टुकड़ी और सेना की पंक्तिबद्ध श्रेणियाँ ऐसा देखा होगा। स्वयं श्री सायण ने भी ऋग्० 8.20.12 के 'वोनीकेष्वधि श्रियः' इस वाक्य में 'अनीकेषु' का अर्थ 'सेनामुखेषु' ऐसा किया है। जिसका अभिप्राय यह है कि 'अनीक' सेना के सामने के हिस्से को कहते हैं। अनीक का अर्थ सेना की पंक्ति कोशों में दिया ही है। सायण ने अनीक का अर्थ सेनामुख करके यह बताया है कि यदि हम किसी सेना को देख रहे हों और वह सेना हमारी ओर आ रही हो तो उसकी हमारे सामने की हमें पूरी दिखाई देने वाली पंक्ति, जिसका प्रत्येक

सैनिक हमें स्पष्ट दीख रहा है, अनीक कहलायेगी। मन्त्र में अनीक के साथ ही प्रतीक शब्द पढ़ा गया है। अनीक के साहचर्य से प्रतीक का अर्थ भी सेना सम्बन्धी ही करना होगा। मन्त्र में स्पष्ट कहा है, 'हे सुन्दर अनीक वाले तुम्हारा प्रतीक भी सुन्दर है।' इसलिए प्रतीक भी सेना की पंक्ति को ही कहेगा। परन्तु कौन-सी पंक्ति को ? प्रतीक का एक अर्थ 'विपरीत' भी होता है। इस विपरीत अर्थ के बल से हम जान सकते हैं कि प्रतीक सेना की कौन-सी पंक्ति को कहेंगे। सेना की अनीक से विपरीत पंक्ति प्रतीक कहलायेगी। कल्पना कीजिए कि एक सेना इस तरह से आ रही है कि उसकी हमारे मुख के सामने पूरा पड़ने वाली पंक्ति (सेनामुख) में 20 सैनिक हैं, उसके पीछे फिर एक 20 सैनिकों की पंक्ति है, उसके पीछे फिर एक 20 सैनिकों की पंक्ति है, और उसके पीछे फिर एक 20 सैनिकों की पंक्ति है, इस प्रकार बीस-बीस सैनिकों की 100 पंक्तियाँ उस सेना में एक के पीछे दूसरी चली आ रही हैं। तो सबसे सामने की 20 सैनिकों की पंक्ति, जिसके सब सैनिकों को हम देख रहे हैं, अनीक कहलायेगी। इस प्रथम पंक्ति के पीछे की बीस-बीस की पंक्तियाँ भी, प्रथम पंक्ति जैसी ही होने के कारण, अनीक कहलायेगी। परन्तु इनके विपरीत, इस प्रकार चलती हुई इस सेना की जो सौ-सौ सैनिकों की बीस पंक्तियाँ एक-दूसरी के साथ-साथ चलने वाली बन जायेंगी उन्हें प्रतीक कहेंगे। हम एक सेना को देख रहे हों, और उसके सैनिक भी हमारी ओर मुँह करके पंक्तिबद्ध खड़े हों, तो उसके सैनिकों की जो पंक्तियाँ हमारी छाती के समानान्तर, एक के पीछे दूसरी इस प्रकार बनेंगी उन्हें अनीक कहा जायेगा और जो पंक्तियाँ हमारी छाती पर लम्ब बनाती हुई, एक-दूसरी के साथ-साथ खड़ी दीखेंगी उन्हें प्रतीक कहेंगे।

उद्धृत ऋग्० 7.3.6 मन्त्र-खण्ड का भाव यह है कि हे सम्राट् (अग्ने) तुम अपनी सेनाओं के व्यूह इस प्रकार बनाते हो कि उनके अनीक और प्रतीक[1] दोनों ही बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। अर्थात् तुम अपनी सेनाओं को बड़ी सुन्दर रीति से पंक्ति-बद्ध करते हो।

सैनिक-सज्जा

जिस गण के हम सदस्य हों उस गण की भावनाओं को व्यक्त करने वाली वेशभूषा पहनकर रहने से हमारे मन में वे आधारभूत भावनाएँ अधिक प्रबलता के साथ उत्पन्न और बद्धमूल होती रहती हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। सूक्ष्म मानसिक भावनाओं को स्थूल आडम्बर के साथ संयुक्त कर देने से वह आडम्बर हमारे मन में उन भावनाओं को बार-बार जगाता रहता है। इसलिए बाह्याडम्बर का

[1] सेना की पंक्ति अर्थ में 'अनीक' और 'प्रतीक' शब्दों की निरुक्ति इस प्रकार करनी होगी— 'अनु अञ्चतीति अनीकम्' और 'प्रति अञ्चतीति प्रतीकम्'। अर्थात् एक-दूसरे के पश्चात् चलने वाली पंक्तियाँ अनीक और एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में साथ-साथ चलने वाली पंक्तियाँ प्रतीक होंगी। इन शब्दों के अन्य अर्थों में निरुक्तियाँ और होंगी।

अपना मूल्य है। बाह्याडम्बर जहाँ हमारे मन में हमारे संगठन की भावनाओं को उत्पन्न और दृढ़ करने में सहायक होता है वहाँ वह दूसरे लोगों को हमारे संगठन की ओर आकर्षित करने में भी साधन बनता है। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को दृष्टि में रखकर वेद ने सैनिकों की वेशभूषा पर बड़ा बल दिया है। मरुत्सूक्तों का स्वाध्याय करते हुए पग-पग पर इसके निर्देश मिलते हैं। वहाँ से कुछ थोड़े से इस विषयक वर्णनों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

1. श्रीरधि तनूषु पिपिशे। ऋग्० 5.57.6.
2. शुभा शोभिष्ठाः श्रिया संमिश्लाः। ऋग्० 7.56.6.
3. उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः। ऋग्० 7.56.11.
4. येषां श्रियाधि रोदसी विभ्राजन्ते। ऋग्० 5.61.12.
5. नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते। ऋग्० 7.57.3.
6. आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः। ऋग्० 7.57.3.
7. चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे। ऋग्० 1.64.7.
8. शुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः। ऋग्० 1.85.3.
9. अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्रा इव स्तृभिः। ऋग्० 1.87.1.
10. वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः अंसेषु। ऋग्० 1.166.10.
11. दूरेदृशो ये दिव्या इव स्तृभिः। ऋग्० 1.166.11.
12. द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त। ऋग्० 2.34.2.
13. ये अञ्जिषु स्रक्षु रुक्मेषु श्रायाः। ऋग्० 5.53.4.
14. वक्षःसु रुक्मा शिप्रा शीर्षसु वितता हिरण्ययीः। ऋग्० 5.54.11.
15. गणं पिष्टं रुक्मेभिरञ्जिभिः। ऋग्० 5.56.1.
16. नृम्णा शीर्षसु विश्वा वः। ऋग्० 5.57.6.
17. सुनिष्काः। ऋग्० 7.56.11.
18. समानमञ्ज्यञ्जते शुभे कम्। ऋग्० 7.57.3.
19. शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये। ऋग्० 8.7.25.
20. वृषदञ्जयः। ऋग्० 8.20.9.
21. समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु। ऋग्० 8.20.11.
22. अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः। ऋग्० 10.78.2.
23. शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन्। ऋग्० 10.78.7.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) इन मरुतों के शरीरों में शोभा शोभित हो रही है। (2) ये शोभा से शोभित हैं और श्री से युक्त हैं। (3) ये स्वयं अपने शरीरों को शोभित करते हैं। (4) जिनकी श्री से द्युलोक और पृथिवी लोक शोभित होते हैं। (5) जितना ये मरुत् अपनी शोभा से चमकते हैं उतने दूसरे लोग नहीं। (6) ये सब प्रकार के रूपों वाले द्युलोक और पृथिवी लोक को भी रूपवान् बना देते हैं।

इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा है कि सैनिकों को ऐसी वेशभूषा पहननी चाहिए जिससे वे बहुत अधिक शोभायुक्त प्रतीत हों। जिन स्थलों के ये मन्त्र हैं वहाँ सैनिकों की सैनिक वेशभूषा का प्रसंग चल रहा है। इसलिए सैनिकों की यह अत्यधिक शोभा सैनिक वेशभूषा-जन्य है। वह सैनिक वेशभूषा किस प्रकार की है इसे देखने के लिए अगले मन्त्रों का अर्थ देखिए—

(7) शरीर की शोभा के लिए धारण की हुई विचित्र-विचित्र प्रकार की अञ्जियों से ये मरुत् शोभित हो रहे हैं, शोभा के लिए इन्होंने अपनी छातियों पर रुक्म धारण किये हुए हैं। (8) अपने शरीरों पर धारण की हुई अञ्जियों से ये शोभित हो रहे हैं और इन्होंने शुभ्र रुक्मों को धारण किया हुआ है। (9) इनमें से कोई किरणों जैसी लम्बी-लम्बी अंजियों से और कोई तारों की आकृति की अंजियों से शोभित हो रहे हैं। (10) इनकी छातियों पर रुक्म हैं और कंधों पर चमकीली अंजियाँ हैं। (11) ये द्युलोकस्थ पिण्डों की भाँति अपने तारकाकृति आरभरणों के कारण दूर से ही दिखाई देते हैं। (12) ये अपने तारकाकृति आभरणों से द्युलोक की भाँति दिखाई देते हैं। (13) जो अंजियों में मालाओं (जंजीरों) में, और रुक्मों में आश्रित रहते हैं अर्थात् उन्हें धारण करते हैं। (14) इन्होंने छातियों पर रुक्म धारण किये हुए हैं और इनके सिरों पर स्वर्ण सज्जित पगड़ी या टोपियाँ फैली हुई हैं। (15) यह मरुतों का गण रुक्मों और अंजियों से शोभित है। (16) हे मरुतो तुम्हारे सिरों पर सब प्रकार के नृम्ण अर्थात् आभरण हैं। (17) इन्होंने सुन्दर निष्क धारण किये हुए हैं। (18) शोभा के लिए इन पर एक समान अंजियाँ शोभित हो रही हैं। (19) शोभा के लिए इनके सिरों पर स्वर्ण-जटित पगड़ी या टोपियाँ (शिप्राः) चमक रही हैं। (20) इनकी अंजियाँ मंगल बरसाने वाली हैं (वृषदञ्जयः)। (21) इनकी एक समान अंजियाँ चमक रही हैं और इनकी भुजाओं पर रुक्म चमक रहे हैं। (22) ये छातियों पर रुक्म धारण किये हुए अग्नि की तरह तेजस्वी प्रतीत होते हैं। (23) ये शुभगामी मरुत् अंजियों के कारण श्वेत से हो रहे हैं।

इन मन्त्रों में सैनिकों को सिरों पर स्वर्णादि बहुमूल्य और उज्ज्वल धातुओं से जटित पगड़ियाँ या टोपियाँ तथा छातियों और भुजाओं पर अंजियाँ, रुक्म, जंजीरें, लम्बी-लम्बी पट्टियाँ, तारकाकृति और गोल निष्क धारण करने चाहिए ऐसा विधान किया गया है। इन शब्दों के अर्थ पर पीछे विचार किया जा चुका है। वहाँ हमने अञ्जि का अर्थ कौन सैनिक सेना के किस गण से सम्बन्ध रखता है इसके अभिव्यंजक

चिह्न किया है। और रुक्म का अर्थ पदाधिकार अथवा विशेष शौर्य का कार्य करने के कारण पहने जाने वाले चिह्नाभरण किया है। इस प्रकार अंजि और रुक्म ये दो सामान्य पद हैं और जंजीरें (स्रजः), लम्बी-लम्बी पट्टियाँ (उस्रा, Stripes), तारक और निष्क इनके अवान्तर भेद हैं। और फिर ये अवान्तर भेदसूचक कुछ शब्द उपलक्षण मात्र हैं। जिसका अभिप्राय यह है कि अंजियों और रुक्मों के इस प्रकार के और भी भेद किये जा सकते हैं।

जहाँ सैनिकों की इस प्रकार की चिह्नाभरण-जन्य शोभा का वर्णन वेद में आता है वहाँ शस्त्रास्त्रधारण-जन्य शोभा का वर्णन भी उन्हीं स्थलों में आता है। हमने शस्त्रास्त्रों पर आगे और लिखना है इसलिए उस सज्जा का यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा।

अनुशासन का सौन्दर्य

सैनिकों का आडम्बर खूब शोभाशाली और प्रभावोत्पादक हो वहाँ उनमें अनुशासन का सौन्दर्य भी ऊँची श्रेणी का रहना चाहिए। इसलिए वेद में स्थान-स्थान पर ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि सैनिकों के जीवन में अनुशासन का सौन्दर्य भी रहना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

अपारो वो महिमा····स्थातारो हि प्रसितौ संदृशि स्थन।

ऋग्० 5.87.6.

अर्थात्—'हे मरुतो तुम्हारी महिमा अपार है क्योंकि तुम सुन्दर दिखाई देने वाले (संदृशि) बन्धन में (प्रसितौ) रहते हो।'

मन्त्र का भाव बड़ा स्पष्ट है। बन्धन में, नियम-अनुशासन में, रहकर किये जाने वाले काम, करने के समय और परिणाम दोनों में, बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं। अनुशासन में रहकर किये जाने वाले कार्य जैसे अच्छे होते हैं वैसे अनुशासनहीनता, बे-नियमेंपन, से किये जाने वाले कार्य नहीं होते। फिर, अनुशासन में रहकर कार्य करने वालों की महिमा अपार हो जाती है। उनकी कोई तुलना नहीं कर सकता। इसलिए सैनिकों को बन्धन में, अनुशासन में, रहकर काम करने वाला होना चाहिए।

स्वेच्छा से स्वीकृत अनुशासन

अनुशासन का सर्वोच्च आदर्श यह है कि हमें नियम-पालन के लिए किसी दूसरे की आज्ञा की अपेक्षा न पड़े। हम स्वयं अपने स्वभाव से ही सब नियमों का पालन करते चले जाएँ। वेद चाहता है कि सैनिकों को ऐसा ही सर्वोच्च अनुशासन का जीवन व्यतीत करने वाला होना चाहिए। इस भाव की सूचना देने वाले निम्न विशेषणों को उदाहरण स्वरूप देखिये—

1. स्वयतासः। ऋग्० 1.166.4.
2. वातासो न स्वयुजः। ऋग्० 10.78.2.

अर्थात्—(1) ये मरुत् स्वयं ही नियम में रहने वाले हैं। (2) ये वायुओं की भाँति स्वयं ही अपने कामों में लगे रहते हैं।

इस प्रकार वेद सैनिकों के जीवन में बड़ा ऊँचा अनुशासन चाहता है। यह वेद के इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। वेद के ऊपर उद्धृत इन वर्णनों में यह स्पष्ट इंगित है कि सेनाधिकारियों को अपने सैनिकों की सज्जा खूब प्रभावशाली रखनी चाहिए।

और यह सज्जा सब सैनिकों की, विशेषकर एक-एक गण के सैनिकों की, सर्वथा एक प्रकार की होनी चाहिए यह ऊपर उद्धृत मन्त्रों में अंजियों के साथ 'समानं'—एक समान—इस पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं दूसरे स्थलों पर सैनिकों के लिए प्रयुक्त होने वाले—

1. सप्सरासः। ऋग्० 1.168.9.
2. यमा इव सुसदृशः। ऋग्० 5.57.4.

इस प्रकार के विशेषणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) ये समान रूपवाले हैं। (2) ये जोड़िये भाइयों की भाँति (यमा इव) सर्वथा एक सदृश हैं। सैनिकों को समान रूपवाले और जोड़िये भाइयों की भाँति सर्वथा एक सदृश कहना इस बात में सन्देह नहीं रहने देता कि सैनिकों की वेशभूषा विल्कुल एक तरह की होनी चाहिए। और वस्तुतः वेशभूषा से जो प्रभाव अभीष्ट है वह सब सैनिकों की एक जैसी वेशभूषा में ही सम्भव हो सकता है।

सेना का अनुशासन

सेनाओं को सुचारु रूप से कार्य कर सकने के लिए इस बात की बहुत भारी आवश्यकता है कि उनके सब सैनिक अनुशासन में रहें। उन्हें जिस समय जो कार्य करने की आज्ञा मिले वे उसे बिना ननु-नच किये प्रसन्नता के साथ करने के लिए उद्यत हो जायें। अनुशासन की ऐसी दृढ़ भावना के बिना सेनाओं के लिए कार्य कर सकना सम्भव नहीं होगा। अधिकारियों को अपनी सेनाओं में यह अनुशासन स्थापित करना चाहिए और सैनिकों को इसकी भली-भाँति शिक्षा देनी चाहिए।

अनुशासन का ऊँचा आदर्श

सेना का अनुशासन ऐसा होना चाहिए कि यदि कोई छोटी आयु का सैनिक भी अपनी योग्यता के कारण किसी गण का सेनापति बना दिया जाये तो उस गण के बड़ी आयु के सैनिकों को भी उस छोटी आयु के सेनापति को नमस्कार करना चाहिए और उसकी आज्ञाओं को मानना चाहिए। उन्हें कभी यह न सोचना चाहिए कि हम तो बड़े हैं, यह छोटा है, हम इसका आदर क्यों करें। इस भाव को अग्रांकित मन्त्र में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है—

कुमारश्चित् पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम् ।
ऋग्० 2.33.12.

अर्थात्—'हे सेनापति (रुद्र) तू कुमार होता हुआ भी (कुमारश्चित्) नमस्कार करते हुए (वन्दमानं) पिता को (पितरं) प्रत्युत्तर में नमस्कार करता है (प्रति नानाम) ।'

मन्त्र का भाव यह है कि औरों की तो बात ही क्या, यदि किसी सैनिक का पुत्र भी उसका सेनापति बन जाये तो पिता सैनिक को पुत्र सेनापति को पहले नमस्कार करना होगा और फिर उसके प्रत्युत्तर में पुत्र सेनापति अपने पिता सैनिक को नमस्कार करेगा ।

सेनापति का अभिवादन

इसी ऋग्० 2.33.12 मन्त्र से, पाठकों ने देखा होगा कि, यह भी सूचित होता है कि जब किसी गण का सेनापति उसके सैनिकों के सम्मुख आवे तो उन्हें अपने सेनापति को नमस्कार करना चाहिए। सैनिक-नियन्त्रण में सेनापति को नमस्कार करना सैनिकों के लिए नितान्त आवश्यक है। सैनिकों को सेनापति की आज्ञाएँ माननी होती हैं। मनुष्य आज्ञाएँ उसकी अधिक अच्छी तरह से मानता है जिसके प्रति उसकी आदर-बुद्धि हो। और प्रतिदिन का समय-समय पर किसी को नमस्कार करना उसके प्रति आदर-बुद्धि उत्पन्न और दृढ़ करने में सहायक होता है। इसलिए वेद ने सैनिकों के लिए सेनापति को नमस्कार करने का उपर्युक्त मन्त्र में निर्देश किया है।

सैनिकों का परस्पर व्यवहार

जब एक बार सेना में प्रविष्ट हो गये तो फिर सैनिकों को अपने साथी सैनिकों के प्रति किस प्रकार का दृष्टिकोण रखना चाहिए, उन्हें किस भाव से देखना चाहिए, इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्रों से बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है—

1. सबन्धवः । ऋग्० 5.59.5.
2. ते अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदो ऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः ।
   सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥
   ऋग्० 5.59.6.
3. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
   युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥
   ऋग्० 5.60.5.

अर्थात्—(1) ये मरुत् परस्पर को समान रूप से बन्धु समझने वाले हैं। (2) वे मरुत् ऐसे हैं कि न उनमें कोई बड़ा है (अज्येष्ठासः), न छोटा (अकनिष्ठासः) और न बीच का (अमध्यमासः), अर्थात् सब एक-दूसरे को समान समझते हैं, वे सब उन्नति करने वाले हैं (उद्भिदः), वे अपने तेज के कारण (महसा) बढ़ते हैं, वे अपने

जन्म से सुजात हैं अर्थात् उनका सैनिक रूप में जन्म अपने गुणों के कारण बड़ा उत्तम हुआ है, वे सब पृश्नि अर्थात् अपनी राष्ट्र-भूमि को माता समझने वाले हैं, वे द्युलोक के मनुष्य हैं अर्थात् उन्होंने वानप्रस्थाश्रमों में स्थित गुरुकुलों में शिक्षा पाई है, ऐसे वे मरुत् हमारी रक्षा के लिए भली-भाँति हमारे पास आवें। (3) ये मरुत् ऐसे हैं जिनमें न कोई बड़ा है (अज्येष्ठासः), न कोई छोटा है (अकनिष्ठासः), ये सब भाई हैं (भ्रातरः), ये सब राष्ट्र के सौभाग्य के लिए (सौभगाय) मिलकर बढ़ते हैं (संवावृधुः), अपनों की रक्षा करने वाला (स्वपाः) युवा सेनापति (रुद्रः) इनका पिता है अर्थात् पिता की भाँति हित बुद्धि से उनकी पालना करने वाला है, पृश्नि अर्थात् मातृभूमि इनके लिए सुदुघा है अर्थात् उत्तम-उत्तम भोगों को अपने में से दुह कर देती है, और इस प्रकार वह मातृभूमि इनके दिनों अर्थात् जीवन को उत्तम बनाने वाली (सुदिना) बन जाती है।

मन्त्रों का भाव अपने आप में बड़ा स्पष्ट है। इसकी हमें और व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। सैनिकों को आपस में एक-दूसरे को बन्धु और भाई समझना चाहिए। आत्माभिमान और आत्मावमान में किसी को छोटा-बड़ा नहीं समझना चाहिए। सबको मिलकर अपने तेज की उन्नति करनी चाहिए और इस प्रकार उनका जो सैनिक रूप में जन्म पहले ही बहुत उत्कृष्ट है उसे और भी उत्कृष्ट बनाते रहना चाहिए। और इसके द्वारा अपने राष्ट्र के सौभाग्य को बढ़ाने में लगे रहना चाहिए।

सैनिकों के प्रति राष्ट्र का कर्तव्य

तीसरे मन्त्र में मातृभूमि अर्थात् राष्ट्र का भी सैनिकों के प्रति कर्तव्य बता दिया गया है। वह यह कि राष्ट्र को अपने सैनिकों के दिनों को सुदिन, उनके जीवन को सुखी जीवन, बनाने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए। सब मंगल उनके लिए दुह देने चाहिए।

पाठक देखेंगे कि किसी सेना के सैनिकों में परस्पर के लिए जब तक इस प्रकार का भ्रातृभाव[1] न होगा तब तक वह सेना सफल सेना नहीं बन सकती। इसलिए सेनाधिकारियों को अपनी सेनाओं के सैनिकों को परस्पर के लिए भ्रातृभाव की वृद्धि से रहने की शिक्षा भी भली-भाँति देनी चाहिए। इसके बिना सेना का संघटन आदर्श नहीं बन सकता। जो सैनिक दूसरों को अपना भाई न समझकर उनसे द्वेष करता हो उसे सेना में नहीं रहने देना चाहिए।

सेनापति का सैनिकों के प्रति दृष्टिकोण

अभी ऊपर 'सेना का अनुशासन' उपखण्ड में हमने देखा है कि सेनाओं में पूर्ण

[1] ये मन्त्र यद्यपि सैनिकों के लिए कहे गये हैं तथापि इनसे यह भी ध्वनि निकलती है कि सर्वसाधारण प्रजा के लोगों को भी परस्पर के प्रति क्या दृष्टि रखनी चाहिए। क्योंकि जो भ्रातृभाव सैनिकों के लिए कल्याणकारी है यह सर्वसाधारण प्रजा के लिए भी कल्याणकारी होगा। यों मरुत् का एक अर्थ सामान्य मनुष्य भी होता है।

अनुशासन रहना चाहिए। सैनिकों को अपने सेनापतियों द्वारा बनाये सब नियमों और उन द्वारा दी गई सब आज्ञाओं का बिना ननु-नच किये पूर्ण पालन करना चाहिए और अपने सेनापतियों को जब वे सम्मुख आवें नमस्कार करना चाहिए। सैनिकों में तो अपने सेनापतियों के प्रति यह भावना होनी ही चाहिए। परन्तु सेनापति को अपने सैनिकों के प्रति क्या भावना रखनी चाहिए यह भी वेद ने स्पष्ट कर दिया है। अभी ऊपर उद्धृत ऋग्० 5.60.5 मन्त्र में पाठकों ने देखा है कि रुद्र (सेनापति) को मरुतों का 'स्वपा: पिता' कहा गया है। अर्थात् वह सैनिकों का ऐसा पिता है जो अपनों की रक्षा और पालन करता है (स्वपा:)। पीछे हम दिखा आये हैं कि वेद में अनेक स्थानों पर रुद्र (सेनापति) को मरुतों (सैनिकों) का पिता और मरुतों को रुद्र के पुत्र कहा गया है। सेनापति और सैनिकों के इस पिता-पुत्र भाव को दिखा कर वेद ने यह संकेत किया है कि जहाँ सैनिक अपने सेनापति की सब कठोर से कठोर आज्ञाएँ भी मानें वहाँ सेनापति को अपने सैनिकों के प्रति पुत्र की भावना रखनी चाहिए। पिता के मन में जैसे पुत्रों के प्रति प्रेम रहता है वैसे ही सेनापति के मन में अपने सैनिकों के प्रति प्रेम रहना चाहिए। पिता जैसे पुत्रों के सुख को बढ़ाने और दुःख को दूर करने के लिए सदा उद्यत रहता है वैसे ही सेनापति को अपने सैनिकों के सुख बढ़ाने और दुःख दूर करने की सदा चेष्टा करते रहना चाहिए। सेनापति को अपने सैनिकों का 'स्वपा:' बनना चाहिए। हरेक तरह से उनकी रक्षा और पालना करनी चाहिए। जब सेनापति अपने सैनिकों के प्रति ऐसा वत्सल-बुद्धि होगा तो उसकी आज्ञाएँ भी सैनिकों द्वारा अधिक अच्छी तरह मानी जायेंगी—उसकी सेना में अनुशासन अच्छी तरह रह सकेगा।

सेनापति और सैनिकों के इस प्रकार के वात्सल्यपूर्ण सम्बन्ध के बिना भी सेनाओं का आदर्श संघटन नहीं हो सकता।

सैनिकों को वेतन दिया जाये

अभी ऊपर 'सैनिकों का परस्पर के प्रति दृष्टिकोण' उपखण्ड में उद्धृत ऋग्० 5.60.5. मन्त्र में हमने देखा है कि मातृभूमि अर्थात् राष्ट्र को सैनिकों के दिनों को सुदिन, उनके जीवन को सुखी जीवन बनाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए। उनके लिए सब मंगल दुह देने चाहिए। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि राष्ट्र को अपने सैनिकों का भरण-पोषण बहुत अच्छी तरह करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

सहस्त्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम्।

ऋग्० 7.56.14.

अर्थात्, हे मरुतो जो गृहस्थों को दिया जाता है (गृहमेधीयं), जो घर में रखा जाता है (दम्यं), और जो हजारों की संख्या में दिया जाता है अथवा जो हजारों का पालन

कर सकता है (सहस्रियं)[1], ऐसे अपने इस भाग को (भागं) प्रीतिपूर्वक सेवन करो (जुषध्वम्)।

इस मन्त्र में प्रत्येक सैनिक को उसके सेवन के लिए, उसके खाने-पीने के लिए उसका नियत भाग दिया जा रहा है। इस 'भाग' के 'जो गृहस्थों को दिया जाता है' और 'जो घर में रखा जाता है' ये विशेषण यह द्योतित करते हैं कि सैनिक को जो कुछ भरण-पोषण के लिए मिले वह इतना थोड़ा न हो कि उससे केवल उसी का गुजारा हो सके, प्रत्युत वह इतना पुष्कल हो कि उससे एक गृहस्थ के घर का सारा व्यय अच्छी प्रकार चल सके, उसके स्त्री-पुत्र आदि की भी सब आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूर्ण हो सकें। उस 'भाग' की पुष्कलता को बताने के लिए ही उसका 'सहस्रियं' यह और एक विशेषण दिया गया है। इसका भाव यह है कि सैनिक को जो 'भाग' भरण-पोषण के लिए दिया जाये वह सहस्रों की संख्या में हो अथवा इतना अधिक हो कि यदि उसे हजार आश्रितों की पालना करनी पड़े तो उनकी भी पालना कर सके। 'सहस्रियं' पद का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि सैनिक की सब आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूर्ण होनी चाहिए। 'सहस्रियं' का 'सहस्र संख्या में' ऐसा अर्थ करने की अवस्था में इस पद से यह ध्वनि भी निकलती प्रतीत होती है कि सैनिक को मुद्रा (सिक्के) के रूप में वेतन मिलना चाहिए। कुछ भी हो, वेद का यह आशय स्पष्ट है कि सैनिक और उसके आश्रितों का भली-भाँति भरण-पोषण हो सके इसकी व्यवस्था सेनाधिकारियों को अवश्य करनी चाहिए।

सैनिकों के पूर्णरूप से सन्तुष्ट रहे विना सेनाएँ आदर्श रूप में संघटित नहीं रह सकतीं।

[1] सहस्रसंख्याकमिति सायणः।

12

सेनापति की योग्यता

सेनापति किस योग्यता के पुरुष को बनाना चाहिए ? जिस व्यक्ति को सेनापति बनाया जायेगा उसे पहले सैनिक जीवन में से तो गुजरा हुआ ही होना चाहिए। इसलिए एक आदर्श सैनिक की योग्यता के सम्बन्ध में पीछे जो कुछ लिखा गया है वह सब एक आदर्श सेनापति पर भी लगता है यह तो हमें समझ ही लेना चाहिए। इस खण्ड में हम रुद्र (सेनापति) के और जिन स्थलों में इन्द्र सेनापति के रूप में प्रस्तुत हुआ है उनसे इन्द्र के कुछ थोड़े से ऐसे और विशेषण उद्धृत करते हैं जिनसे सेनापति की योग्यता पर प्रकाश पड़ता है।

(1) **क्षयद्वीराय** (ऋग्० 1.114.1)—जो वीरों को निवास देने वाला हो, जिसके पास वीर रह सकें। इस विशेषण का भाव यह है कि सेनापति ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसके पास, वीर खिंचे रह सकें। जो वीर सैनिकों को अपने गुणों के कारण अपने साथ आकृष्ट करके रख सके।

(2) **शं च योश्च अश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु** (ऋग्० 1.114.2)—अर्थात्, 'हे रुद्र तेरी प्रकृष्ट नीतियों में सुरक्षित रहकर हम मंगल और निर्भयता प्राप्त कर सकें।' रुद्र से की गई यह प्रार्थना यह सूचित करती है कि सेनापति को युद्ध-सम्बन्धी नीतियों का प्रकृष्ट ज्ञान होना चाहिए।

(3) **कविम्** (ऋग्० 1.114.4)—जो कवि हो अर्थात् युद्ध-सम्बन्धी बातों का तलस्पर्शी गहरा ज्ञान रखता हो।

(4) **त्वेषं रूपम्** (1.114.5)—जिसका रूप बड़ा तेजस्वी हो।

(5) **तवस्तमस्तवसाम्** (ऋग्० 2.33.3)—जो बलियों में सबसे बली हो।

(6) **वज्रबाहो** (ऋग्० 2.33.3)—जो वज्रबाहु हो। वज्र यहाँ उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। जो वज्रोपलक्षित सब शस्त्रास्त्रों को भुजाओं में धारण कर सकता हो। अर्थात् जो सब शस्त्रास्त्र भली-भाँति चला सकता हो।

(7) **श्वितीचे**[1] (ऋग्० 2.33.8)—जिसका चरित्र श्वेत अर्थात् निष्पाप हो।

[1] श्वैत्यमञ्चते इति सायणः।

(8) **कल्मलीकिनम्**[1] (ऋग्० 2.33.8)—जो मल को जला देने वाले तेज और गुणों से युक्त हो।

(9) **वृषभः** (ऋग्० 2.33.6)—जो बड़ा बली हो और अपने बल की दूसरों के मंगल के लिए वर्षा करने वाला हो।

(10) **स्थिरेभिरङ्गे** (ऋग्० 2.33.9)—जो बड़े बलिष्ठ और कठोर अंग-प्रत्यंगों से युक्त हो।

(11) **पुरुरूपः** (ऋग्० 2.33.9)—जो बहुत रूपों वाला हो। अर्थात् सेना में जितने भी कार्य हैं उन सबको कर सकने की योग्यता रखने के कारण जो अनेक रूपों वाला हो। भाव यह है कि जो सेना के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सब कार्य कर सके, सेना का कोई काम ऐसा नहीं जो उसे न आता हो।

(12) **न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति** (ऋग्० 2.33.10)—जिससे अधिक ओजस्वी कोई न हो।

(13) **गर्तसदं** (ऋग्० 2.33.11)—जो सब प्रकार के गर्त अर्थात् रथों पर बैठ सकता हो। जिसे सेनाओं के काम में आने वाले सब प्रकार के रथ चलाने आते हों। यहाँ बैठने से अभिप्राय चलाने का है। नहीं तो बैठना तो हर किसी को आता है।

(14) **भूरेर्दातारम्** (ऋग्० 2.33.12)—जो अपने अधीन सैनिकों को बड़ा सुख देने वाला हो।

(15) **सत्पतिम्** (ऋग्० 2.33.12)—जो सत्पति अर्थात् बड़ा अच्छा रक्षक हो। अथवा जो सत् अर्थात् अच्छों की रक्षा करता हो। ऊपर के विशेषण में सेनापति को 'सैनिकों को सुख देने वाला' कहा है। यह विशेषण इसमें बन्धन लगा देता है। अर्थात् जो अच्छे सैनिक होंगे उन्हें वह खूब सुख देगा, उनकी खूब रक्षा करेगा। दुष्ट सैनिकों अथवा अयोग्य सैनिकों की नहीं। साथ ही इस विशेषण से यह भी भाव निकलता है कि सेना और उस द्वारा किये जाने वाले युद्ध का उद्देश्य भले पुरुषों की रक्षा करना है।

(16) **चेकितान** (ऋग्० 2.33.15)—जो सेना सम्बन्धी प्रत्येक बात का सम्यक् ज्ञान रखता हो।

(17) **क्षिप्रेषवे** (ऋग्० 7.46.1)—जिसके बाण बड़े तीव्रगामी हों। बाण को यहाँ उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। अर्थात् जो शस्त्रास्त्रों को बड़ी तीव्रता से चलाना जानता हो।

(18) **अषाळ्हाय** (ऋग्० 7.46.1)—जो किसी से न हार सके।

(19) **सहमानाय** (ऋग्० 7.46.1)—जो सबको हरा देवे।

(20) **यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते** (ऋग्० 1.43.5)—जो चमकीले

[1] कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीक तेजः। तद्वन्तम्। इति सायणः। कल्मलीकिनमिति ज्वलतो नामधेयम्। निघं० 1.17; निष्पापत्वेन ज्वलन्तं दीप्तिमन्तमित्यर्थः।

सूर्य और स्वर्ण की भाँति तेजस्वी हो।

(21) **वेधसे** (ऋग्० 7.46.1)—जो भाँति-भाँति की वस्तुओं का निर्माण कर सकने वाला विद्वान् हो। भाव यह है कि जिसे सेना सम्बन्धी सब वस्तुएँ बनानी और सुधारनी आती हों।

(22) **गाथपतिम्** (ऋग्० 1.43.4)—जो गीतों का पति हो। अर्थात् जिसकी गुणावली के सब लोग खूब गीत गाते हों। अथवा जो सेनाओं में गाये जाने वाले संगीतों को भली-भाँति गा सकता हो।

(23) **श्रेष्ठो देवानाम्** (ऋग्० 1.43.5)—जो देव अर्थात् विजिगीषु सैनिकों में सबसे श्रेष्ठ हो।

(24) **स्वपाः** (ऋग्० 5.60.5)—जो अपने आश्रितों की रक्षा और पालना करने वाला हो।

(25) **सुमखाय** (ऋग्० 4.3.7)—जो उत्तम रीति से मख अर्थात् सन्ध्या-अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाला हो।

(26) **उपवीतिने** (यजु० 16.17)—जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका हो। यज्ञोपवीत गुरुकुल में प्रविष्ट होकर सांगोपांग वेद और अन्य सत्य विद्याओं के अध्ययन का चिह्न है। इस विशेषण से यह सूचित होता है कि सेनापति बनाया जाने वाला व्यक्ति गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त पुरुष होना चाहिए।

(27) **सहस्राक्षाय** (यजु० 16.29; अथ० 11.2.3)—जिसमें हजार आँखों की शक्ति हो। जिसकी बुद्धि इतनी पैनी हो कि उसके बल पर वह अपनी दो आँखों से ही इतनी बातें देख ले जितनी हजार आँखों से देखी जाती हैं। भाव यह है कि जो बड़ा भारी विद्वान् हो और चौकन्ना हो।

(28) **वृद्धाय** (यजु० 16.30)—जो गुणों में औरों से बढ़ा हुआ हो।

(29) **सवृधे** (यजु० 16.30)—जो अपने साथ औरों को भी बढ़ाता हो।

(30) **आशुरथाय** (यजु० 16.34)—जो सब प्रकार के रथों को शीघ्र चला सकता हो।

(31) **आशुषेणाय** (यजु० 16.34)—जो सेनाओं को बड़ी शीघ्र चला सकता हो।

(32) **श्रुताय** (यजु० 16.35)—जो गुणों में प्रसिद्ध हो अथवा जिसने शास्त्र सुन रखे हों।

(33) **श्रुतसेनाय** (यजु० 16.35)—जिसने सेनाओं सम्बन्धी सब विद्याएँ सुन रखी हों, पढ़ रखी हों। अथवा जो अपने अधीन सेनाओं को इतना सशक्त और पराक्रमी बना सके कि उनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो।

(34) **कर्मकृत्** (अथ० 2.27.6)—जो कर्मशील हो। आलसी और निकम्मा रहने वाले स्वभाव का न हो।

(35) **अतिपश्यम्** (अथ० 11.2.17)—जो अतिक्रमण करके देखता हो।

जिन बातों को औरों की बुद्धि नहीं देख सकती उन्हें भी जो अपनी बुद्धि के बल से देख लेता हो।

(36) विपश्चितम् (अथ॰ 11.2.17)—जो विद्वान् हो।

(37) आशुः (अथ॰ 19.13.2; ऋग्॰ 11.102.1; यजु॰ 17.33)—जो शीघ्र क्रियाकारी हो।

(38) एकवीरः (अथ॰ 19.13.2; ऋग्॰ 10.103.1; यजु॰ 17.32)—जो सब सैनिकों में सर्वश्रेष्ठ एक वीर हो।

(39) अनिमिषः (अथ॰ 19.13.2; ऋग्॰ 11.103.1; यजु॰ 17.33)—जो कभी पलक न झपकाता हो अर्थात् जो सदा चौकन्ना रहता हो।

(40) शतं सेना अजयत् (अथ॰ 19.13.2; ऋग्॰ 10.103.1; यजु॰ 17.33)—जो अपने पराक्रम और कौशल से अकेला ही सैंकड़ों सेनाओं को जीत ले।

(41) दुश्चयवनेन (अथ॰ 19.13.3; ऋग्॰ 10.103.2; यजु॰ 17.34)—जिसे अपने स्थान से कोई भी न डिगा सके।

(42) बाहुशर्धी (अथ॰ 19.13.4; ऋग्॰ 10.103.3; यजु॰ 17.35)—जिसकी भुजाओं में बल हो।

(43) बलविज्ञायः (अथ॰ 19.13.5; ऋग्॰ 10.103.5; यजु॰ 17.37)—जो अपने और शत्रु के बल का भली-भाँति ज्ञान रखने वाला हो।

(44) स्थविरः (अथ॰ 19.13.5; ऋग् 10.103.5; यजु॰ 17.37)—जो महान् हो। जिसके शरीर का डील-डौल बड़ा भारी हो, और जो अनुभव में वृद्ध हो।

(45) बाहू स्थविरौ (अथ॰ 19.13.1)—जिसकी भुजायें विशाल हों।

(46) प्रवीरः (अथ॰ 19.13.5; ऋग्॰ 10.103.5; यजु॰ 17.37)—जो प्रकृष्ट वीर हो।

(47) अदायः (अथ॰ 19.13.7; ऋग्॰ 10.103.7; यजु॰ 17.39)—जिसे युद्धकाल में दया न आती हो।

(48) शतमन्युः (अथ॰ 19.13.7; ऋग्॰ 10.103.7; यजु॰ 17.39.)—जिसमें सैंकड़ों सैनिकों का पराक्रम हो। अथ॰ 4.31,32 और ऋग्॰ 10.83,84 सूक्तों में युद्ध के समय शत्रुओं पर गिरने वाले क्रोध को मन्यु कहा है। प्रस्तुत विशेषण में 'मन्यु' का तात्पर्यार्थ क्रोध से नहीं अपितु पराक्रम से है। इसीलिए हमने इसका अर्थ यहाँ पराक्रम ही कर दिया है।

(49) बाहू वृषाणौ (अथ॰ 19.13.1)—जिसकी भुजाएँ शस्त्रास्त्र बरसा सकें और इसीलिए अपने आश्रितों पर सुख की वर्षा कर सकें।

(50) बाहू वृषभौ (अथ॰ 19.13.1)—जिसकी भुजाएँ सांडों की तरह मांसल और पराक्रमी हों।

(51) बाहू चित्रा (अथ॰ 19.13.1)—जिसकी भुजाएँ अद्भुत कर्म कर सकती हों।

(52) बाहू पारयिष्णू (अथ० 19.13.1)—जिसकी भुजाएँ जिस काम को हाथ में लें उसी को पार लंघा दें।

इन और ऊपर के पृष्ठों में दिये गये सैनिकों के विशेषणों के आधार पर सेनापति का जो चित्र बनता है पाठक उसे अपनी मानसिक आँखों के सामने लावें और देखें कि कितना उदात्त और महान् है वह चित्र। वेद ने सेनापति का यह एक आदर्श चित्र खींच दिया है। किसी राष्ट्र के सेनापति जितना ही इस चित्र के समीप होंगे उतना ही उसकी सेनाएँ भी आदर्श होंगी।

13

सेनाओं का प्रशिक्षण

यदि सेनाओं ने युद्ध में विजय प्राप्त करनी है तो युद्धोपयोगी भाँति-भाँति की व्यूह-रचनाएँ करनी आनी चाहिए। उन्हें युद्धोपयोगी भाँति-भाँति की गतियों से चलना आना चाहिए। सैनिकों को भाँति-भाँति की गतियों और व्यूह-रचनाओं (battle formations) का अभ्यास कराया जाये इसका निर्देश वेद में कई स्थानों पर उपलब्ध होता है।

मरुत्सूक्तों में सैनिकों की गति के लिए 'अज्म' और 'याम' शब्दों का प्रयोग हुआ है (ऋग्० 1.37.8)। 'याम' शब्द का 'यामन्' ऐसा रूपान्तर भी प्रयुक्त हुआ है (ऋग्० 1.85.1)। सैनिकों की गति के लिए ये शब्द बीसियों स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। भाष्यकार इन दोनों शब्दों का सीधा गति अर्थ ही कर देते हैं। अथवा कहीं-कहीं इन दोनों शब्दों का युद्ध अर्थ भी कर देते हैं। 'अज्म' और 'याम' नामक गतियों में क्या भेद है यह भाष्यकारों ने स्पष्ट नहीं किया है। 'अज्म' शब्द 'अज गतिक्षेपणयोः' धातु से बनता है और 'याम' शब्द 'या प्रापणे' धातु से बनता है। 'या' के 'प्रापण' का अर्थ भी 'गति' ही किया जाता है। 'या' धातु संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त भी 'गति' अर्थ में ही होती है। इसलिए गत्यर्थक 'या' धातु से बने 'याम' शब्द का अर्थ तो सीधा गति ही होगा। जब सेनायें एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलेंगी तो उनके चलने को 'याम' कहा जायेगा। यह 'याम' पंक्तिबद्ध होकर होगा यह तो पाठकों को गत अध्याय में किये गये इस विषयक विवेचन के पश्चात् स्मरण ही रखना चाहिए। तो जब सेनायें पंक्तिबद्ध होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं तो उनकी गति को 'याम' (march) कहा जाता है।

अब रहा 'अज्म' शब्द। इसकी मूल धातु 'अज' का यद्यपि एक अर्थ 'गति' ही किया जाता है। किन्तु 'अज' की गति सामान्य गति ही नहीं होती है। किसी को हाँककर किसी को अपने आगे-आगे ले जाने अर्थ में भी 'अज' की गति का प्रयोग होता है। फिर 'अज' का गति के अतिरिक्त 'क्षेपण' अर्थात् 'फेंकना' भी अर्थ होता है। इसलिये 'अज' के इन अर्थों को ध्यान में रखकर 'अज्म' का अर्थ सेना की वह गति करना चाहिए जिसमें एक शत्रु सेना पर आक्रमण (attack) करके उसे युद्ध-क्षेत्र से

खदेड़कर अपने आगे-आगे हाँककर दूर 'फेंकने' अर्थात् भगाने जाती है। पाठक देखेंगे कि सेनाओं की इन दोनों प्रकार की गतियों में स्पष्ट ही अन्तर होगा। इन दोनों शब्दों का अर्थ युद्ध भी कर दिया जाता है। युद्ध में सैनिकों को ये दोनों ही प्रकार की गतियाँ करनी पड़ती हैं।

इस प्रकार इन दो शब्दों से सेनाओं की दो गतियों का बोध होता है। परन्तु युद्धों में इन गतियों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की गतियों का सहारा लेना सेनाओं के लिए आवश्यक होगा। इसलिये सेनाओं को भाँति-भाँति की गतियों से चलाने का अभ्यास कराना चाहिए। इसकी सूचना निम्न मन्त्रों से मिलती है—

1. नि वो यामाय उग्राय। ऋग्० 1.37.7.
2. रघुष्यदः। ऋग्० 1.64.7.
3. त्वेषयामा। ऋग्० 1.166.5.
4. आक्ष्णयावानः। ऋग्० 8.7.35.
5. नि यामञ्चित्रमृञ्जते। ऋग्० 1.37.3.
6. चित्रं तद् वो मरुतो याम। ऋग्० 2.34.10.
7. श्वित्रा यामेभिरीरते। ऋग्० 8.7.7.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो तुम्हारा याम उग्र है। (2) ये मरुत् तेज चाल से चलने वाले हैं। (3) इनकी गतियों में तेज है। (4) ये फैलते हुए चलने वाले (आक्ष्णयावान)[1] हैं।

इन चारों मन्त्रों से सेनाओं के 'याम' की विविधताओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रथम मन्त्र में 'उग्र याम' का वर्णन किया गया है। जिस चाल में उग्रता का, तीव्र शक्ति का प्रदर्शन हो, जो बेहद वेग से चली जा रही हो उस गति को 'उग्र याम' कहेंगे। दूसरे मन्त्र में 'रघुगति' का वर्णन हुआ है। जिस गति में शीघ्र चल रहे हों, चलते हुए ऐसा प्रतीत हो कि सैनिक बिल्कुल हलके-फुलके से हैं और वे अनायास ही तेज चले जा रहे हैं, उसे 'रघुगति' कहेंगे। तीसरे मन्त्र में 'त्वेषयाम' का वर्णन हुआ है। जिस गति में सैनिकों का तेज प्रकाशित होता हो उसे 'त्वेषयाम' कहेंगे। चतुर्थ मन्त्र में 'आक्ष्णयाम' का वर्णन हुआ है। जब सैनिक ऐसे ढंग से चलें कि ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते जावें त्यों-त्यों वे फैलते जावें और अधिक स्थान घेरते जावें उस गति को 'आक्ष्णयाम' कहेंगे। परन्तु सेनाओं की गतियाँ इतने में ही समाप्त नहीं हो जातीं। वे आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार की हो सकती हैं। इसलिये सेनाधिकारियों को अपने ऊहापोह से अनेक प्रकार की गतियों का आविष्कार करके उनका सैनिकों को अभ्यास कराना चाहिए। इस भाव को व्यक्त करने के लिए अगले तीन मन्त्रों में कहा है—

(5) ये मरुत् अपने याम में अद्भुत होकर (चित्रं) शोभा धारण करते हैं।

1 आक्ष्णं व्याप्तं गच्छन्तः इति सायणः।

(6) हे मरुतो तुम्हारा याम बड़ा अद्भुत है। (7) ये मरुत् अपने यामों के द्वारा अद्भुत होकर चलते हैं।

इनमें से दूसरे मन्त्र में तो याम को ही 'चित्र' अर्थात् अद्भुत कहा है। प्रथम और तृतीय मन्त्र में यामों के कारण सैनिकों में 'चित्रता' अर्थात् अद्भुतता उत्पन्न हो जाती है ऐसा कहा है। इसका भी भाव वही है। याम की चित्रता ही सैनिकों में चित्रता उत्पन्न करती है। सामान्यत: जो वस्तु देखी न जाती हो उसे चित्र या अद्भुत कहते हैं। याम को चित्र कहने का भाव यह है कि सामान्यत: पुरुषों में जो गतियाँ कहीं नहीं देखी जातीं ऐसी अद्भुत नवीन गतियों का आविष्कार करके सेनाओं को उनका अभ्यास कराना चाहिए। निम्न मन्त्र भी देखिये—

यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम्।

ऋग्० 8.7.2.

अर्थात्—'हे सेना में जाने की इच्छा वाले शुभ्र मरुतो जब तुम यामों को संग्रह करते हो अर्थात् सीखते हो (अचिध्वम्)'।

इस मन्त्र में तो सैनिकों के भिन्न-भिन्न गतियों को सीखने का स्पष्ट ही उल्लेख है।

सैनिकों की एक और विशेष गति होती है। यह गति उन्हें शस्त्र चलाकर शत्रु पर प्रहार करने तथा शत्रु के प्रहार से अपना बचाव करने के लिए करनी पड़ती है। प्रत्येक शस्त्र के साथ ये गतियाँ भिन्न-भिन्न होती चली जायेंगी। तलवार से युद्ध करने की और गतियाँ होंगी। भाले के युद्ध की और, धनुर्बाण के युद्ध की और तथा बन्दूक के युद्ध की और गतियाँ होंगी। इसी प्रकार अन्य शस्त्रों के साथ भी समझ लेना चाहिए। इन गतियों को प्रचलित भाषा में पैंतरे कहा जाता है। इन गतियों का भी सैनिकों को अभ्यास कराना चाहिए इसकी भी सूचना हमें वेद में मिलती है। उदाहरण के लिए ऋग्० 8.87.4 में मरुतों को 'उरुक्रमा' कहा गया है। जिनके क्रम उरु अर्थात् बहुत प्रकार के हों उन्हें उरुक्रम कहेंगे। क्रम शब्द 'क्रम पादेविक्षेपे' धातु से बनता है। इसलिये क्रम का अर्थ होता है 'पाद-विक्षेप' अर्थात् पगों का रखना। जो बहुत प्रकार के पग रखना जानते हों, बहुत प्रकार के पैंतरें बदलना जानते हों, उन्हें 'उरुक्रम' कहेंगे। अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में भी क्रम शब्द का इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। ऊपर एक प्रकरण में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने 'उरुक्रमा' का अर्थ महापराक्रमी कर दिया है। वह 'उरुक्रमा' का तात्पर्यार्थ समझना चाहिए। इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः॥

अथ० 5.21.8.

अर्थात्—'इन्द्र अपने जिन पद्घोषों के द्वारा अपनी छाया के साथ खेलता है उनसे हमारे ये शत्रु जो अनीक बनाकर हम पर चढ़े आ रहे हैं, डर कर भाग जायें।'

जिस सूक्त का यह मन्त्र है वहाँ युद्ध-दुन्दुभि बज रही हैं और इन्द्र शत्रुओं से लड़ रहा है। यहाँ इन्द्र को एक युद्ध कर रहे सेनापति के रूप में दिखाया गया है। मन्त्र में इन्द्र को पद्घोषों के द्वारा अपनी छाया से खेलता हुआ दिखाया गया है। यहाँ यह इन्द्र का 'पद्घोषों से खेलना' उसके युद्धकालीन पैंतरों का द्योतक है। पैंतरों का उसे इतना अभ्यास है कि वह उनसे खेलता है, उनका खिलाड़ी है। ज्यों-ज्यों पैंतरों के खिलाड़ी के पैंतरें बदलते हैं त्यों-त्यों उसकी छाया का रूप भी बदल जाता है। इससे मन्त्र में कहा है कि वह मानो अपनी छाया के साथ खेल रहा है। इस वर्णन से पैंतरे बदलने की निपुणता सूचित की गई है। 'पद्घोष' का शब्दार्थ 'पैरों की आवाज' होता है। यहाँ यह शब्द शत्रु को डराने वाली आवाज के साथ पड़ने वाले पैंतरों का द्योतक है।

इन वर्णनों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सैनिकों को शस्त्र-शस्त्र के अनुसार युद्धोपयोगी पैंतरों का पाद-विक्षेपों का, अभ्यास भी कराना चाहिए।

मरुतों के लिए वेद में कई स्थानों पर प्रयुक्त होने वाला एक विशेषण—

शुभंयावानः।

यजु० 25.20.

है। इसका शब्दार्थ होता है—'शुभ गति से चलने वाले।' इस शब्द की यह व्यंजना है कि 'मरुतों की सब प्रकार की गतियाँ' जिनका अभ्यास कराने की ओर ऊपर की पंक्तियों में निर्देश किया गया है, शुभ होनी चाहिए। वे ऐसी हों कि देखने में भी अच्छी लगें। उदाहरण के लिए सब सैनिकों के पैर जब उठें तो इकट्ठे उठें। और वे ऐसी हों कि कार्य-सिद्धि में भी शुभ अर्थात् मंगलकारक हों।

यह तो हुआ सेनाओं की गतियों के सम्बन्ध में। सेनाओं के व्यूह के सम्बन्ध में भी हमें वेद में निर्देश मिलते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 6.75.9 और यजु० 29.46 में योद्धाओं के लिए 'चित्र-सेनाः' इस विशेषण का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है—'चित्र अर्थात् अद्भुत-अद्भुत सेनाओं वाले' इस शब्द की यह स्पष्ट ध्वनि है कि शत्रु से युद्ध के लिये योद्धाओं को भाँति-भाँति के अद्भुत रूपों वाली सेनाओं में खड़ा करके लड़ाना चाहिए। जिस समय सेना को जिस स्थिति में खड़ा करके लड़ने से युद्ध जीता जा सके उसी स्थिति में सेना को खड़ा कर लेना चाहिए।

व्यूह-रचना और उसका प्रयोजन

सेनाओं के किस-किस प्रकार के व्यूह बनाये जाते हैं इसका थोड़ा सा नमूना निम्न मन्त्र में दिखाया गया है—

अधा नरो न्योहते ऽधा नियुत ओहते।
अधा पारावता इति चित्रा रूपाणि दर्श्या॥

ऋग्० 5.52.11.

अर्थात्—'ये सैनिक (मरुत्) कभी तो मनुष्य का रूप धारण कर लेते हैं, कभी

घोड़ों का और सभी कबूतरों (पारावताः) का धारण कर लेते हैं, इनके इस प्रकार अद्भुत दर्शनीय रूप होते हैं।'

इस मन्त्र में सेनाओं के नराकृति, अश्वाकृति और पारावताकृति व्यूहों की ओर निर्देश किया गया है। और चित्र पद का प्रयोग करके यह ध्वनित कर दिया है कि इसी भाँति और भी अनेक व्यूह बनाये जा सकते हैं। महाभारतादि ग्रन्थों में जो श्येनाकृति, गरुडाकृति आदि अनेक प्रकार के व्यूहों के वर्णन आते हैं उस प्रकार के व्यूह बनाने का आधार वेद के इस प्रकार के वर्णन ही प्रतीत होते हैं। इन व्यूहों का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि अपनी सारी सेना को एकत्र करके उसे पारावत आदि की आकृति में खड़ा कर दिया जाये। एकत्र खड़ी हुई सेना को इन आकृतियों में रख देने से युद्ध में कोई लाभ हो सकता है यह प्रतीत नहीं होता। इनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि सारे युद्ध-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर, शत्रु-सेना की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए, आवश्यकतानुसार अपनी सेनाओं के कुछ भाग को कहीं और कुछ भाग को कहीं इस प्रकार खड़ा किया जाये कि यदि अपनी सेना को विहंगम दृष्टि से देखा जाये तो वह पारावत आदि के रूप में दिखाई दे। इन स्थितियों में सेना को खड़ा करने का उद्देश्य शत्रु-सेना को भिन्न-भिन्न स्थानों में दबाना और इस प्रकार उसे हराना, पीछे धकेलना, उसके सैनिकों को घेरकर उन्हें कैद करना तथा अपने रक्षणीय स्थानों और अपनी सेना की रक्षा करना होता है। युद्ध और युद्ध-क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुसार ये व्यूह लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैले हुए हो सकते हैं।

द्रोणाचार्य का शकट-चक्र व्यूह

महाभारत युद्ध के 14वें दिन द्रोणाचार्य ने जयद्रथ की रक्षा तथा पाण्डव सेना की पराजय के लिए जो शकट-चक्र व्यूह बनाया था वह 24 कोस लम्बे और 10 कोस चौड़े क्षेत्र में बनाया गया था।[1] उसमें जो सेना नियुक्त की गई थी उसमें एक लाख अश्वारोही, साठ हजार रथ, चौदह हजार हाथी और इक्कीस हजार पैदल सैनिक थे।

वेद के ये वर्णन स्पष्ट सूचित करते हैं कि सेनाओं को विभिन्न प्रकार के व्यूहों की रचना की शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

[1] दीर्घो द्वादश गव्यूतिः पश्चार्धे पञ्च विस्तृतः।
व्यूहस्तु चक्रशकटो भारद्वाजेन निर्मितः॥ महाभारत (द्रोणपर्व) 7.81.22.
एक गव्यति=दो कोस। एक कोस=किन्हीं के मत में सवा मील और किन्हीं के मत में दो मील।

14

स्थल सेना

वेद का अध्ययन करने से हमें स्थान-स्थान पर ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक राष्ट्र को तीन प्रकार की सेनाएँ रखनी चाहिए। ये सेनाएँ क्रम से स्थल-सेना, जल-सेना और वायु-सेनाएँ हैं।

सबसे पहले स्थल-सेना, जल-सेना के सूचक कुछ प्रमाण देखिए—

1. नरो ग्मश्च वृतयः। ऋग्० 1.37.6.
2. येषामज्मेषु पृथिवी भिया यामेषु रेजते। ऋग्० 1.37.8.
3. क्व नूनं कद् वो अर्थं गन्ता पृथिव्याः। ऋग्० 1.38.2.
4. अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्।
   अरेजन्त प्र मानुषाः॥ ऋग्० 1.38.10.
5. नहि वः शत्रुर्विविदे भूम्यां। ऋग्० 1.39.4.
6. दृह्ला चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्र च्यावयन्ति मज्मना।
   ऋग्० 1.64.3.
7. प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु। ऋग्० 1.87.3.
8. पव्या रथस्य जङ्घनन्त भूम। ऋग्० 1.88.2.
9. मरुतामधा महो क्षमा च मन्महे। ऋग्० 5.52.3.
10. ये वावृधन्त पार्थिवा। ऋग्० 5.52.7.
11. प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः। ऋग्० 5.54.9.
12. उत द्यावापृथिवी याथना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।
    ऋग्० 5.55.7.
13. कोपयथ पृथिवीं शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्। ऋग्० 5.57.3.
14. प्रथिष्ट यामन् पृथिवी चिदेषां। ऋग्० 5.58.7.
15. अमादेषां भियसा भूमिरेजति। ऋग्० 5.59.2.
16. यूयं ह भूमिं रेजथ। ऋग्० 5.59.4.
17. वो भिया पृथिवी चिद् रेजते। ऋग्० 5.60.2.
18. दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा। ऋग्० 5.87.7.

19. ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी। ऋग्० 7.57.1.
20. आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः। ऋग्० 7.57.3.
21. उत क्षोदन्ति रोदसी महित्वा। ऋग्० 7.58.1.
22. भूमिर्यामेषु रेजते। ऋग्० 8.20.5.
23. आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन्। ऋग्० 8.94.9.
24. ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतो। ऋग्० 8.94.11.
25. भव ईशे पृथिव्या। अथ० 11.2.27.
26. पृथिव्यां ये च मानवाः। अथ० 11.10.2.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ये नर मरुत् पृथिवी को कम्पाने वाले हैं। (2) जिन मरुतों की अज्म और याम नामक गतियों में भय से पृथिवी कांप जाती है। (3) हे मरुतो तुम कहाँ हो, तुम्हारा कितना प्रयोजन है, पृथिवी मार्ग से जाओ। (4) चलते हुए मरुतों के शब्द से सम्पूर्ण धरती का स्थान और उस पर के मनुष्य कांप जाते हैं। (5) हे मरुतो भूमि पर तुम्हें शत्रु नहीं पकड़ सकता। (6) ये मरुत् अपने बल से पृथिवी के सब दृढ़ से दृढ़ स्थानों को भी हिला देते हैं। (7) इन मरुतों के अज्म और यामों से भूमि व्यथित सी होकर कांपने लगती है। (8) ये मरुत् अपने रथ की पवि से भूमि को फोड़ देते हैं। (9) हम मरुतों के धरती पर के तेज को जानते हैं। (10) जो मरुत् पृथिवी के स्थानों में बढ़ते हैं। (11) यह पृथिवी मरुतों से फैल जाती है (प्रवत्वती)[1]।

मन्त्र में मरुतों के पृथिवी पर फैल जाने को अलंकार से यों कहा है कि पृथिवी मरुतों से फैल जाती है। यह एक दृष्टि विषयक भ्रम है कि रिक्त स्थान छोटा प्रतीत होता है, पर यदि उसी में वस्तुएँ रख दी जाएँ तो वह बड़ा प्रतीत होने लगता है। खाली धरती छोटी लगती है। उसी में सेनाएँ खड़ी हो जाने पर वह अधिक फैली हुई प्रतीत होती है। इसी भाव से कहा है कि पृथिवी मरुतों से फैल जाती है।

(12) हे मरुतो तुम द्यौ और पृथिवी दोनों पर शोभा के साथ चलते हो और चलते हुए तुम्हारे रथ पीछे चलते हैं। (13) हे मरुतो तुम उग्र जल अपने शुभ रथों में पृषतियों (विद्युतों) को जोड़ते हो तो पृथिवी को क्षुब्ध कर देते हो (कोपयथ)[2]। (14) इन मरुतों के याम में पृथिवी भी फैल जाती है। (15) इनके वेग से भय के कारण पृथिवी कांपने लगती है। (16) हे मरुतो तुम भूमि को कंपा देते हो। (17) हे मरुतो तुम्हारे भय से भूमि भी कांपने लगती है। (18) इन मरुतों के अज्मों में पृथिवी का स्थान फैलकर लम्बा-चौड़ा हो जाता है। (19) जो मरुत् द्यौ और पृथिवी दोनों को कंपा देते हैं। (20) सब प्रकार के रूपों वाले मरुत् द्यौ और पृथिवी को रूपवान्

[1] प्रवन्तः प्रकर्षवन्तो विस्तीर्णाः प्रदेशा यस्यां सा प्रवत्वती तादृशी भवति कृत्स्नापि भूमिः मरुत्परा भवतीत्यर्थः इति सायणः।

[2] क्षोभयथेति सायणः।

बना देते हैं। (21) मरुत् अपनी महिमा से द्यौ और भूमि को तोड़ देते हैं (क्षोदन्ति)[1]। (22) मरुतों के यामों में भूमि कांप जाती है। (23) जो मरुत् अपने यामों में सब पार्थिव स्थानों को फैला देते हैं। (24) जो मरुत् द्यौ और पृथिवी को रोके रखते हैं। (25) यह सेनापति (भवः—रुद्रः) पृथिवी का स्वामी है। (26) जो मनुष्य अर्थात् शत्रु पृथिवी पर हैं।

यह अन्तिम मन्त्र-खण्ड अथ० 11.10 सूक्त का है। इस सूक्त में युद्ध का वर्णन हो रहा है। शत्रुओं को बुरी तरह मारा जा रहा है। उसी प्रसंग में शत्रु के मनुष्यों के लिए उपर्युक्त वाक्य कहा गया है। इसके साथ ही एक वाक्य में वहाँ शत्रु के मनुष्यों का आकाश में होना भी बताया गया है। प्रस्तुत वाक्य से शत्रु की स्थल-सेना से अभिप्राय है।

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त उद्धरणों में स्पष्ट रूप से सैनिकों की पृथिवी पर संचार करने वाली सेनाओं का उल्लेख है। जिन मन्त्रों में जलीय और आकाशीय सेनाओं का उल्लेख है उनके उद्धृत करने से पहले स्थल-सेना के सम्बन्ध में एक-दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

सेनाङ्ग

भारतीय इतिहास के महाभारतादि ग्रन्थों तथा उनके परवर्ती संस्कृत साहित्य में चतुरंगिणी सेनाओं का उल्लेख मिलता है। स्थल-सेना के चार अंग माने गये हैं। वे अंग हैं—पदाति, रथारोही, अश्वारोही और गजारोही। अर्थात् पैदल सेना, रथों पर बैठकर लड़ने वाली सेना, घुड़सवार सेना और हाथियों पर बैठकर लड़ने वाली सेना। परन्तु वेद के युद्ध-सम्बन्धी स्थलों का अध्ययन करते हुए हमें मध्य युग की सेनाओं के चौथे अंग हाथियों का कहीं वर्णन नहीं मिलता। हाथियों की सेनाओं को युद्धों में विशेष उपयोगी न जानकर आधुनिक राष्ट्रों की सेनाओं में उनको कोई स्थान नहीं दिया जाता। वेद ने भी हाथियों को युद्ध के लिए विशेष उपयोगी नहीं माना है। इसीलिए वेद के युद्ध-प्रकरणों में हाथियों को नहीं दिखाया गया है। वेद में 1. पदाति, 2. अश्वारोही और 3. रथारोही ये तीन ही अंग स्थल-सेना के उपलब्ध होते हैं। नीचे हम इन तीनों सेनांगों में से प्रत्येक का उल्लेख करने वाले कुछ-कुछ मन्त्र उद्धृत करते हैं।

पदाति

पहले पदाति सेना का वर्णन करने वाले मन्त्र देखिए—

1. अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीन् अजयत् पुरोहितः।

अथ० 7.62.1.

2. पत्तीनां पतये नमः।

यजु० 16.19.

1 भंजन्ति इति सायणः।

अर्थात्—(1) यह अग्नि (सम्राट्) श्रेष्ठ पुरुषों का पालक है अथवा स्वयं श्रेष्ठ रक्षक है, प्रवृद्ध बल वाला है। आगे रखा हुआ यह, रथारोही जैसे पदातियों को (पत्तीन्) जीत लेता है, वैसे ही अनायास विरोधियों को जीत लेता है।'

इस उपमा का अभिप्राय यह है कि जैसे रथी पदातियों पर आसानी से विजय पा लेता है वैसे ही यह सम्राट् इतना बली है कि शत्रुओं पर आसानी से विजय पा लेता है। या यह भी भाव हो सकता है कि रथियों की भाँति यह भी रथी है और पदातियों को जीत लेने वाला है। इस मन्त्र से पदाति सेना की स्पष्ट सूचना मिलती है। पाठक यह भी देखें कि मन्त्र में पदाति के लिए 'पत्तीन्' यह बहुवचनान्त पद प्रयुक्त हुआ है जोकि पदातियों के बाहुल्य का, उनकी सेनाओं का सूचक है।

अगले मन्त्र खण्ड का अर्थ है—

(2) पदाति सेनाओं के (पत्तीनां) पति रुद्र (सेनापति) को नमस्कार हो।

रुद्र सेनापति है। उसे यहाँ पदातियों का पति कहा गया है। इससे पदाति सेनाओं की असंदिग्ध सूचना मिलती है। यों भी पत्ति और पदाति शब्द संस्कृत साहित्य में पैदल सेनाओं के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

नमः के तीन अर्थ

मन्त्र में पदाति-पति रुद्र को नमस्कार किया गया है। 'नमः' के नमस्कार, अन्न और वज्र ये तीन अर्थ होते हैं। इस शब्द के प्रयोग का भाव यह है कि सेनापतियों का नमस्कार अर्थात् आदर होना चाहिए, उन्हें और उनकी सेनाओं को खाने को पुष्कल अन्न मिलना चाहिए, और लड़ने के लिए उनके पास पर्याप्त वज्रादि शस्त्रास्त्र रहने चाहिए।

अश्वारोही

अब अश्वारोही सेनाओं का वर्णन करने वाले कुछ मन्त्र देखिये—

1. आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः। ऋग्० 1.85.6.
2. वि मुचध्वमश्वान्। ऋग्० 1.171.1.
3. उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँ इवाजिषु। ऋग्० 2.34.3.
4. क्व वोऽश्वाः क्वाभीशवः। ऋग्० 5.61.2.
5. न वोऽश्वाः श्रथयन्ताह सिस्रतः सद्यो अस्याध्वनः पारमश्नुथ। ऋग्० 5.54.10.
6. ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः। ऋग्० 5.55.1.
7. पिशङ्गाश्वाः अरुणाश्वाः। ऋग्० 5.57.4.
8. य आश्वश्वाः। ऋग्० 5 58.1.
9. स्वश्वाः स्थ। ऋग्० 5.57.2.
10. अश्वैर्हिरण्यपाणिभिः। ऋग्० 8.7.27.

11. समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरः जयन्तु।	अथ॰ 6.126.3.
12. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।	यजु॰ 20.53; अथ॰ 7. 117.1.
13. श्यावाश्वं रुद्रम्।	अथ॰ 11.2.18.
14. असादा ये च सादिनः।	अथ॰ 11.10.24.
15. अश्वाजनि प्रचेतसो ऽश्वान् त्समत्सु चोदय।	यजु॰ 29.50; ऋग्॰ 6.75.13.
16. समश्वपर्णाश्चिरन्ति नो नरः जयन्तु।	ऋग्॰ 6.47.31; यजु॰ 29.57.
17. उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिना।	ऋग्॰ 10.103.10; यजु॰ 17.42.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो शीघ्र चलने वाले और शीघ्र दौड़ने वाले घोड़े (सप्तयः) तुम्हें वहन करते हैं। (2) हे मरुतो अपने घोड़ों को खोल दो। (3) ये मरुत् अपने निरन्तर चलते रहने वाले से (अत्यान् इव) घोड़ों को (अश्वान्) थकावट दूर करने के लिए नहलाते हैं (उक्षन्ते)। (4) हे मरुतो तुम्हारे घोड़े कहाँ हैं और उनकी लगामें (अभीशवः) कहाँ हैं ? (5) हे मरुतो तुम्हारे घोड़े चलते हुए (सिस्रतः) थकते नहीं हैं। (6) मरुत् सधे हुए (सुयमेभिः) और शीघ्रगामी घोड़ों से चलते हैं। (7) मरुतों के घोड़े लाल-भूरे (पिशंग) और लाल (अरुण) रंग के हैं। (8) जो मरुत् शीघ्रगामी घोड़ों वाले हैं। (9) हे मरुतो तुम सुन्दर बढ़िया घोड़ों वाले हो। (10) मरुत् सुवर्णसज्जित पैरों वाले घोड़ों से युक्त हैं।

मरुतों अर्थात् सैनिकों का यह वर्णन स्पष्ट अश्वारोही सेना का वर्णन कर रहा है। अन्य मन्त्रों का अर्थ देखिये—

(11) अश्वों की सवारी वाले (अश्वपर्णाः) हमारे मनुष्य दौड़कर चलें और विजय प्राप्त करें। (12) हे इन्द्र तू मयूर जैसे सुन्दर और चमकीले रोमों वाले घोड़े पर चढ़कर आ। (13) रुद्र (सेनापति) के अश्व लाल-काले या काले (श्याव) रंग के हैं। (14) जो शत्रु सैनिक घोड़ों के बिना (असादाः) अथवा घोड़ों पर सवार (सादिनः) हैं। (15) हे चाबुक (अश्वाजनि) तू हमारे समझदार घोड़ों को युद्धों में (समत्सु) हाँक। (16) घोड़ों की सवारी वाले (अश्वपर्णाः) जो हमारे पुरुष युद्धभूमि में फिर रहे हैं वे विजय प्राप्त करें। (17) हे शत्रुओं के मारने वाले इन्द्र हमारे घोड़ों के (वाजिनां) बल और वेग युद्ध-क्षेत्र में खूब प्रकट होवें।

ये मन्त्र भी अश्वारोही सेनाओं का स्पष्ट वर्णन कर रहे हैं।

निम्न दो मन्त्र भी इस प्रसंग में देखने योग्य हैं। इनमें घोड़ों को युद्ध के लिए तैयार किया जा रहा है। युद्ध के लिए तैयार करते समय योद्धा अपने घोड़ों से प्रेम में भर कर बातें कर रहे हैं—

1. वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥
अथ० 6.92.1.

2. जवस्ते अर्वन्निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत्परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन्बलवान्बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥
अथ० 6.92.2.

अर्थात्—(1) जोड़े जा रहे हे बलवान् घोड़े तू वायु की तरह वेग वाला हो जा, मन की तरह वेग वाला होकर, तू इन्द्र की आज्ञा में (प्रसवे) चल, तुझे सब कुछ जानने वाले सैनिक (मरुतः) भी जोड़े त्वष्टा तेरे पैरों में वेग धारण कर देवें ।

(2) हे घोड़े जो वेग तेरे भीतर गुफा में छिपा हुआ सा पड़ा है, जो वेग श्येन (बाज) पक्षी में है अथवा वायु में है (परीत्तः) उस वेग-बल से है घोड़े बलवान् और युद्धों में (समने) पार लंघाने वाला होकर विजय प्राप्त कर (जय) ।

इन मन्त्रों में इन्द्र और उसके मरुतों के लिए युद्ध समय में विजय प्राप्त करने के लिए घोड़े जोड़े जा रहे हैं । यह वर्णन स्पष्ट अश्वारोही सेना का द्योतक है ।

सेनाओं के लिए घोड़े शिक्षित किये जाएँ

ऊपर की पंक्तियों में उद्धृत मन्त्रों में घोड़े के लिए कुछ ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनसे यह सूचना भी मिलती है कि सेनाओं के लिए उपयोगी घोड़े विशेष रूप से तैयार किये जाएँ । उदाहरण के लिए ऋग्० 5.55.1 में घोड़ों के लिए 'सुयमेभिः अर्थात् 'सधे हुए' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है । ऋग्० 6.75.13 में अश्वों को 'प्रचेतसः' अर्थात् 'समझदार' कहा गया है । ऋग्० 5.57.2 में मरुतों को 'स्वश्वाः' अर्थात् 'उत्तम घोड़ों वाले' बताया गया है । ऋग्० 1.85.6 में घोड़ों को 'रघुष्यदः' अर्थात् 'शीघ्र चलने वाले' और 'रघुपत्वानः' अर्थात् 'शीघ्र दौड़ने वाले' इन विशेषणों से विशेषित किया गया है । ऋग्० 5.55.1 में ही घोड़ों को 'आशुभिः' अर्थात् 'शीघ्रगामी' ऐसा कहा गया है । अथ० 6.92.1 में घोड़े को 'वातरंहा' अर्थात् वायु के वेग वाला' और 'मनोजवाः' अर्थात् 'मन के वेग वाला' कहा है । अथ० 6.92.2 में उसे 'श्येन' अर्थात् 'बाज' और वायु के वेग वाला कहा गया है । इसी मन्त्र में घोड़े को 'समने पारयिष्णुः' अर्थात् 'युद्ध में पार लंघाने वाला' कहा गया है ।

घोड़े इन गुणों से युक्त यों ही नहीं हो सकते । उन्हें शिक्षित करके उनमें ये गुण उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी । इस प्रकार इन मन्त्रों से यह सूचना मिलती है कि घोड़ों को युद्धोपयोगी बनाने के लिए उनकी शिक्षा का प्रबन्ध भी राज्याधिकारियों को करना चाहिए । इसके लिए राज्य को अश्वविद्या के विशेषज्ञ विद्वानों को भी तैयार करना होगा । ऐसे अश्व-शिक्षक विद्वानों की ओर ऊपर उद्धृत अथ० 6.92.1 में भी 'आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु' अर्थात् 'तेरे पैरों में त्वष्टा वेग धारण करे' ऐसा कहकर निर्देश किया गया है । इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग का 'अश्वपालन' विषयक

अध्याय भी पाठकों को इस सम्बन्ध में एक बार पुनः देखना चाहिए।

घोड़ों में केवल वेग आदि के गुण ही न धारण कराये जाएँ प्रत्युत उन्हें शारीरिक दृष्टि से भी सुन्दर और रूपवान् बनाया जाये ऐसी सूचना ऊपर की पंक्तियों में उद्धृत मन्त्रों के ही 'मयूररोमभिः' अर्थात् 'मयूरों की भाँति रोमों वाले' (अथ० 7.117.1), 'पिशंग' अर्थात् 'लाल-भूरे', 'अरुण' अर्थात् 'लाल' (ऋग्० 51.57.4), 'श्याव' अर्थात् 'लाल-काले', इत्यादि घोड़ों विषयक वर्णनों से मिलती है।

ऊपर ऋग्० 8.7.28 में प्रयुक्त अश्वों के 'हिरण्याणिभिः' अर्थात् 'सुवर्णसज्जित पैरों वाले' इस विशेषण से यह भी ध्वनित होता है कि सेना के घोड़ों को खूब सजा कर रखना चाहिए। यहाँ 'पैर' उपलक्षणमात्र है। अर्थात् सेना के घोड़ों के पैरों से उपलक्षित सभी अंग यथेष्ट सजाकर रखने चाहिए।

रथारोही

अब, जिनमें रथारोही सेना का वर्णन है ऐसे कुछ थोड़े से मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं—

1. स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्।
   सुसंस्कृता अभीशवः ॥ ऋग्० 1.38.12.
2. श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा। ऋग्० 1.87.2.
3. तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः।
   ऋग्० 1.88.2.
4. विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो। ऋग्० 1.166.9.
5. हिरण्यचक्रान। ऋग्० 1.88.5.
6. युञ्जते ऽश्वान् रथेषु। ऋग्० 2.34.8.
7. विभ्राजन्ते रथेष्वा। ऋग्० 5.61.12.
8. ऐतान् रथेषु तस्थुष कः शुश्राव कथा ययुः। ऋग्० 5.53.2.
9. मरुतो रथे शुभः। ऋग्० 5.54.11.
10. शुभं यातामनु रथा अवृत्सत। ऋग्० 5.55.1.
11. युङ्ग्ध्वं हरी अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे।
    ऋग्० 5.56.6.
12. प्र तं रथेषु चोदत। ऋग्० 5.56.7.
13. रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे। ऋग्० 5.56.8.
14. आयुधा रथेषु वः। ऋग्० 5.57.6.
15. वातान् ह्यश्वान् धुर्यायुयुज्रे। ऋग्० 5.58.7.
16. वृषणश्वेन मरुतो वृषप्सुना रथेन वृषनाभिना। ऋग्० 8.20.10.
17. रथेषु ऽनीकेष्वधि श्रियः। ऋग्० 8.20.12.

18. अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु। अथ० 6.126.3; यजु० 29.57; ऋग्० 6.47.31.

19. अयमग्निः रथीव पत्तीन जयत्। अथ० 7.62.1.

20. त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ अथ० 7.85.1.

21. ये रथिनो ये अरथाः। अथ० 11.10.24.

22. जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्। अथ० 19.13.5; ऋग्० 10.103.5; यजु० 17.37.

23. याता रथेभिरध्रिगुः विश्वासां तरुता पृतनानाम्। अथ० 20.92.16.

24. वृषपाणयो ऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः। ऋग्० 6.75.7; यजु० 29.44.

25. उद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः। ऋग्० 10.103.10; यजु० 17.42.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो तुम्हारे रथ, उनके पहियों की नेमियाँ, और उनके घोड़े दृढ़ होवें, घोड़ों की लगामें सुसंस्कृत हों।

(2) हे मरुतो तुम्हारे रथों में जलादि के कोश झरते हैं।

इस मन्त्र का भाव यह है कि सैनिकों को युद्ध के समय अपने रथों में जलादि के कोश भरकर ले जाना चाहिए जिससे उन्हें भूख-प्यास जन्य पीड़ा क्लेश न दे सके।

(3) वे मरुत् लाल (अरुणैः) और लाल-भूरे (पिशङ्गैः) रंग के रथ में शीघ्र चलने वाले (रथतूर्भिः) घोड़ों के द्वारा बड़ी सुन्दरता से चलते हैं। (4) हे मरुतो तुम्हारे रथों में सब मंगलदायक वस्तुएँ हैं। (5) मरुतों के रथों के पहिये सुवर्ण-सज्जित हैं। (6) ये मरुत् घोड़ों को रथों में जोड़ते हैं। (7) ये मरुत् रथों में बैठे खूब चमकते हैं। (8) जब ये मरुत् रथों में बैठकर चलते हैं तो कौन सुन सकता है कि कैसे जाते हैं। (9) मरुत् रथों में शोभा पाते हैं। (10) शुभ गति से चलते हुए मरुतों के पीछे रथ चलते हैं।

मरुतों के पीछे रथों के चलाने का भाव यह है कि कई बार सेनाओं में ऐसा होता है कि पदाति और अश्वारोही सेनाएँ आगे चल रही होती हैं और उनके पीछे रथारोही सेनाएँ चलती हैं।

(11) हे मरुतो तुम चलने में समर्थ (अजिरा) और भार उठा सकने योग्य (वहिष्ठा) घोड़ों को रथ के जूए में जोड़ो जिससे वे तुम्हारे रथ को वहन कर सकें। (12) हे मरुतो उस बलशाली घोड़े को रथों में लगाओ। (13) हम मरुतों के यशस्वी रथ को बुलाते हैं। (14) हे मरुतो तुम्हारे रथों में शस्त्रास्त्र रखे हैं। (15) मरुतों

ने वायु जैसे शीघ्रगामी घोड़ों को रथों के जूए में जोता है। (16) हे मरुतो तुम बलशाली घोड़ों से युक्त, बलशाली अर्थात् दृढ़ रूपवाले (वृषप्सुना) और बलशाली नाभि वाले रथ से आओ। (17) मरुतों के रथों और अनीकों में बड़ी शोभा है।

सैनिकों के ये वर्णन असंदिग्ध रूप में रथारोही सेना का वर्णन कर रहे हैं। अगले मन्त्र का भी अर्थ सुनिये—

(18) हे इन्द्र हमारे रथी लोग विजय प्राप्त करें। (19) यह सम्राट् (अग्नि) रथी की भाँति पदातियों को जीत लेता है।

भाव यह है कि जैसे रथी पदाति को आसानी से जीत लेता है वैसे ही यह सम्राट् भी अपने विरोधियों को आसानी से जीत लेता है। मन्त्र में स्पष्ट रूप से पदाति की तुलना में रथी सेना की कल्पना है।

(20) जिसे विजिगीषु लोग अपने पास रखते हैं (देवजूतं), जो बलशाली है, जो रथों को रणक्षेत्र में तैराने वाला है, जो इस प्रकार चलता है कि रथ के पहियों की नेमियों को हानि नहीं पहुँचती (अरिष्टनेमिं) जो सेनाओं को जीत लेता है (पृतनाजिम्), जो शीघ्रगामी है, ऐसे गरुड़ के से वेग वाले (तार्क्ष्यं) घोड़े को (वाजिनं) हम अपने मंगल के लिए बुलाते हैं।

इस मन्त्र से जहाँ सेनाओं को जीतने वाली रथारोही सेना की सूचना मिलती है वहाँ रथों में कैसे घोड़े जोतने चाहिए इसकी ओर भी निर्देश कर दिया गया है।

(21) जो रथी और बिना रथ की शत्रु सेनाएँ हैं। (22) भूमि को लाभ करने वाले (गोविदन्) हे इन्द्र तू विजय दिलाने वाले (जैत्रं) रथ पर बैठ। (23) जो इन्द्र रथों पर चलने वाला है, जिसकी गति को कोई सहार नहीं सकता (अध्रिगुः)[1], जो सम्पूर्ण शत्रु सेनाओं को तैर जाने वाला अर्थात् जीत लेने वाला है। (24) बलिष्ठ पैरों वाले (वृषपाणयः) घोड़े रथों के साथ मिलकर बल दिखा रहे हैं। (25) हे इन्द्र युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त करते हुए रथों के घोष उठते सुनाई दें।

ये मन्त्र भी रथारोही सेना के स्पष्ट प्रतिपादक हैं। जहाँ इन मन्त्रों से यह निर्देश मिलता है कि युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिए रथारोही सेना का निर्माण किया जाना चाहिए वहाँ पाठकों ने देखा होगा कि इनमें से कितने ही मन्त्र यह भी निर्देश कर रहे हैं कि रथों में घोड़े जोते जाने चाहिए। वस्तुतः वेद में रथों के साथ घोड़ों का बहुत सम्बन्ध पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त अथ० 6.125 सूक्त, ऋग्० 6.47.26–28 मन्त्रों, और यजु० 29.52–54 मन्त्रों में केवल रथ का ही वर्णन है। इन तीनों स्थलों में आये मन्त्रों का पाठ सर्वथा एक जैसा है। इन स्थलों में रथ का जो वर्णन हुआ है वह उसे युद्धोपयोगी रथ ही सिद्ध करता है। उदाहरण के लिए वहाँ के रथ के कुछ वर्णन देखिये—

'अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः' (अथ० 6.125.1, ऋग्० 6.47.26; यजु०

[1] अधृतगमनोऽन्यैरिति सायणः।

29.52) अर्थात्—'यह रथ हमारा मित्र है, शत्रुओं को तैर जाने वाला है (प्रतरणः) और इसमें श्रेष्ठ वीर बैठते हैं (सुवीरः)।' 'आस्थाता ते जयतु जेत्वानि' (अथ० 6.125.1, ऋग्० 6.47.26, यजु० 29.52) अर्थात्, 'हे रथ तुझमें बैठने वाला जीतने योग्य युद्धों को (जेत्वानि)[1] विजय करे (जयतु)।' 'इन्द्रस्य वज्रं' (अथ० 6.125.2, ऋग्० 6.47.27, यजु० 29.53) अर्थात् 'यह रथ क्या है इन्द्र का वज्र है।' 'इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकम्' (अथ० 6.125.3, ऋग्० 6.47.28, यजु० 29.54) अर्थात्—'यह रथ क्या है इन्द्र का ओज और सैनिकों का (मरुतां) बल (अनीकं) है। रथ के ये वर्णन इन मन्त्रों में वर्णित रथ को असंदिग्ध रूप में युद्ध-रथ घोषित करते हैं और इस प्रकार युद्ध-रथ के ये वर्णन भी स्पष्ट रूप में रथारोहा सेना रखने की ओर निर्देश करते हैं।

विद्युत् से चलने वाले रथ

ऊपर की पंक्तियों में सेनांग के रूप में रथों का जो वर्णन किया गया है वह घोड़ों से चलने वाले रथों का है। घोड़ों से चलने वाले रथों को निःसन्देह वेद में एक सेनांग माना गया है। परन्तु केवल घोड़ों से चलने वाले रथों का ही वर्णन वेद में उपलब्ध नहीं होता है। बिना घोड़ों के चलने वाले रथों का वर्णन भी वेद में मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

क्रीळं व शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्।

ऋग्० 1.37.1.

अर्थात्—'हे मरुतो तुम्हारा क्रीडाशील बल रथ में शोभा पाने वाला है (रथेशुभं) परन्तु वह ऐसा है कि रथ में घोड़े नहीं जोड़ता (अनर्वाणम्)।'

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप में सैनिकों के ऐसे रथ में बैठकर चलने का वर्णन किया गया है जिसमें घोड़े (अर्वा) नहीं जुड़ते। तो फिर ये बिना घोड़े के रथ चलते किस प्रकार हैं? इसके उत्तर में कहा है—

मारुतो गणस्त्वेषरथः।

ऋग्० 5.61.13.

अर्थात्—'सैनिकों का यह समूह (मारुतः गणः) ऐसा है जिसके रथ में तेज जुड़ता है (त्वेष-रथः)।

सैनिक जिन बिना घोड़ों के रथों में चलते हैं उनमें तेज (त्वेष) का प्रयोग किया जाता है इसलिए वे चलते हैं। यह तेज या गरमी अग्नि, सूर्य-किरणों अथवा विद्युत् आदि किसी भी भौतिक तत्त्व से प्राप्त किया जा सकता है। विद्युत् के बल से सैनिकों के रथों के चलने का वर्णन तो स्पष्ट रूप से वेद में ही विद्यमान है। मन्त्र देखिये—

1. विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः। ऋग्० 3.54.13.

[1] जेतव्यानि शत्रुसैन्यानीति सायणः।

2. आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात अश्वपर्णैः। ऋग्० 1.88.1.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ऋष्टियों को धारण करने वाले ये मरुत् ऐसे हैं जिनके रथों में विद्युत् का प्रयोग होता है (विद्युत्-रथाः)। (2) हे मरुतो जो बड़ी सुन्दर गति से चलते हैं (स्वर्कैः)[1] जो बड़े शीघ्र चलते हैं (अश्वपर्णैः)[2] जिनमें विद्युत् का प्रयोग हुआ है (विद्युन्मद्भिः) ऐसे अपने रथों से आओ।

इनमें सैनिकों के विद्युत् से संचालित रथों का असंदिग्ध वर्णन है।

मरुतों के रथ में जुड़ने वाली पृषती

पाठक यदि मरुत्सूक्तों का परायण करेंगे तो उन्हें सैनिकों के सम्बन्ध में एक और विशेष बात हुई मिलेगी। वह यह है कि बीसियों स्थानों पर सैनिकों के सम्बन्ध में आया है कि वे पृषतियों को अपने रथों में जोड़ते हैं, पृषती उनके घोड़े हैं। हम उदाहरण के लिए केवल दो-चार उद्धरण नीचे देते हैं—

1. रथेष्वा पृषतीरयुग्ध्वम्। ऋग्० 1.85.4.
2. प्र यद् रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं। ऋग्० 1.85.5.
3. उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं। ऋग्० 1.39.6.
4. पृषदश्वो युवा गणः। ऋग्० 1.87.4.
5. यदश्वान् धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं। ऋग्० 5.55.6.
6. यत् प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः। ऋग्० 5.58.6.

इनका शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो तुमने अपने रथों में पृषती जोड़ी है। (2) हे मरुतो जबकि तुमने अपने रथों में पृषती जोड़ी। (3) तुमने अपने रथों में पृषती उपयुक्त की है। (4) यह युवा मरुतों का गण पृषती रूप घोड़ों वाला है। (5) हे मरुतो जबकि तुमने अपने रथों की धुरी में पृषती रूप घोड़े जोड़े। (6) हे मरुतो जब तुम पृषती रूप घोड़ों के द्वारा दृढ़ पवि वाले रथों से प्रयाण करते हो।

पृषती का अर्थ विद्युत्

अब ये पृषतियाँ, जो कि सैनिकों (मरुतों) के रथों में घोड़ों के स्थान में लगती हैं, क्या हैं? श्रीसायण ने तो पृषतियों का अर्थ बिन्दुओं से युक्त अथवा श्वेत बिन्दुओं से युक्त हरिणियाँ कर दिया है।[3] मोटी भाषा में, सायण ने पृषती का अर्थ चितकबरी हरिणी किया है। मरुत् का अर्थ सायण ने काल्पनिक 'वायु के देवता' करके पृषती

[1] स्वर्कैः स्वर्चनैः शोभनगमनयुक्तैरिति सायणः।
[2] अश्वं व्याप्तं पर्णं पतनं गमनं येषां तैरिति सायणः।
[3] उदाहरण के लिए देखिए—ऋग्० 1.37.2; 1.7.4.

हरिणियों को उनकी सवारी बना दिया है। परन्तु हमने देखा है कि मरुत् का अर्थ एक प्रकार के काल्पनिक देवता न होकर सैनिक होता है। जब मरुत् का अर्थ सैनिक है तो पृषती का अर्थ भी कुछ और ही होना चाहिए। हरिणियों की सवारी सैनिकों के लिए कोई उपयुक्त सवारी नहीं है। फिर वेद में पृषतियों का जो वर्णन मिलता है वह हरिणियों पर घट भी नहीं सकता। उदाहरण के लिए देखिये—

1. यदश्वान् धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान् प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम्।
विश्वा इत् स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥
ऋग्० 5.55.6.

2. न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्।
उत द्यावापृथिवी याथना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥
ऋग्० 5.55.7.

अर्थात्—(1) हे मरुतो जब तुम पृषती रूप अश्वों को अपने रथों की धुरियों में जोड़ते हो और सुवर्ण-सज्जित (हिरण्ययान्) सैनिक वस्त्रों को (अत्कान्) धारण करते हो तो सभी संग्रामों को (स्पृधः) तुम व्यस्त कर देते हो अर्थात् जीत लेते हो (व्यस्यथ), शुभ गति से चलते तुम लोगों के पीछे अर्थात् तुम्हारी इच्छा के अनुसार वे रथ चलते हैं।

पाठक देखें कि सैनिकों के पृषतियों से चलाये जा रहे रथों में यह सामर्थ्य बताया गया है कि उनसे सब प्रकार के संग्राम (विश्वाः स्पृधः) जीते जा सकते हैं। अब, हरणियों के द्वारा चलाये गये रथों में यह सामर्थ्य नहीं हो सकता कि उनकी सहायता से सब प्रकार के युद्ध जीते जा सकें। पुनः, पृषतियों से चलाये जा रहे इन रथों की महिमा को इससे अगले ही मन्त्र में और देखिये—

(2) हे मरुतो न पर्वत, न नदियाँ, तुम्हें रोक सकती हैं। (वरन्त), जहाँ तुम चाहते हो वहीं जाते हो, तुम द्यौ और पृथिवी दोनों में जाते हो, शुभ गति से चलते हुए तुम लोगों के पीछे अर्थात् तुम्हारी इच्छा के अनुसार वे रथ चलते हैं।

पाठक देखेंगे कि हरिणियों से चलने वाले रथों में पहाड़ों पर, नदियों पर, आकाश में और धरती पर सब कहीं चलने की सामर्थ्य नहीं हो सकती। एक और मन्त्र देखिये—

प्र यद् रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।
उतारुषस्य विष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम॥
ऋग्० 1.85.5.

अर्थात्—'हे मरुतो जब तुम युद्ध में (वाजे)[1], अपने रथों में पृषती जोड़ते हो, और रुकावट डालने वाले पहाड़ (अद्रि) आदि को भी अपने वेग से मार्ग में से हटा देते हो (रंहयन्तः) तब उन रथों में से बिजली की (अरुषस्य)[2] धाराः) निकलती हैं, और जैसे

[1] वाजे इति संग्रामनामसु पठितम्। निघं० 2.17.
[2] वैद्युताग्नेर्वा इति सायणः।

मश्क (चर्म इव) जलों से (उदभि:) भूमि को भिगो देती है, वैसे ही वे बिजली की धाराएँ शत्रुओं के रक्त से भूमि को भिगो देती हैं।

पाठक देखें कि जिन रथों में हरिणियाँ जुड़ी हुई हों उनसे युद्ध-काल में बिजली की धाराएँ कैसे निकल सकती हैं। पृषती का अर्थ हरिणी करने पर इस मन्त्र में तथा ऊपर के मन्त्रों में कही गई बातें उनमें उपपन्न नहीं हो सकतीं।

हमारी सम्मति में पृषती का अर्थ विद्युत् है। पृषत् का अर्थ बिन्दु होता है। पृषती का अर्थ होगा विन्दुमयी। वह विन्दुमयी शक्ति कौन-सी है जो हमारे रथों को आकाश और भूमि में जहाँ चाहें ले जावे? यह बिन्दुमयी शक्ति विद्युत् है। विद्युच्छास्त्र को जानने वाले विद्युत् के विन्दुओं अर्थात् कणों से सुपरिचित ही हैं। विद्युत् अति सूक्ष्म कणों के रूप में प्रवाहित होती है। ऋण और धन विद्युत् के मिलने पर प्रकाश के छोटे-छोटे कण या विस्फुलिंग (Sparks) उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से भी विद्युत् को पृषती कहा जा सकता है। इन प्रकाश-कणों के कारण विद्युत् को चितकबरी सी भी कहा जा सकता है। यह बिन्दुमयी शक्ति रथों में जुड़ने पर उनमें से विजली की धाराओं का निकलना भी सम्भव हो जाता है और फिर इन विद्युत् से संचालित रथों की सहायता से शत्रुओं का वध करके उनके रक्त से भूमि भी भिगोई जा सकती है। विद्युत् से संचालित मरुतों के रथों का हम ऊपर की पंक्तियों में वर्णन भी कर चुके हैं। विद्युत् का ही दूसरा नाम मरुत्सूक्तों में पृषती दिया गया है। सैनिकों का विद्युत् से यों भी गहरा सम्बन्ध वेद में वर्णित हुआ है। आगे हम सैनिकों के विद्युत् से संचालित शस्त्रास्त्रों का भी उल्लेख देखेंगे। सैनिकों का विद्युत् से इतना गहरा सम्बन्ध होने के कारण ही उनके विषय में अलंकार से कह दिया गया है कि 'हस्काराद् विद्युतस्पर्यऽतो जाता:' (ऋग्० 1.23.12) अर्थात् 'ये सैनिक (मरुत:) विद्युत् की (विद्युत:) दीप्तियों से (हस्कारात्)[1] उत्पन्न होते हैं।'

इस प्रकार रथारोही सेनाएँ दो प्रकार की होंगी। एक तो घोड़ों से संचालित रथों वाली और दूसरी विद्युत् आदि तैजस तत्त्वों (त्वेष) के प्रयोग द्वारा जनित यांत्रिक शक्ति से संचालित रथों वाली। यदि चाहें तो इन यन्त्र संचालित रथों को हम हाथियों के स्थान में सेना का चतुर्थ अंग गिन सकते हैं।

मार्गशोधक सेना

जब सेनाएँ कहीं यात्रा के लिए प्रयाण करेंगी तो उनके चलने के लिए मार्ग साफ और निरुपद्रव होना चाहिए। जब तक सेनाओं के चलने के मार्ग साफ न होंगे तब तक सेनाएँ उद्देश्यस्थल पर नहीं पहुँच सकेंगी। इसके लिए सेनाओं में एक मार्गशोधक विभाग का रहना भी आवश्यक है। ये मार्गशोधक लोग भी सेना का एक आवश्यक अंग हैं। सेनाओं में इस प्रकार का मार्गशोधक सैनिक विभाग भी रहना चाहिए इसकी सूचना भी हमें मरुत्सम्बन्धी सूक्तों के अध्ययन से विस्पष्ट रूप में

[1] हसनं हस् तदेव हस्कार:। विद्युतो दीप्तिरित्यर्थ:। विद्युतो हसनं तस्या दीप्तिरेव भवेत्।

मिलती है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिए निम्न कुछ मन्त्रों को देखिये—

1. नि वो यामाय....जिहीत पर्वतो गिरिः। ऋग्० 1.37.7.
2. गिरींरचुच्यवीतन। ऋग्० 1.37.12.
3. चित्रा रोधस्वतीरनु यातेमखिद्रयामभिः। ऋग्० 1.38.11.
4. प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्। ऋग्० 1.39.5.
5. मृगा इव हस्तिनः खादथा वना। ऋग्० 1.64.7.
6. दादृहाणं चिद् बिभिदुर्वि पर्वतम्। ऋग्० 1.85.10.
7. विश्वो वो अज्मन् भयते वनस्पती प्र जिहीत ओषधिः। ऋग्० 1.166.5.
8. न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्। ऋग्० 5.55.7.

अर्थात्—(1) हे मरुतो (सैनिको) तुम्हारे चलने के लिए मार्ग से पर्वत भी हट जाता है। (2) तुम पहाड़ों को भी अपने स्थान से हटा देते हो। (3) हे मरुतो तुम विचित्र किनारों वाली नदियों पर भी बिना रुकावट के चले जाते हो। (4) ये मरुत् (सैनिक) जब चलते हैं तो पर्वतों को हिला देते हैं और बड़े-बड़े वृक्षों को काटकर मार्ग से पृथक् कर देते हैं (विविञ्चन्ति)[1]। (5) सिंह (मृगाः) जैसे हाथियों को खा जाते हैं वैसे ही तुम हे मरुतो (सैनिको) मार्ग में से जंगलों को (वना) खा जाते हो। (6) ये मरुत् (सैनिक) दृढ़ से दृढ़ पहाड़ को भी फोड़ देते हैं। (7) हे मरुतो (सैनिको) तुम्हारे प्रयाणों से सब कोई डरता है, बड़े-बड़े वृक्ष (वनस्पतिः) और छोटे-छोटे लतागुल्म और झाड़ी-झंखाड़ (ओषधिः) तुम्हारे मार्ग से हट जाते हैं। (8) हे मरुतो (सैनिको) तुम्हें न पर्वत रोक सकते हैं और न नदियाँ रोक सकती हैं, तुम जहाँ का संकल्प करते हो (अचिध्वम्) वहाँ चले ही जाते हो।

मरुतों का यह वर्णन स्पष्ट प्रकट करता है कि सेनाएँ जब प्रयाण करें तो उन्हें मार्ग में किसी प्रकार की रुकावटें उपस्थित नहीं होनी चाहिए। यदि मार्ग में पहाड़ पड़ जाएँ तो उन्हें काटकर उनमें से मार्ग बना लिए जाएँ। यदि राह में बड़े-बड़े वृक्ष आ जाएँ तो उन्हें काटकर रास्ता साफ कर लिया जाये। यदि जंगल और झाड़ी-झंखाड़ मार्ग में पड़ जाएँ तो उन्हें जला-काटकर राह निकाल ली जाये। और यदि रास्ते में नदियाँ आ जाएँ तो उन पर पुल बाँधकर मार्ग बना लिया जाये जिससे सेनाएँ बिना रुकावट के चलती जा सकें। सेनाओं के साथ इस प्रकार का मार्ग शोधक विभाग अवश्य रहना चाहिए यह मरुतों के इन वर्णनों से भली-भाँति सूचित होता है। मार्गशोधन के लिए आगे-आगे चलने वाली सेनाओं को आजकल की प्रचलित भाषा में सफरमैना (Sappers and Miners) कहते हैं। संस्कृत में इन सेनाओं को मार्ग-शोधक सेना कहा जायेगा। सेनाओं का मार्ग-शोधक सेना भी एक आवश्यक अंग है। यहाँ सैनिकों के ये वर्णन असंदिग्ध रूप में प्रकट करते हैं।

[1] विचिर् पृथग्भावे धातो रूपम्।

सेना में कुत्ते भी रखे जाएँ

यजुर्वेद का 16वाँ अध्याय रुद्राध्याय है। उसमें रुद्र अर्थात् सेनापति के रूपों का वर्णन किया गया है। उसी अध्याय के 28वें मन्त्र में ये शब्द भी आते हैं—

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः।

अर्थात्—'हे रुद्र आपके कुत्तों (श्वभ्यः) और उनके रक्षकों (श्वपतिभ्यः) के लिए नमस्कार हो।'

जैसा हम पीछे लिख चुके हैं 'नमः' के नमस्कार, अन्न और वज्र ये तीन अर्थ होते हैं। इनमें से जहाँ जो अर्थ संगत हो सके वहाँ वह अर्थ कर लेना चाहिए। यहाँ कुत्तों के सम्वन्ध में नमः का अन्न अर्थ ही संगत हो सकता है। जिसका भाव यह होगा कि रुद्र के कुत्तों को अन्न मिलना चाहिए। कुत्तों के रक्षकों में नमः के तीनों ही अर्थ संगत हो जायेंगे। उनका नमस्कार-आदर भी होना चाहिए, उन्हें खाने को अन्न भी मिलना चाहिए और उनके पास वज्रोपलक्षित शस्त्रास्त्र भी रहने चाहिए।

इसी भाँति अथ० 11.2 सूक्त भी रुद्र-देवता का ही है। इसमें भी एक आदर्श सेनापति के विभिन्न कार्यों का वर्णन किया गया है। उसी सूक्त में यह मन्त्र भी है—

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः।
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः॥

अथ० 11.2.30.

अर्थात्—'रुद्र के इन लगातार भौं-भौं ध्वनि करने वाले (ऐलबकारेभ्यः) अच्छा न लगने वाला शब्द बोलने वाले (असंसूक्तगिलेभ्यः) बड़े-बड़े मुखों वाले (महास्येभ्यः) कुत्तों के लिए (श्वभ्यः) हम नमस्कार (नमः) करते हैं।'

यहाँ भी कुत्तों के लिए 'नमस्कार' का अभिप्राय उन्हें अन्न देना ही समझना चाहिए।

उद्धृत इन दोनों मन्त्रों से यह ध्वनित होता है कि सेनाओं में बड़े-बड़े भयंकर मुखों वाले और डरावना शब्द करने वाले भयानक कुत्ते भी रखने चाहिए। ये कुत्ते एक तो रात्रि के समय पहरे का काम देंगे, और, दूसरे आवश्यकता होने पर इन्हें शत्रुओं पर भी छोड़ा जा सकेगा। साथ ही इनसे समाचार भेजने और मँगाने का काम भी लिया जा सकेगा। इस प्रकार कुत्ते भी एक प्रकार का सेनांग होंगे।

15

जल-सेना

हमने ऊपर कहा था कि वेद में तीन प्रकार की सेनाओं का विधान है। स्थल-सेना के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। नीचे कुछ ऐसे मन्त्र दिये जाते हैं जिनसे जल-सेना की सूचना मिलती है—

1. अध यदेषां नियुतः परमाः समुद्रस्य चिद् धनयन्त पारे। ऋग्० 1.167.2.
2. ये वावृधन्त वृजने वा नदीनाम्। ऋग्० 5.52.7.
3. नि यद् यामाय वो सिन्धवो येमिरे। ऋग्० 8.7.5.
4. वि द्वीपानि पापतन्। ऋग्० 8.20.4.
5. शिशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि। न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान्परिपश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्तसमुद्रे ॥ अथ० 11.2.25.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) इन मरुतों के उत्कृष्ट (परमाः) अश्व (नियुतः) समुद्र के भी पार (समुद्रस्य चित् पारे) इनके लिए आवश्यक धनादि को ले जाते हैं (धनयन्त)[1]।

मन्त्र के 'नियुतः' शब्द का अर्थ हमने अश्व कर दिया है। परन्तु समुद्र में चलने वाले अश्वों का अर्थ समुद्र में चलने वाले पोत (जहाज) समझना चाहिए। प्रचलित पौराणिक प्रथा में 'नियुतः' वायु के घोड़ों का पारिभाषिक नाम है। वास्तव में इस पद का अर्थ घोड़े न करके सवारी करना चाहिए। इस पद का धात्वर्थ है, 'जो एक स्थान से वियोग करके दूसरे स्थान से संयोग कर दे।' यह गुण सभी सवारियों में पाया जाता है। यहाँ समुद्र के प्रसंग से 'नियुतः' का अर्थ पोत करना चाहिए।

सैनिकों की नौकायें समुद्र के पार भी उनके लिए आवश्यक धनादि को ढोकर ले जाती हैं। यह वर्णन सैनिकों के समुद्र-संचार की सूचना देता है और समुद्र-संचारी सैनिक स्पष्ट ही जल-सेनाओं के सैनिक होंगे।

(2) जो मरुत् नदियों के बलशाली वेगों में (वृजने) भी वृद्धि प्राप्त करते हैं

[1] धनधारणं वहनं कुर्वन्तीति सायणः।

अर्थात् अपनी महिमा बढ़ाते हैं।

वृजन का अर्थ बल होता है। यहाँ नदी के साहचर्य से हमने उसका अर्थ नदी का बलशाली वेग या प्रवाह कर दिया है। नदी का बल उसके वेग में ही होता है। सैनिक नदियों के वेग में भी अपनी महिमा बढ़ाते हैं इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि सैनिक नदियों में भी जाते हैं पर वहाँ उनके वेग से उनका कुछ नुकसान नहीं होता। सैनिकों का यह नदी-संचार भी जल-सेनाओं की सूचना देता है।

(3) हे मरुतो तुम्हारे याम अर्थात् प्रयाण के लिए समुद्र भी (सिन्धवः) नियमित हो जाते हैं।

सैनिक समुद्रों में आते-जाते हैं। पर समुद्रों की उत्ताल तरंग भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। उनके कुशल जहाजों के कारण समुद्र भी नियमित हो जाते हैं, वश में हो जाते हैं। मरुतों का यह वर्णन स्पष्ट रूप में जल-सेनाओं का वर्णन कर रहा है।

(4) ये मरुत् द्वीपों में भी दौड़कर चले जाते हैं।

द्वीपों में समुद्र को पार करके ही जाया जा सकता है। सैनिकों का द्वीप-द्वीपान्तर में जाना उनके समुद्र-संचार को सूचित करता है और सैनिकों का समुद्र-संचार जल-सेनाओं का द्योतक है। 'दौड़कर चले जाते हैं'—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि अतिशीघ्र चले जाते हैं। जिसकी ध्वनि यह है कि समुद्र-संचार के लिए अतिशीघ्रगामी पोतों का निर्माण करना चाहिए।

इस प्रकार मरुतों के ये वर्णन स्पष्ट रूप में जल-सेनाओं के निर्माण की सूचना दे रहे हैं। अब अगले मन्त्र का अर्थ सुनिये—

(5) हे भव (रुद्र) शिशुमार, अजगर, पुरीकय, जष और मत्स्य ये जल-जन्तु हैं जिन्हें कि तुम अपने तेज से (रजसा) परे फेंक देते हो, न तुम्हारे लिए कुछ दूर है, और न तुम्हारे लिए कुछ रुकावट (परिष्ठा) है, तुम तत्क्षण ही (सद्यः) सम्पूर्ण (सर्वान्)[1] भूमि को देख लेते हो और पूर्व समुद्र से पश्चिम (उत्तरस्मिन्) समुद्र में (समुद्रे) चले जाते हो (हंसि)[2]।

रुद्र सेनापति है। मन्त्र में सेनापति के समुद्र-संचार को बताया जा रहा है। कहा गया है कि सेनापति शिशुमार आदि जलजन्तुओं को अपने तेज से परे फेंक देता है। इसका भाव यह है कि उसने इस प्रकार की नौकाएँ बना रखी हैं जिन पर शिशुमार आदि कोई प्रहार नहीं कर सकते। यदि वे उन नौकाओं पर प्रहार कर भी दें तो भी उन्हें ही टक्कर खाकर वापिस जाना पड़ता है। नौकाओं का कुछ नहीं बिगड़ता है। इन नौकाओं के कारण उसे समुद्र में चलते हुए कोई रुकावट नहीं होती। वे इतनी शीघ्र चलने वाली हैं कि उनके कारण समुद्र की कोई जगह दूर नहीं रहती। उनकी गति इतनी तेज है कि अभी एक देश की भूमि को देखकर शीघ्र ही

[1] सर्वामिति सायणः। लिंगवचनयोर्व्यत्ययः।

[2] हन्तिरत्र गत्यर्थ इति सायणः।

दूसरे देश की भूमि देख ली जाती है और इस प्रकार झट ही सारी भूमि का दर्शन हो जाता है। उनकी गति इतनी तेज है कि अभी सेनापति पूर्व समुद्र में होता है, अभी वह पश्चिम समुद्र में चला जाता है।

इस मन्त्र से स्पष्ट यह निर्देश निकलता है कि राष्ट्रों को अपनी रक्षा के लिए जल-सेनाओं का निर्माण भी करना चाहिए। इसके साथ ही यह भी सूचित कर दिया गया है कि जल-सेनाओं के जहाज ऐसे होने चाहिए कि जिन पर कोई जल-जन्तु प्रहार न कर सके और न ही जिन्हें समुद्र की लहरें आदि रुकावट पहुँचा सकें। और साथ ही वे जहाज इतने शीघ्रगामी भी हों कि उनके द्वारा शीघ्र ही एक समुद्र से दूसरे समुद्र में जाया जा सके। मन्त्र का 'सद्यः'—तत्क्षण—शब्द नौकाओं की अत्यन्त वेगशालिता की सूचना देता है। नौकाओं में यह शीघ्रगति विद्युत् आदि के प्रयोग से उत्पन्न की जा सकती है।

मद्गु अर्थात् पनडुब्बी

वेद में केवल समुद्र के ऊपर चलने वाली जल-सेनाओं का ही वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। प्रत्युत पानी के भीतर चलने वाली जल-सेनाओं का वर्णन भी मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये :—

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः।
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा॥

ऋग्० 5.52.9.

अर्थात्, ये मरुत् कभी तो शुन्ध्यु अर्थात् मद्गु पक्षी की तरह (शुन्ध्यवः) कुटिलगामिनी नदी में (परुष्ण्यां) छिपकर (ऊर्णाः) रहते हैं और कभी अपने रथों की पवि के ओज द्वारा पर्वतों को तोड़ गिराते हैं।

इस मन्त्र में सैनिकों को शुन्ध्यु अर्थात् जलचर मद्गु पक्षी से उपमा दी गई है। दुर्गाचार्य ने शुन्ध्यु का एक अर्थ मद्गु किया है।[1] मद्गु एक उदकचर पक्षी होता है जो जल में डुबकी लगाकर भीतर ही भीतर चलता रहता है। यह शब्द 'मस्ज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ डुबकी लगाना होता है। सैनिकों को मद्गु पक्षी से उपमा देकर कहा गया है कि वे बड़ी-बड़ी कुटिलगामी नदियों में पानी के भीतर छिपे रहते हैं। सैनिकों के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सेनाधिकारियों को ऐसी नौकाएँ भी बनानी चाहिए जो मद्गु पक्षी की भाँति जल के भीतर ही भीतर चल सकें और उनके द्वारा सेनायें जल के भीतर ही भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सकें।

यहाँ मद्गु पर थोड़ा सा और विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। यजुर्वेद 24.34 में यह वाक्य आता है—'प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये।' इस वाक्य का अर्थ है—'प्लव और मद्गु पक्षी तथा मछली ये नदी-पति अर्थात् समुद्र में संचार

[1] निरुक्तभाष्य, नैगमकाण्ड, 4.2.8।

के लिए हैं।' भाव यह है कि इन तीन की गतिविधि को देखकर उनके आधार पर समुद्र में संचार के साधन नौकाएँ बना लेनी चाहिए। इसी अध्याय के ऊपर के 15, 16 और 17 मन्त्रों में 'उक्ताः संचरा एताः' ऐसा कहकर स्वयं वेद ने ही स्पष्ट कर दिया है कि इस अध्याय में जो पक्षी आदि गिनाये जा रहे हैं वे इन्हें देखकर संचार के साधन आविष्कार करने के लिए हैं। पाठकों को मालूम होगा कि संस्कृत में जहाज को 'प्लव' कहते हैं। सो प्लव नामक जलचर पक्षी को देखकर साधारण जहाज बनाये गये।

प्राचीन भारत में मद्गु अर्थात् पनडुब्बी

मद्गु पक्षी को देखकर पानी में डुबकी लगाकर चलने वाले मद्गु नामक जहाज बनें यह हमारी निरी कल्पना नहीं है। प्राचीन समय में भारत में मद्गु नामक जहाज भी होते थे। संस्कृत साहित्य में इसके अब तक भी प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ दशकुमारचरित के छठे उच्छ्वास की निम्न पंक्ति देखिये :—

अस्मिन्नेव क्षणे नैकनौकापरिवृतः कोपि मद्गुरभ्यधावत्।[1]

अर्थात्—'इसी समय अनेक नौकाओं से घिरा हुआ एक मद्गु हम पर आ टूटा।' दशकुमारचरित पर पदचन्द्रिका, भूषणा और लघुदीपिका ये तीन टीकायें उपलब्ध होती हैं। इन तीनों टीकाओं में मद्गु का अर्थ 'मद्गुः पोतविशेषः' अर्थात् 'मद्गु एक खास तरह के जहाज को कहते हैं' ऐसा किया है। दशकुमारचरित में जहाँ यह प्रसंग है वहाँ कहा गया है कि उस समय आस-पास समुद्र में कोई जहाज दिखाई नहीं देता था। यह मद्गु एकाएक प्रकट हो गया था। इससे इसका जलान्तः संचारी होना स्पष्ट है। मद्गु शब्द का अपना अर्थ भी डुबकी लगाकर चलने वाला ही होता है। इसलिए यह परिणाम निकाल लेना कि किसी समय भारत के शिल्पियों ने वेद के सहारे पानी में डुबकी लगाकर चलने वाला मद्गु नामक, संचार का साधन, एक विशेष प्रकार का जहाज अवश्य बनाया था, हमारा कोई दुस्साहस नहीं है।

कम से कम वेद में यह निर्देश अवश्य है कि सैनिकों के लिए जलान्तः संचारी मद्गु नामक नौकायें बनाकर अपने राष्ट्र की जल-सेनाओं को सुदृढ़ करना चाहिए।

[1] दशकुमारचरितम्, निर्णय सागर मुद्रणालय, मुम्बई, 1940, पृ० 215।

16

वायु-सेना

अब आइए आकाश-सेना पर। आकाश-सेना की सूचना देने वाले मन्त्रों में से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

1. अव स्वयुक्ता दिव आ ययुः....अरेणवः। ऋग्० 1.168.4.
2. अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। ऋग्० 1.6.9.
3. नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि। ऋग्० 1.39.4.
4. दिवि रुद्रासो अधि चक्रिरे सदः। ऋग्० 1.85.2.
5. वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये। ऋग्० 1.85.7.
6. श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे। ऋग्० 1.165.2.
7. वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे। ऋग्० 1.166.10.
8. आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन। ऋग्० 2.34.5.
9. मरुतां महो दिवि क्षमा च मन्महे। ऋग्० 5.52.3.
10. ये वावृधन्त उरावन्तरिक्ष सधस्थे वा महो दिवः। ऋग्० 5.52.7.
11. आ यात मरुतो दिव आन्तरिक्षादमादुत। ऋग्० 5.53.8.
12. प्रवत्वती द्यौर्भवति मरुद्भ्यः प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः। ऋग्० 5.54.9.
13. उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा। ऋग्० 5.55.2.
14. उत द्यावापृथिवी याथना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत। ऋग्० 5.55.7.
15. धूनुथ द्यां शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्। ऋग्० 5.57.3.
16. वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसाऽन्तान् दिवो बृहतः सानुनस्परि। ऋग्० 5.59.7.
17. दिवश्चित् सानु रेजत स्वने वः। ऋग्० 5.60.3.
18. प्र ये दिवो बृहतः शृण्विरे। ऋग्० 5.87.3.
19. ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि। ऋग्० 5.87.9.
20. ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी। ऋग्० 7.57.1.

21. आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः । ऋग्० 7.57.3.
22. उत क्षोदन्ति रोदसी महित्वा । ऋग्० 7.58.1.
23. आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन् । ऋग्० 7.59.7.
24. आक्षणयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः । ऋग्० 8.7.35.
25. वो यातवे द्यौर्जिहीत उत्तरा वृहत् । ऋग्० 8.20.6.
26. आ श्येनासो न पक्षिणः । ऋग्० 8.20.10.
27. आ ये पप्रथन् रोचना दिवः । ऋग्० 8.94.9.
28. ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतः । ऋग्० 8.94.11.
29. श्येनासो न स्वयशसः । ऋग्० 10.77.5.
30. दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः । अथ० 11.2.4.
31. योन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन्देवपीयून् । अथ० 11.2.23.
32. भवो दिवो ईशे भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम् । अथ० 11.2.27.
33. ये अन्तरिक्षे ये दिवि मानवाः । अथ० 11.10.2.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ये मरुत् अपने यानों से युक्त होकर (स्वयुक्ताः) आकाश के मार्ग से (दिवः) आते हैं, इन्हें धूल नहीं लगती (अरेणवः)। (2) हे सर्वत्र विचरण करने वाले मरुद्गण आकाश के (दिवः) चमकीले मार्गों से आओ। (3) हे मरुतो आकाश में (अधिद्यवि) तुम्हें शत्रु नहीं प्राप्त कर सकता। (4) मरुतों ने (रुद्रासः) आकाश में (दिवि) स्थान बनाया हुआ है। (5) ये मरुत् पक्षियों की भाँति (वयः न) अपने प्यारे आकाश में (बर्हिषि)[1] रहते हैं। (6) ये मरुत् बाज पक्षियों की भाँति (श्येनान् इव) आकाश में (अन्तरिक्षे) गति करते हैं। (7) पक्षी जैसे पंखों को धारण करते हैं वैसी ही श्री मरुतों ने भी धारण कर रखी है। (8) हे मरुतो हंसों की तरह उड़कर अपने स्थान में आओ। (9) हम आकाश में (दिवि) और भूमि पर मरुतों की महिमा को मानते हैं। (10) ये मरुत् महान् अन्तरिक्ष में और द्यौ के स्थानों में वृद्धि प्राप्त करते हैं। (11) हे मरुतो तुम द्यौ से और अन्तरिक्ष से आओ। (12) मरुतों के कारण द्यौ फैल जाती है (प्रवत्वतीः) और अन्तरिक्ष के मार्ग भी फैल जाते हैं।

ऊपर के इन तीन मन्त्रों में मरुतों के अन्तरिक्ष और द्यौ में संचार का वर्णन है। इन दोनों शब्दों का सामान्य अर्थ आकाश ही होता है। पर जहाँ ये इकट्ठे प्रयुक्त हों वहाँ अन्तरिक्ष का अर्थ भूमि के समीप का आकाश और द्यौ का अर्थ भूमि से बहुत दूर का आकाश ऐसा कर लेना चाहिए। 'द्यौः' शब्द की यह ध्वनि है कि मरुत् अपने यानों के द्वारा आकाश में बहुत ऊँचा चढ़ जाते हैं।

(13) ये मरुत् आकाश को भी (अन्तरिक्ष) अपने ओज से माप लेते हैं। (14) हे मरुतो तुम द्यौ में और पृथिवी पर सर्वत्र जाते हो, शुभगति से चलते हुए

1 बर्हिरिति अन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० 1.3.

तुम्हारे पीछे अर्थात् तुम्हारी इच्छा के अनुसार रथ चलते हैं। (15) हे मरुतो जब तुम अपने शुभ यानों में बिजलियाँ (पृषतीः) जोड़ते हो तो उनसे आकाश को (द्यां) कम्पा देते हो। (16) जो मरुत् पक्षियों की भाँति (वयः न) पंक्तियाँ बाँधकर (श्रेणीः) महान् आकाश के (दिवः) दूर-दूर के सिरों (अन्तान्) और ऊँची ऊँचाइयों पर (सानुनस्परि) उड़ जाते हैं। (17) हे मरुतो तुम्हारे शब्द से आकाश के (दिवः) ऊँचे प्रदेश भी (सानुचित्) काँप जाते हैं। (18) जिन मरुतों का शब्द महान् आकाश से (दिवः) सुनाई देता है। (19) ये मरुत् आकाश में (व्योमनि) बड़े-बड़े पर्वतों से दिखाई देते हैं।

यह पर्वतों की उपमा मरुतों के विशालकाय वायुयानों की सूचना देती है।

(20) जो मरुत् महान् द्यौ और पृथिवी को भी कम्पा देते हैं। (21) विभिन्न प्रकार के रूपों वाले ये मरुत् भूमि और आकाश को भी विभिन्न रूपों वाला बना देते हैं। (22) मरुत् अपनी महिमा से द्यौ और भूमि को भी तोड़ देते हैं (क्षोदन्ति)[1]। (23) ये मरुत् काली पीठ वाले (नीलपृष्ठाः) हंसों की भाँति (हंसा इव) आकाश में उड़ते हैं। (24) फैल कर चलने वाले (आक्षणयावानः) ये मरुत् उड़ते हुए (पततः) आकाश मार्ग से (अन्तरिक्षेण) चलते हैं। (25) हे मरुतो तुम्हारे चलने के लिए ऊपर का महान् आकाश (द्यौः) भी मार्ग छोड़ देता है (आ जिहीते)। (26) ये मरुत् बाज (श्येनासः) पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ते हैं। (27) जो मरुत् आकाश के (दिवः) चमकीले मार्गों को (रोचना) फैला देते हैं।

मार्गों या स्थान को फैला देने के भाव की व्याख्या ऊपर स्थल-सेना के प्रकरण में की जा चुकी है।

(28) जो मरुत् द्यौ और भूमि को रोककर सँभाले हुए हैं (तस्तभुः)। (29) इन मरुतों का श्येन पक्षियों की भाँति आकाश में उड़ने का अपना यश है।

सैनिकों के ये वर्णन स्पष्ट रूप में आकाश संचारी सेना का वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार वेद का यह असंदिग्ध निर्देश है कि अपने राष्ट्र की दृढ़ सुरक्षा के लिए आकाश सेना का निर्माण भी होना चाहिए। अब अवशिष्ट मन्त्रों का अर्थ सुनिए।

(30) हे रुद्र (सेनापति) आकाश के (दिवः) उपरिभाग के (परि)[2] बीच में अवस्थित रहकर (अन्तरिक्षाय)[3] रक्षा करने वाले तुम्हें नमस्कार है। (31) जो रुद्र (सेनापति) आकाश में (अन्तरिक्षे) थमकर (विष्टभितः) ठहरा हुआ है और अयज्ञशील (अयज्वनः) तथा देव-पुरुषों की हिंसा करने वाले (देवपीयून्) लोगों को मार रहा है। (32) सेनापति (भव=रुद्र) आकाश का (दिवः) स्वामी है, वह महान् आकाश में (अन्तरिक्षम्) फैला हुआ है। (33) आकाश और द्यौ में जो शत्रु-सेना के मनुष्य हैं, सेनापति उनका ध्यान रखे।

[1] भंजन्तीति सायणः।

[2] उपरिभागे इति सायणः।

[3] आकाशमण्डलस्य मध्ये अन्तरिक्षाय अन्तरा क्षान्ताय नियन्तृत्वेनावस्थितायेति सायणः।

सेनापति के ये वर्णन भी आकाश सेनाओं के निर्माण की विस्पष्ट सूचना देते हैं।

आकाशीय सेनाओं के लिए विमानों की आवश्यकता है। विना विमानों के आकाश-सेनाएँ नहीं वन सकतीं। राष्ट्र में विमान वनाने वाले शिल्पियों का भी प्रबन्ध रहना चाहिए। ऋभुओं—शिल्पियों—की महिमा बताते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि 'दिवा यान्ति मरुतः' (ऋग्० 1.161.14) अर्थात् 'ऋभुओं की महिमा से मरुत् (सैनिक) आकाश मार्ग से चलते हैं।'

17

शस्त्रास्त्र

वेद में सैनिकों के लिए स्थान-स्थान पर 'स्वायुधासः'[1] अर्थात्—'उत्तम शस्त्रास्त्रों से युक्त' इस प्रकार के विशेषण आते हैं। कितने ही स्थानों पर इस प्रकार के वर्णन आते हैं कि 'स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीडु उत प्रतिष्कभे' (ऋग्० 1.39.2) अर्थात्—'हे सैनिको (मरुतः) शत्रुओं को मार भगाने और रोकने के लिए तुम्हारे पास कठोर (स्थिरा) और दृढ़ (वीडु) शस्त्रास्त्र (आयुधा) रहने चाहिए।' तात्पर्य यह है कि सैनिकों को सब प्रकार के उत्तमोत्तम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहना चाहिए। वेद में अनेक शस्त्रास्त्रों के नाम भी आते हैं जिनसे सैनिकों और सेनापतियों को सुसज्जित बताया गया है। नीचे के पृष्ठों में इन शस्त्रास्त्रों के नामों का निर्देश किया जाता है—

वाण

1. अस्तार इषुं।	ऋग्० 1.64.10.
2. धमन्तो वाणं।	ऋग्० 1.85.10.
3. दैवीर्मनुष्येषवः।	अथ० 1.19.2.
4. तीक्ष्णेषवः।	अथ० 3.19.7.
5. तिग्मेषवः।	ऋग्० 10.84.1.
6. य इषवः।	अथ० 11.9.1.
7. इषुहस्तेन।	अथ० 19.13.3; ऋग्० 10.103.2; यजु० 17.34.
8. इषुहस्तैः।	अथ० 19.13.4; ऋग्० 10.103.3; यजु० 17.35.
9. या इषवस्ता जयन्तु।	अथ० 19.13.11.
10. इषुबला।	ऋग्० 6.75.9.

[1] उदाहरण के लिए देखिए। ऋग्० 5.87.5.

11. इषवः शर्म यंसन् । ऋग्० 6.75.11; यजु० 29.48.
12. इष्वै देव्यै बृहन्नमः । ऋग्० 6.75.15.
13. यत्र वाणाः संपतन्ति । ऋग्० 6.75.17; यजु० 17.48.
14. बिभर्षि सायकानि । ऋग्० 2.33.10.

इन मन्त्रों में युद्ध के समय चलाये जाने वाले बाणों का वर्णन आया है । बाणों के लिए इनमें वाण के अतिरिक्त इषु और सायक शब्द का भी प्रयोग हुआ है । वाण के लिए वेद में अधिक प्रयुक्त होने वाला शब्द इषु ही है ।

निम्न मन्त्रों में बाणों के कुछ प्रकारों का भी वर्णन हुआ है—

1. अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः क्रव्यादो वातरंहसः ।
अथ० 11.10.3.

2. आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम् ।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः ॥ ऋग्० 6.75.15.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) लोहे से बने मुँह वाले (अयोमुखाः) सुई की भाँति नोकीले और पैने मुँह वाले (सूचीमुखाः) विकंकत पेड़ की शाखाओं की भाँति अनेक कण्टकों से युक्त मुँह वाले (विकंकतीमुखाः) मांस को खा जाने वाले (क्रव्यादः) और वायु की भाँति शीघ्रगामी (वातरंहसः) वाण ।

मन्त्र में कहा गया है कि बाणों का अग्रभाग लोहे का होना चाहिए । फिर यह लोहे का अग्रभाग आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार का बनाया जा सकता है। उदाहरण के रूप में इसके दो भेद मन्त्र में बता दिये गये हैं । एक सुई की भाँति का पैना अग्रभाग और दूसरा विकंकत वृक्ष की शाखाओं की भाँति अनेक कण्टकों से युक्त अग्रभाग । बाणों के अग्रभाग बनाने में जिस वात का विशेष ध्यान रखना चाहिए वह 'क्रव्यादः' विशेषण द्वारा वता दी गई है । वाणों का मुँह इस प्रकार का बनाना चाहिए कि वह शत्रु के मांस को खा जाये अर्थात् उसके मांस को खूब काट डाले अथवा नष्ट कर डाले । 'वातरंहसः' विशेषण द्वारा यह बताया गया है कि शत्रु को हानि पहुँचाने के लिए बाणों को वहुत वेग से छोड़ना चाहिए । वाण जितना वेग से चलेगा उतनी ही गहरी मार शत्रु को करेगा । अब दूसरे मन्त्र का अर्थ सुनिये—

(2) जो बाण विष से लिप्त है (आलाक्ता)[1] जो रुरु मृग के शिर की भाँति अग्रभाग वाला है (रुरुशीर्ष्णी) जो लोहे के मुख वाला है । (अयोमुखम्) जो बादल की भाँति वीर्य वाला है (पर्जन्यरेतसे) उस बाण को नमस्कार है ।

इस मन्त्र में भी बताया गया है कि बाणों का अग्रभाग लोहे का बनाना चाहिए । आवश्यकतानुसार बाणों के अग्रभाग भाँति-भाँति के बनाये जा सकते हैं । उदाहरण के लिए रुरु मृग के सींगों के आकार के अग्रभाग का उल्लेख कर दिया गया है । 'आलाक्ता' विशेषण द्वारा यह भी बता दिया है कि शत्रु को मारने के लिए विष

1. आलेन विषेण अक्ता इति सायणः ।

में बुझे हुए अथवा विष से भरे हुए जहरीले बाणों का भी प्रयोग करना चाहिए। बाण को 'बादल की भाँति वीर्य वाला' कहने का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार बादल धाराओं में बरसता है उसी प्रकार शत्रु पर बाणों की वर्षा की झड़ी लगा देनी चाहिए। महाभारतादि ग्रन्थों में जो अनेक प्रकार के मुखों वाले बाणों का वर्णन आता है उस प्रकार के बाणों के निर्माण का आधार वेद के ये उपर्युक्त स्थल ही प्रतीत होते हैं।

इषुधि

जहाँ बाणों का वर्णन आता है वहाँ उनके रखने के लिए इषुधि या तूणीर भी बनाने चाहिए इसका भी उल्लेख है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. निषङ्गिणः। ऋग्० 5.57.2.
2. निषङ्गिभिः। अथ० 19.13.4; ऋग्० 10.103.3. यजु० 17.35.
3. इषुधिः पृष्ठे निनद्धः। यजु० 29.42; ऋग्० 6.75.5.
4. नि सर्वसेन इषुधीरसक्त। ऋग्० 1.33.3.

इन मन्त्रों में इषुधि का वर्णन हुआ है। इषुधि बाण रखने के कोश को कहते हैं। इसके लिए दूसरा शब्द निषंग प्रयुक्त हुआ है।

धनुष

बाण चलाने के लिए धनुषों का भी निर्माण करना चाहिए। धनुषों का निर्देश भी अनेक मन्त्रों में आता है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. ये धन्वसु श्रायाः। ऋग्० 5.53.4.
2. सुधन्वान। ऋग्० 5.57.2.
3. स्थिरा धन्वानि। ऋग्० 8.20.12.
4. अबलधन्वनः। अथ० 3.19.7.
5. धन्वनां वीर्याणि। अथ० 11.9.1.
6. उग्रधन्वा। अथ० 19.13.4; ऋग्० 10.103.3; यजु० 17.35.
7. धन्वनाजिं जयेम। ऋग्० 6.75.2; यजु० 29.39.
8. रुद्राय स्थिरधन्वने। ऋग्० 7.46.1.
9. बिभर्षि धन्वार्हन्। ऋग्० 2.33.10.

इन मन्त्रों में धनुष का वर्णन हुआ है। सैंकड़ों और हजारों पुरुषों का वध जिनसे किया जा सके ऐसे महाभीषण धनुषों का निर्माण भी करना चाहिए ऐसा निर्देश देने वाले मन्त्र भी हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

1. अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे। यजु० 16.13.

2. धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन् ।
अथ० 11.2.12.

अर्थात्—(1) हे रुद्र (सेनापति) तुम जोकि सहस्राक्ष हो, और एक साथ ही सैंकड़ों बाणों को छोड़ने वाले (शतेषुधे) अपने धनुष को हम अनुयायियों के लिए ढीला कर लो। (2) हे शिखण्डधारी रुद्र (सेनापति) तुम शत्रुओं के जीवनों का हरण करने वाले (हरितं) हजारों का हनन करने वाले (सहस्रघ्नि) और सैंकड़ों का वध करने वाले (शतवधं) सुवर्णसज्जित धनुष को धारण करते हो।

सेनापति को सहस्राक्ष कहने का क्या अभिप्राय है यह पीछे कई बार कहा जा चुका है। इन मन्त्रों में सेनापति के धनुष को हजारों और सैंकड़ों का वध करने वाला कहा है। जिसकी ध्वनि यह है कि धनुष ऐसे बनाये जाएँ जिनसे एक ही बार में सैंकड़ों और हजारों बाण छोड़े जा सकें। रुद्र को 'शतेषुधि'—सौ बाण चढ़ाने वाला—कहने का भी यही अभिप्राय है कि उसके धनुष से एक साथ ही सौ बाण छोड़े जा सकते हैं। महाभारतादि ग्रन्थों में इस प्रकार के अद्भुत धनुषों का जो वर्णन आता है इसका आधार वेद के ऐसे ही स्थल प्रतीत होते हैं।

असि

निम्न मन्त्रों से असि अर्थात् तलवार निर्माण करने का निर्देश मिलता है—

1. असीन् आयुधम्। अथ० 11.9.1.
2. निषङ्गिणे। यजु० 16.21.36.
3. हस्तेषु कृतिश्च सं दधे। ऋग्० 1.168.3.

इनमें तलवारों के लिए असि, निषंग और कृति ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। निषंग का अर्थ तूणीर भी होता है जैसा कि अभी पीछे हम देख चुके हैं। परन्तु उद्धृत यजु० 16.21,36 में तूणीर के लिए 'इषुधि' का प्रयोग हो चुका है इसलिए निषंग का अर्थ तलवार ही होगा। कोशों तथा भाष्यों में निषंग का अर्थ तलवार भी मिलता है। यजु० 16.10 में 'निषंगधि' अर्थात् तलवार को रखने के लिए म्यानों का निर्माण करने का निर्देश भी मिलता है।

वाशी

1. ये साकं वाशीभिः। ऋग्० 1.37.2.
2. वाशीमन्तः। ऋग्० 1.87.6; 5.57.2.
3. आध तनूषु वाशीः। ऋग्० 1.88.3.
4. हिरण्यवाशीभिः। ऋग्० 8.7.32.
5. ये वाशीषु श्रायाः। ऋग्० 5.53.4.

इन मन्त्रों में 'वाशी' नामक शस्त्र निर्माण करने का निर्देश है। श्री सायण ने वाशी का अर्थ 'तक्षणसाधनमायुधम्' अर्थात् 'शरीर को छील डालने वाला एक शस्त्र' ऐसा

किया है। वाशी का एक अर्थ लकड़ी छीलने का बसूला भी होता है। बसूले की भाँति तीखे और चौड़े अग्रभाग वाले बाणों और भालों को वाशी कहा जा सकेगा। या द्वन्द्व युद्ध में बसूले भी शस्त्र के रूप में प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

परशु

अथर्ववेद के—

परशून् आयुधम्।

अथ० 11.9.1.

इस मन्त्र में परशु को भी शस्त्र बनाने का वर्णन है। परशु लकड़ी काटने के कुल्हाड़े को कहते हैं। समीप की लड़ाई में शत्रुओं के अंगों को काटने के लिए परशु को भी शस्त्र बनाया जा सकता है।

सीसे की गोली

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र देखिये—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पुरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।।

अथ० 1.16.4.

अर्थात्—'हे शत्रु तू यदि हमारी गौओं को मारता है, हमारे घोड़े और पुरुषों को मारता है तो हम तुझे सीसे से बींधते हैं जिससे तू हमारे वीरों को न मार सके।'

इस मन्त्र में सीसे द्वारा शत्रु को बींधने का वर्णन है। सीसे की गोली बनाकर ही सीसे द्वारा शत्रु को बींधा जा सकता है। इस प्रकार इस मन्त्र में स्पष्ट गोली नामक अस्त्र बनाने का निर्देश है। गोली के निर्देश से गोली चलाने के लिए आवश्यक 'नालीक' या बन्दूक के निर्माण की सूचना भी स्वयं ही मिल जाती है।

ऋष्टि

मरुतों के साथ ऋष्टि नामक शस्त्र का बड़ा वर्णन आता है। उदाहरण के लिए कुछ मन्त्र देखिये—

1. भ्राजदृष्टय:। ऋग्० 1.64.11.
2. अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टय:। ऋग्० 1.64.4.
3. वि ये भ्राजन्ते ऋष्टिमि:। ऋग्० 1.85.4.
4. ऋष्टिमद्भि:। ऋग्० 1.88.1.
5. चित्रो वो याम: प्रयतास्वृष्टिषु। ऋग्० 1.166.4.
6. हिरण्यनिर्णिग् ऋष्टि:। ऋग्० 1.167.3.
7. अंसेषु व: ऋष्टय:। ऋग्० 5.54.11.
8. ऋष्टयो मरुतो अंसयोरधि। ऋग्० 5.57.6.

9. मरुत ऋष्टिमन्त । ऋग्० 5.60.3.
10. दविद्युतत्यृष्टयः। ऋग्० 8.20.11.
11. इन्द्रस्य शतमृष्टीरयस्मयीः । अथ० 4.37.8.
12. इन्द्रस्य शतमृष्टीर्हिरण्ययीः । अथ० 4.37.9.

इन मन्त्रखण्डों का शब्दार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इनमें यही दिखाया गया है कि योद्धाओं के पास ऋष्टियाँ हैं। पहले दस मन्त्रों में मरुतों (सैनिकों) के साथ ऋष्टियों का सम्बन्ध वताया गया है। अन्तिम दो मन्त्रों में इन्द्र के साथ सैंकड़ों लोहे की वनी (अयस्मयीः) और सुवर्ण सज्जित (हिरण्मयीः) ऋष्टियों का सम्बन्ध दिखाया गया है। दूसरे, सातवें और आठवें मन्त्रों में यह भी वर्णन है कि ये ऋष्टियाँ कन्धों पर (अंसेषु) रखी जाती हैं।

अव, ऋष्टि किस शास्त्र को कहेंगे ? सामान्य संस्कृत में ऋष्टि का अर्थ तलवार अथवा दुधारी तलवार होता है। सायण ने इसका अर्थ छुरी किया है। परन्तु वेद में हमारी सम्मति में ऋष्टि का अर्थ तलवार नहीं है। इसके अर्थ का निर्णय करने के लिए नीचे दिये जा रहे कुछ मन्त्रों के अर्थ पर दृष्टि डालनी आवश्यक है—

1. ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः । ऋग्० 1.37.2.
2. पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित् सबाधः । ऋग्० 1.64.8.
3. ऋष्टिविद्युतः । ऋग्० 1.168.5; 5.52.13.
4. नर ऋष्वा ऋष्टीरसृक्षत अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो
   जज्झतीरिव भानुरर्त त्मना दिवः । ऋग्० 5.52.6.
5. ऐषामंसेषु रंभिणीव रारभे । ऋग्० 1.168.3.
6. दिवश्चित् सानु रेजत स्वने वः यत्
   क्रीळथ मरुत ऋष्टिमन्त । ऋग्० 5.60.3.

इनका क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) जो मरुत् पृषती रूप ऋष्टियों से युक्त हैं। (2) जो मरुत् पृषती रूप ऋष्टियों से युद्ध में मिलकर शत्रुओं को रोकते हैं।

पृषती का अर्थ हम पीछे विद्युत् सिद्ध कर आये हैं। ऋष्टियों को पृषती रूप कहने का भाव यह है कि ऋष्टियाँ विद्युत् के प्रयोग से चलती हैं। किसी को पृषती के विद्युत् होने में सन्देह हो तो अगले मन्त्रों में स्पष्ट ही ऋष्टियों में विद्युत् का प्रयोग बताया गया है।

(3) ये मरुत् ऐसे हैं जिनकी ऋष्टियों में विद्युत् का प्रयोग होता है। (ऋष्टिविद्युतः)[1]। (4) ये नर मरुत् ऋष्टियों को चलाते हैं (असृक्षत)[2] तो इनमें से

[1] ऋष्टिषु विद्युत् येषां ते ऋष्टिविद्युतः ।
[2] प्रक्षिपन्तीति सायणः ।

बिजलियाँ (विद्युतः) शब्द करती हुई (जज्झतीः)[1] निकलती हैं (अनु) और चमकती हुई (दिवः)[2] उन ऋष्टियों में से स्वयं ही (त्मना) प्रकाश (भानुः)[3] निकलता है (अर्तं)[4]।

इन मन्त्रों से ऋष्टियों में विद्युत् का प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट है। अब अगले दो मन्त्रों का अर्थ सुनिये—

(5) इन मरुतों के कन्धों पर (अंसेषु) ऋष्टियाँ रंभाती हुई गौ की तरह (रंभिणीव) शब्द करती हैं (रारभे)। (6) हे मरुतो तुम्हारे शब्द से द्यौ की चोटी तक काँप जाती है जबकि तुम अपनी ऋष्टियों से खेलते हो।

इन सब मन्त्रों को ध्यान में रखते हुए हमें ऋष्टियों के सम्बन्ध में निम्न बातें प्राप्त होती हैं—

1. ऋष्टियाँ कन्धों पर रखी जाती हैं।
2. जब ये चलती हैं तो वड़ा भारी शब्द करती हैं।
3. इनमें विद्युत् का प्रयोग होता है।
4. चलने के समय इनकी विद्युत् शब्द करती है और उसमें से प्रकाश निकलता है।

ऐसी अवस्था में ऋष्टि का अर्थ तलवार नहीं माना जा सकता है। तलवार में ये वर्णन नहीं घट सकते। स्पष्ट ही यह कोई बन्दूक के ढंग का, परन्तु बिजली से चलने वाला, शस्त्र है।

विद्युत् से चलने वाले शस्त्रास्त्र

अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने ऋष्टि के सम्बन्ध में देखा है कि वह विद्युत् से चलती है। केवल ऋष्टि ही नहीं, विद्युत् से चलने वाले और भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र बनाकर शत्रुओं का संहार करना चाहिए ऐसा निर्देश भी वेद में मिलता है। उदाहरण के लिए देखिये—

1. विध्यता विद्युता रक्षः। ऋग्० 1.86.9.
2. विद्युतो गभस्त्योः। ऋग्० 5.54.11.
3. विद्युद्धस्ता। ऋग्० 8.7.25.
4. विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः।
   अब्दया चिन्मुहुरा ह्लादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः॥
   ऋग्० 5.54.3.

[1] शब्दकारिण्य आप इवेति सायणः। जज्झतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्य इति निरुक्तम्। निरु० 6.16.

[2] द्योतमानस्येति सायणः।

[3] दीप्तिरिति सायणः।

[4] निरगादिति सायणः।

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे मरुतो तुम विद्युत् द्वारा शत्रुओं को (रक्षः) बींध डालो। (2) हे मरुतो तुम्हारे हाथों में विद्युत् है। (3) ये मरुत् ऐसे हैं जिनके हाथों में विद्युत् है। (4) इन मरुतों का विद्युत् में तेज है (विद्युन्महसः) इनके फेंके जाने वाले शस्त्रास्त्र बड़े चमकीले हैं (अश्म-दिद्यवः), ये वायु के समान शीघ्रगामी हैं, पर्वतों को भी ये अपने मार्ग से डिगा देते हैं। ये बार-बार (मुहुः) जल देने वाली विद्युत् से युक्त हैं (अब्दया) विद्युत् का वरण करने वाले हैं (ह्रादुनीवृतः)[1] कड़कने वाली विद्युत् इनका बल है (स्तनयद्-अमाः) ये कार्यारम्भ करने की शक्ति से (रभसा) युक्त हैं और बड़े ओजस्वी हैं।

विद्युत् से जल का निर्माण

इस मन्त्र में विद्युत् को सैनिकों का तेज और बल बताया गया है। कहा गया है कि सैनिक बिजली का बार-बार वरण करते हैं अर्थात् उससे बार-बार काम लेते हैं। बिजली के 'अब्दा' विशेषण से यह भी सूचित कर दिया गया है कि इसके प्रयोग से जल का निर्माण किया जा सकता है। वेद में अन्यत्र मित्र (हाइड्रोजन, Hydrogen) और वरुण (आक्सीजन, Oxygen) नामक वायुओं के योग से इन्द्र (विद्युत्) की सहायता द्वारा पानी बनाने का वर्णन भी आता है।[2]

इन चारों मन्त्रों के अर्थ पर समुदित दृष्टि डालिये। इनमें कहा गया है कि सैनिकों के हाथों में बिजली रहती है, बिजली उनका तेज और बल है, वे बिजली का बार-बार प्रयोग करते हैं और वे बिजली के द्वारा शत्रुओं को मारते हैं। सैनिकों का यह वर्णन स्पष्ट सूचना देता है कि शत्रुओं का संहार करने के लिए बिजली के प्रयोग से चलने वाले भाँति-भाँति के शस्त्रास्त्रों का निर्माण करके सैनिकों को उनसे सुसज्जित करना चाहिए।

वज्र

वेद में वज्र नामक अस्त्र का भी बहुत अधिक वर्णन आता है। पचासों स्थान पर वज्र शब्द का प्रयोग हुआ है। सैनिक और सेनापतियों को इससे सुसज्जित बताया गया है। इन्द्र के साथ तो इसका बहुत अधिक सम्बन्ध मिलता है। इन्द्र का नाम ही वज्री और वज्रभृत् पड़ गया है। सैनिकों और सेनापतियों का वज्र से सम्बन्ध बताने वाले कुछ मन्त्र उदाहरण के रूप में देखिये—

1. हिरण्ययेभिः पविभिः। ऋग्० 1.64.11.

[1] ह्रादुन्याः अशनेरिति सायणः।

[2] उदाहरण के लिए देखिए। ऋग् 1.2.7; इस मन्त्र का उपर्युक्त अर्थ ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त, पाश्चात्य विज्ञान और संस्कृत तथा वेदों के प्रकाण्ड ज्ञाता, अद्भुत् प्रतिभाशाली विद्वान् श्री पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी एम० ए० ने किया था।

2. सं वज्रं पर्वशो दधुः । ऋग्० 8.7.22.
3. वज्रहस्तैः । ऋग्० 8.7.32.
4. प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् । अथ० 3.1.4.
5. सृकं संशाय पविमिन्द्र । अथ० 7.84.3.
6. वज्रबाहुं । यजु० 17.38; ऋग्० 10.103.6; अथ० 19.13.6.
7. वज्रबाहो । ऋग्० 2.33.3.

इन मन्त्रों में वज्र के लिए पवि और वज्र ये दो नाम प्रयुक्त हुए हैं। वज्र के कुलिशा आदि और भी अनेक नाम वेद में आये हैं। हम यहाँ विस्तारभय से उन नामों से युक्त मन्त्रों को उद्धृत नहीं कर रहे। पवि और वज्र नाम युक्त मन्त्र भी हमने केवल नमूने के रूप में एक-एक दो-दो ही उद्धृत किये हैं। इन उद्धरणों में से प्रथम तीन में मरुतों (सैनिकों) के साथ वज्र का सम्बन्ध बताया गया है। अगले तीन में इन्द्र के और अन्तिम में रुद्र के साथ उसका सम्बन्ध बताया गया है। रुद्र तो सेनापति है ही, इन स्थलों में इन्द्र भी सेनापति के रूप में आया है।

वज्र के जो वर्णन आते हैं उनसे प्रतीत होता है कि यह कोई बहुत ही भीषण अस्त्र है। वज्र के कुछ थोड़े से वर्णन सुनिये—

1. वृषा वज्र । ऋग्० 2.16.6.
2. तस्य वज्रः क्रन्दति स्मत् स्वर्षा दिवो न त्वेषो रवथः शिमीवान् । ऋग्० 1.100.13.
3. अरोरवीद् वज्रः । ऋग्० 2.11.10.
4. वज्रस्य यत्ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार । ऋग्० 6.27.4.
5. अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात् । ऋग्० 2.11.9.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) यह वज्र बड़ा बलशाली है। (2) उस इन्द्र का वज्र निरन्तर क्रन्दन करता है, वह भली-भाँति चलाया जा सकने वाला (स्वर्षा) सूर्य की (दिवः) दीप्ति सा तेजस्वी है, भारी आवाज करने वाला है (रवथः) और शत्रुओं के मारने के बड़े-बड़े कर्म करने वाला (शिमीवान्) है। (3) वह वज्र भारी आवाज करता है। (4) हे इन्द्र चलाये हुए तुम्हारे वज्र के बलशाली शब्द से बड़ी-से-बड़ी वस्तुएँ (परमः) भी विदीर्ण हो जाती हैं। (5) इसके गरजते हुए बलशाली वज्र से द्यौ और पृथिवी काँप जाते हैं।

इन वर्णनों से मालूम होता है कि वज्र चलने के समय भयंकर शब्द करता है।

वज्र की संहारक शक्ति

वज्र की संहार शक्ति भी देखिये—

1. वज्र सहस्रभृष्टिः । ऋग्० 1.80.12.

2. सहस्रशोका अभवद्धरिभर: । ऋग्० 10.96.4.
3. वज्रं सहस्रभृष्टिम् । ऋग्० 1.85.9.
4. प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्युन् पुर आयसीर्नितारीत् । ऋग्० 2.20.8.
5. वज्रं ते सहस्रभृष्टिम् । ऋग्० 6.17.10.
6. सहस्रऋष्टि: वज्र: । अथ० 19.66.1.
7. वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्या अनु । ऋग्० 1.80.8.
8. भिनत् पुरो नवतिमिन्द्र वज्रेण । ऋग्० 1.130.7.

इनमें से प्रथम, तृतीय, पंचम और षष्ठ मन्त्र में वज्र को 'सहस्रभृष्टि' कहा है। सहस्रभृष्टि का अर्थ होता है 'हजारों को भून डालने वाला'। द्वितीय मन्त्र में कहा है कि 'हरि' अर्थात् शत्रुओं का संहार करने वाले वज्र को धारण करने वाला (हरिभर:) इन्द्र हजारों को सन्तप्त करने वाला (सहस्रशोका:) हो गया है। इससे भी वज्र की संहारशक्ति पर प्रकाश पड़ता है। तृतीय मन्त्र में कहा है कि जब इस इन्द्र के हाथ में प्रजाओं ने वज्र धारण कराया तो इसने राष्ट्र का उपक्षय करने वाले दस्युओं को मारकर उनकी लोहे की नगरियों को नष्ट कर दिया। अन्तिम दो मन्त्रों का अर्थ है—हे इन्द्र जिनमें नौकाओं द्वारा जाया जा सकता है (नाव्या) ऐसी शत्रुओं की निन्यानवे अर्थात् असंख्य नगरियों में (नवतिं) भी तेरे वज्र स्थित हो जाते हैं (अस्थिरन्) अर्थात् वहाँ पहुँचकर उन्हें नष्ट कर देते हैं। (8) हे इन्द्र तू अपने वज्र से शत्रुओं के निन्यानवे अर्थात् असंख्य (नवतिं) नगरों को (पुर:) फोड़ देता है। इन मन्त्रों से भी वज्र की संहार शक्ति का बोध होता है।

इस प्रकार वज्र ऐसा अस्त्र है जो एक ही प्रहार में हजारों पुरुषों को भून डालता है और बड़ी-बड़ी और लोहे की दीवारों वाली नगरियों को भी तोड़ गिराता है।

वज्र की घटक धातु

निम्न मन्त्रों से इस पर प्रकाश पड़ता है कि वज्र किन धातुओं से बनाया जाता है—

1. वज्र आयस: । ऋग्० 1.80.12.
2. वज्रो हरितो य आयस: । ऋग्० 10.96.3.
3. हरिशिप्रो य आयस: । ऋग्० 10.96.12.
4. मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसम् । ऋग्० 10.48.3.
5. वज्र: हिरण्यय: । ऋग्० 1.57.2.
6. वज्रं सुकृतं हिरण्ययम् । ऋग्० 1.85.9.

इनमें से प्रथम चार मन्त्रों में वज्र को 'आयस' अर्थात् लोहे का बना हुआ कहा गया

है। अन्तिम दो मन्त्रों में उसे हिरण्य अर्थात् सुवर्ण का बना हुआ कहा गया है। 'हिरण्यय' का अर्थ चमकीला और तेजस्वी भी हो सकता है। तब 'हिरण्यय' विशेषण का अर्थ होगा चमकीली, तेजस्वी धातुओं से बना हुआ।

वज्र का स्वरूप

निम्न मन्त्रों से वज्र के रूप पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है—

1. वज्रः दर्शतः। ऋग्० 8.70.2.
2. सुशिप्रः। ऋग्० 10.96.3.
3. हरिशिप्रः। ऋग्० 10.96.4.
4. वज्रं शताश्रिम्। ऋग्० 6.17.10.
5. वज्रेण शतापर्वणा। ऋग्० 1.80.6; यजु० 33.96.
6. वज्रं चतुर्भृष्टिम्। अथ० 10.5.50.

इन मन्त्रखण्डों का अर्थ इस प्रकार है—

(1) वज्र बड़ा दर्शनीय अर्थात् देखने में सुन्दर लगने वाला है। (2) वज्र की शिप्र अर्थात् नासिका बड़ी सुन्दर है। (3) वज्र की शिप्र अर्थात् नासिका शत्रुओं का संहार करने वाली है। (4) वज्र की सौ अश्रियाँ हैं। (5) वज्र के सौ पर्व अर्थात् अवयव हैं। (6) वज्र चारों ओर भूनने वाला है (चतुर्भृष्टिम्)।

ऊपर वज्र को 'सहस्रभृष्टि'—हजारों को भून डालने वाला कहा जा चुका है। इसलिए उसे चतुर्भृष्टि—चार आदमियों को भून डालने वाला—कहने में वज्र का कोई गौरव नहीं होगा। इसलिए हमने चतुर्भृष्टि का अर्थ चारों ओर भूनने वाला ऐसा कर दिया है। यह अर्थ ऊपर वर्णित वज्र की भयंकरता के साथ अधिक संगत है।

अभी ऊपर उद्धृत इन मन्त्रों में वज्र को दर्शनीय कहने के अतिरिक्त उसे चारों ओर मार करने वाला, सुन्दर नासिका वाला, सौ अवयवों वाला और सौ अश्रियों वाला कहा गया है। अश्रि का अर्थ शस्त्र की पैनी धार होता है। परन्तु यहाँ अश्रि धार के लिए प्रयुक्त न होकर मारने के साधन वज्र के विभिन्न अवयवों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इसलिए उसे सौ पर्वों अर्थात् अवयवों वाला भी कहा गया है। अब वज्र के ये सौ अश्रि या संहार करने के साधन सौ अवयव क्या हैं ? इस पर वज्र के 'सुशिप्र' और 'हरिशिप्र' विशेषणों से प्रकाश पड़ता है। इन विशेषणों का अर्थ सुन्दर और संहार करने वाली (हरि) शिप्र अर्थात् नासिका वाला है। यह 'संहार करने वाली नासिका' वज्र की उन नालिकाओं का सूचक प्रतीत होता है जिनमें से अस्त्र निकल-निकलकर शत्रुओं का संहार करते हैं। इन्हीं संहारक सौ नालिकाओं को वज्र की सौ अश्रियाँ और सौ पर्व कहा गया प्रतीत होता है। वज्र स्वयं शत्रु पर जाकर नहीं गिरता प्रत्युत उसमें से अस्त्र निकलकर शत्रु पर गिरते हैं यह सूचना निम्न मन्त्रों से मिलती है—

1. हरिरा गभस्त्योः सुशिप्रो हरिमन्युसायक। ऋग्० 10.96.3.

2. पविषु क्षुरा अधि । ऋग्० 1.166.10.

अर्थात्—(1) इन्द्र के हाथों में शत्रु संहारक वज्र (हरिः) है, जिस वज्र की नासिकाएँ बड़ी सुन्दर हैं, जिसमें से शत्रु संहारक और क्रोध में भरे हुए सायक निकलते हैं (हरिमन्युसायकः) । (2) इन मरुतों के वज्रों में (पविषु) छुरियाँ हैं ।

सायक का अर्थ वाण होता है । परन्तु वज्र में से निकलने वाले सायक केवल वाण ही नहीं हो सकते । वज्र में से निकले जो सायक लोहे की प्राचीरों वाले नगरों को भी गिराते हैं वे साधारण बाण नहीं हो सकते । वे तो भयानक टक्कर मारने वाले विस्फोटक अस्त्र, जैसे कि आजकल की तोपों के गोले होते हैं, होंगे । सायक का शब्दार्थ शत्रु का अन्त करने वाला होता है । इसलिए साधारण छुरों और बाणों से लेकर वज्र में से निकलने वाले भयानक से भयानक अस्त्र—गोले आदि—सायक कहे जायेंगे ।

इन सारे वर्णनों को ध्यान में रखकर वज्र का स्वरूप समझने का प्रयत्न करने पर वह एक ऐसा शस्त्र प्रतीत होता है जिसमें सौ नालिकाएँ लगी होती हैं, ये नालिकाएँ सब दिशाओं में प्रहार करती हैं, इन नालिकाओं में से भाँति-भाँति के अस्त्र निकलकर शत्रुओं का संहार करते हैं, इन नालिकाओं में से ऐसे भी अस्त्र निकलते हैं जो लोहे की प्राचीरों वाले नगरों को भी तोड़ डालते हैं । आजकल की चारों ओर मार करने वाली तोपें और मशीनगनें तथा टैंक वज्र का कुछ-कुछ प्रतिरूप कहे जा सकते हैं ।

सौ मुखों वाले ही वज्र वनाये जायें यह आवश्यक नहीं है । आवश्यकतानुसार इससे छोटे और बड़े—अनेक प्रकार के—भी वज्र बन सकते हैं । ऐसी सूचना निम्न मन्त्र से मिलती है—

अयं यो वज्रः पुरुधा विवृत्तः ।

ऋग्० 10.27.21.

अर्थात्—'यह वज्र जो कि अनेक प्रकार का (पुरुधा) बनाया जाता है ।'

मन्त्र में वज्र को अनेक प्रकार का कहना हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि करता है ।

वज्र का पानी से सम्बन्ध

वज्र के कितने ही ऐसे वर्णन आते हैं जिनके वास्तविक अभिप्राय के सम्बन्ध में अनुसंधान करने की आवश्यकता है । उदाहरण के लिए निम्न वर्णन देखिये—

समुद्रे अन्तः शयत उद्ना वज्रो अभीवृतः ।

ऋग्० 8.100.9.

अर्थात्—'वज्र पानी से (उद्ना) घिरा हुआ समुद्र के बीच में (समुद्रे अन्तः) पड़ा रहता है ।'

हम पीछे विद्युत् के बल से शस्त्रास्त्र चलाने का वर्णन तो देख ही चुके हैं। इसलिए वज्र भी विद्युत् के बल से चलने वाले बन सकते हैं। और विद्युत् निकलने का एक बड़ा साधन पानी होता है। इसलिए हो सकता है कि वज्र को अलंकार से कह दिया गया हो कि वह समुद्र में पड़ा रहता है। या इस मन्त्र का यह भी भाव हो सकता है कि वज्र पानी की भाप के बल से चलता है। और इसीलिए वह भाप के लिए आवश्यक पानी से घिरा रहने के कारण मानो पानी के समुद्र से घिरा रहता है। अथवा यह भी भाव हो सकता है कि प्रयोग के समय गरम होकर खराब हो जाने से बचाने के लिए वज्र को ठण्डा रखने हेतु उसमें प्रचुर पानी की व्यवस्था रहती है। और इसीलिए अलंकार से उसे पानी के समुद्र से घिरा रहने वाला कह दिया गया हो।

वस्तुतः वेद में जितने भी शस्त्रास्त्रों का वर्णन आता है उन सबके सम्पूर्ण विशेषणों को वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करके उनके स्वरूप तथा उनके निर्माण की विधि को जानने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है। हमने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह केवल अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर लिखा है। कोई वैदिक साहित्य और विज्ञान में पूर्ण गति रखने वाले विद्वान् इस ओर लगें तो विशेष लाभ होने की संभावना है। केवल संस्कृत ज्ञान और केवल विज्ञान का ज्ञान इसमें विशेष सहायक न होगा। दोनों ज्ञानों का एक व्यक्ति में एकत्र होना आवश्यक है।

वेद में वज्र भूमि को खोदने और शिलाओं को काटने वाले विशाल उपकरणों के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पर्जन्यास्त्र

वेद में अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे पर्जन्यास्त्र अथवा वारुणास्त्र निर्माण करने की सूचना मिलती है। महाभारतादि ग्रन्थों में पाठकों ने पर्जन्यास्त्र और वारुणास्त्रों का वर्णन बहुत पढ़ा होगा। इन अस्त्रों के प्रयोग से बादल आ जाते थे और वर्षा होने लगती थी। वारुणास्त्र के बल से धरती में से पानी निकाला जा सकता था। इसी प्रकार के वर्णन वेद में भी मिलते हैं। कुछ थोड़े से उदाहरण देखिये—

1. धन्वञ्चिदा रुद्रियासः मिहं कृण्वन्त्यवाताम्। ऋग्० 1.38.7.
2. वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति।
   यदेषां वृष्टिरसर्जि॥ ऋग्० 1.38.8.
3. दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
   यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ऋग्० 1.38.9.
4. वातान् विद्युतस्तविषीभिरक्रत दुहन्त्यूधर्दिव्यानि
   धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः। ऋग्० 1.64.5.

5. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः ।
वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः ।। ऋग्० 5.53.6.
6. वपन्ति मरुतो मिहम् । ऋग्० 8.7.4.
7. ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः ।
उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ।। ऋग्० 8.7.16.
8. त्वष्टा यद् वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् ।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन् वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम् ।। ऋग्० 1.85.9.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ये सैनिक (रुद्रियासः=मरुतः) मरुस्थलों में भी (धन्वन् चित्) वर्षा कर देते हैं, पर इस वर्षा में सामान्य वायु की सहायता नहीं ली जाती (अवाताम्)।

इस मन्त्र में मरुतों द्वारा 'धन्वञ्चित्'—मरुस्थल में भी—वृष्टि किये जाने का वर्णन है। यह वर्णन सिद्ध करता है कि मरुत् सामान्य वायु या उसकी अधिष्ठात्री देवता नहीं हैं। यदि सामान्य वायुएँ मरुस्थलों में भी वर्षा करने लग जायें तो उन्हें फिर मरुस्थल ही नहीं कहेंगे। उन्हें मरुस्थल इसीलिए कहा जाता है कि सामान्य वृष्टि-भरी वायुएँ वहाँ वर्षा नहीं करतीं। मरुतों के विषय में कहा गया है कि जो काम सामान्य वृष्टि-वायु नहीं कर सकती वह काम ये मरुत् कर देते हैं। मरुस्थल में सामान्य वायु वर्षा नहीं कर सकती। ये मरुत् वहाँ भी वर्षा कर देते हैं। इसलिए मरुत् सामान्य वायु और उसके कल्पित देवता मरुतों से भिन्न हैं। जैसा हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं वे सैनिक हैं। अपने पर्जन्यास्त्रों द्वारा वे मरुस्थलों में भी वर्षा कर देते हैं।

(2) जब इन मरुतों द्वारा वृष्टि उत्पन्न की जाती है तो शब्द करती हुई विद्युत् इनका इस प्रकार सेवन करती हैं जैसे कि शब्द करती हुई गौ बछड़े का सेवन करती है।

(3) ये सैनिक (मरुत्) दिन में भी जल से भरे (उदवाहेन) बादल से (पर्जन्येन) अन्धेरा कर देते हैं, जबकि ये उस द्वारा पृथिवी को भिगोते हैं। (4) ये सैनिक (मरुत्) हवाओं को चला देते हैं, अपने बलों से विद्युतों को पैदा कर देते हैं, आकाश के (दिव्यानि) ऊधसों को (ऊधः) दुह डालते हैं अर्थात् आकाश में से पानी उत्पन्न कर देते हैं, और उस पानी से (पयसा) ये सर्वत्रगामी (परिज्रयः) सैनिक भूमि को तृप्त करते हैं। (5) राष्ट्र के लिए कर आदि देने वाले (दाशुषे) जिन लोगों के लिए ये नर सैनिक (मरुत्) आकाश के कोश को गिरा देते हैं अर्थात् पानी बरसा देते हैं, उनके लिए आकाश और भूमि के बीच में (रोदसी) बादल को (पर्जन्यं) बना देते हैं (सृजन्ति), और फिर मरुस्थलों में भी (अनु धन्वना) वृष्टियाँ (वृष्टयः) चल पड़ती हैं। (6) ये सैनिक (मरुतः) वर्षा को (मिह) बरसा देते हैं। (7) जो सैनिक (मरुत्) जल-बिन्दुओं की तरह (द्रप्सा इव)[1] आकाश और पृथिवी को (रोदसी) वर्षाओं से (वृष्टिभिः) युक्त कर देते हैं (अनु धमन्ति)।

[1] उदबिन्दव इति सायणः।

पाठक इस मन्त्र की उपमा को ध्यान से देखें। जैसे जल-विन्दु आकाश में और भूमि पर वर्षा कर देते हैं वैसे ही ये मरुत् भी आकाश और भूमि पर वर्षा कर देते हैं। यहाँ जल-विन्दु सामान्य वर्षा जल के सूचक हैं। जैसे सामान्य वर्षा-जल आकाश और भूमि पर वर्षाएँ ला देता है वैसे ही ये भी वर्षाएँ ला देते हैं। इसलिए इनकी वर्षाएँ सामान्य वर्षा-जल से भिन्न हैं। अतः मरुत् सामान्य वर्षा-जल से वृष्टि करने वाली वायु और उसकी अधिष्ठात्री देवता से भिन्न हैं। जैसाकि पीछे सिद्ध कर चुके हैं ये मरुत् सैनिक हैं। और वे अपने पर्जन्यास्त्रों से वर्षा करते हैं। अन्तिम मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(8) उत्तम कर्म वाले (स्वपाः) त्वष्टा अर्थात् शिल्पी ने जो सुन्दर रचना वाला (सुकृतं), तेजस्वी और हजारों को भून डालने वाला (सहस्रभृष्टि) वज्र बनाया है उसको इन्द्र मनुष्यों के हित में (नरि), कर्म (अपांसि) कर्म करने के लिए धारण करता है, उससे रुकावटों का (वृत्रं) संहार करता है (अहन्) और जलों के (अपां) प्रवाह को (अर्णवं)[1] नीचे गिरा देता है (निरौब्जत्)[2]।

इस मन्त्र से यह सूचित होता है कि पर्जन्यास्त्र वज्र के द्वारा चलाये जाते हैं। पर्जन्यास्त्र चलाने वाले वज्र सम्भवतः सामान्य वज्रों से कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं।

उद्धृत मन्त्रों में योद्धाओं द्वारा पर्जन्य अर्थात् बादलों के निर्माण और उन द्वारा वृष्टि कराने का स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्र की सेनाओं को ऐसे पर्जन्यास्त्रों से भी सुसज्जित रखना चाहिए। ये पर्जन्यास्त्र युद्ध के समय शत्रु की अग्नि वर्षा को शान्त करने तथा वर्षा द्वारा शत्रु-सैन्य को तंग करने के काम में आवेंगे और आवश्यकता होने पर अपनी सेनाओं को पानी देने के काम में आवेंगे। महाभारतादि में जो पर्जन्यास्त्र और वारुणास्त्रों का वर्णन आता है उनके निर्माण का आधार संभवतः वेद के उपर्युक्त और ऐसे ही अन्य स्थल ही हों।

तामसास्त्र

युद्ध में इस प्रकार के योग भी काम में लाने चाहिए जिनके छोड़ने से युद्ध-क्षेत्र में अन्धकार छा जाये और शत्रु को कुछ न सूझ सके और इस प्रकार वह शस्त्रास्त्र चलाने में असफल हो जाये। इन अन्धकार जनक योगों को हम 'तामसास्त्र' कह सकते हैं। युद्ध में तामसास्त्र का भी प्रयोग करना चाहिए इसकी सूचना देने वाले वेद में अनेक मन्त्र हैं। कुछ मन्त्र नीचे देखिये—

1. असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
   तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ अथ० 3.2.6.

[1] अर्णसा उदकेन युक्तं जलप्रवाहम्।

[2] निःशेषेणाधोमुखं अपातयदिति सायणः।

2. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन् ।। यजु० 17.47.
3. त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान्परि वारय । अथ० 11.10.19.
4. तमसा ये च तूपरा । अथ० 11.9.22.
5. यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः । यजु० 18.70; ऋग्० 10.152.4.
6. अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति । अथ० 1.21.2.
7. अस्तमसाभि दधामि सर्वान् । अथ० 8.8.8.
8. मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् । अथ० 8.8.21.
9. धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । अथ० 11.10.7.
10. अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया । अथ० 11.9.19.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे सैनिको (मरुतः) शत्रुओं की वह सेना जो अपने ओज से हमारी स्पर्धा करती हुई हम पर आ रही है उसको अन्धकार से (तमसा) वींध दो (विध्यत) जिससे उन्हें कोई कर्म न सूझे (अपव्रतेन), जिससे इनमें से एक-दूसरे को न जान सकें। (2) हे सैनिको (मरुतः) शत्रुओं की वह सेना जो अपने ओज से हमारी स्पर्धा करती हुई हमारी ओर आ रही है उसको ऐसे अन्धकार से (तमसा) ढक दो (गूहत) जिससे उन्हें कोई कर्म न सूझे (अपव्रतेन) जिससे ये एक-दूसरे को न जान सकें। (3) हे त्रिसन्धि तू अन्धकार से (तमसा) शत्रुओं को ढक दे (परिवारय) । (4) जो शत्रु अन्धकार से (तमसा) मार दिये गये हैं (तूपराः) । (5) जो हमको दास बनाना चाहता है (अभिदासति) उस शत्रु को हे इन्द्र गहरे अन्धकार में (तमः) पहुँचा दे। (6) जो हमें दास बनाना चाहता है उस शत्रु को हे इन्द्र सबसे गहरे अन्धकार में (तमः) पहुँचा दे। (7) मैं अपने उन सब शत्रुओं को अन्धकार से (तमसा) बाँधता हूँ (अभिदधामि) । (8) ये शत्रु न किसी जानने वाले को पा सकें, न कोई ठिकाना पा सकें, आपस में ही एक-दूसरे को मारते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जायें।

इस मन्त्र में यद्यपि 'तमः'—अन्धकार—का द्योतक कोई शब्द नहीं आया है तो भी इस मन्त्र में तामसास्त्र के प्रयोग से उत्पन्न अवस्था का ही वर्णन प्रतीत होता है। ऊपर के मन्त्रों में कहा गया है कि इस 'तमः' के प्रयोग से कोई कर्म नहीं सूझता, आपस में एक-दूसरे की पहचान नहीं रहती। वही अवस्था इस मन्त्र में वर्णित है। अतः यह तामसास्त्र का ही द्योतक समझना चाहिए।

यह अन्धकार किन्हीं बहुत गाढ़ा धुआँ उत्पन्न करने वाले पदार्थों को शस्त्र बल से उत्पन्न अग्नि में जलाने से बनता है ऐसी सूचना अगले दो मन्त्रों से मिलती है। उनका अर्थ यों है—

(9) शत्रु सेना धुएँ से युक्त आँखों वाली (धूमाक्षी) होकर गिर जावे और

मन्द कानों वाली (कृधुकर्णी) होकर रोवे, चिल्लावे। (10) अग्नि जिनमें जिह्वा के समान है (अग्निजिह्वा:) ऐसी धुएँ की शिखाएँ शत्रु सेना को विजय करती हुई उसके साथ चलें।

मन्त्र में कृधुकर्णी शब्द की यह ध्वनि है कि यह धूम इतना गाढ़ा होता है कि उसके कानों में घुस जाने पर कानों से मन्द सुनाई देने लगता है अथवा धूम्र ऐसा बनाना चाहिए कि वह श्रवणशक्ति को भी कम कर दे।

महाभारत में जयद्रथ-वध के दिन श्रीकृष्ण ने ऐसे ही तामसास्त्र या तमोजनक योगों के बल से दिन रहते ही अन्धेरा करके शत्रु-सेना में दिन छिप जाने की भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। ऐसे तामसास्त्रों के निर्माण का आधार वेद के उपर्युक्त स्थल ही हैं।

संमोहनास्त्र

वेद के युद्ध विषयक प्रकरणों के अध्ययन से ऐसे योगों के निर्माण का भी निर्देश मिलता है जिनके प्रयोग से शत्रु-सेना को मूर्छित या बेहोश कर दिया जाता है। इन मूर्छाजनक योगों को हम संमोहनास्त्र का नाम दे सकते हैं। जिन मन्त्रों से संमोहनास्त्र का प्रयोग करने की सूचना मिलती है उनमें से उदाहरण के रूप में कुछ नीचे दिये जाते हैं—

1. स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदा:।
अथ० 3.1.1.
2. स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदा:।
अथ० 3.2.1.
3. इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्। अथ० 3.1.5.
4. इन्द्र: सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्तु ओजसा।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता॥ अथ० 3.1.6.
5. अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकस: प्र वो धमतु सर्वत:॥ अथ० 3.2.2.
6. इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङ् आकूत्या चर। अथ० 3.2.3.
7. व्याकूतय एषामिताथो चितानि मुंहयत।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥ अथ० 3.2.4.
8. मुह्यन्त्वद्यामू: सेना अमित्राणां परस्तराम्। अथ० 6.67.1.
9. मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहय:। अथ० 6.67.2.
10. मुह्यन्त्वेषां बाहूश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव। अथ० 11.9.13.
11. मुह्यन्त्वद्यामू: सेना अमित्राणां न्यर्बुदे। अथ० 11.10.20.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) वह अग्नि शत्रुओं की सेना को मूर्छित कर देवे (मोहयतु) और फिर

उनके शस्त्र छीनकर उन्हें निर्हस्त कर देवे। (2) वह अग्नि शत्रुओं के चित्तों को मूर्छित कर देवे और फिर उनके शस्त्र छीनकर उन्हें निर्हस्त कर देवे। (3) हे इन्द्र तू शत्रुओं की सेना को मूर्छित कर दे (मोहय)। (4) इन्द्र शत्रुओं की सेना को मूर्छित कर देवे, मरुत् अपने ओज से फिर उसे मार डालें, अग्नि मूर्छा द्वारा उसकी आँखों को ले लेवे, पराजित होकर वह वापिस चली जावे। (5) हे शत्रुओ तुम्हारे हृदय में जितने प्रकार के चित्त अर्थात् संकल्प-विकल्प हैं अग्नि उनको मूर्छित कर देवे, वह अपने स्थान से सब ओर से तुम्हें मार भगावे। (6) हे इन्द्र इन शत्रुओं के चित्तों को मूर्छित करके इनके संकल्पों के साथ इधर विवरण कर। (7) इन शत्रुओं के संकल्पों चले जाओ, इनके चित्तो मूर्छित हो जाओ, फिर हे इन्द्र इनके हृदय में जो कुछ है उसे बाहर निकाल मार। (8) आज शत्रुओं की सेनाएँ खूब मूर्छित हो जाएँ। (9) हे शत्रुओ मूर्छित होकर बिना सिर के साँपों की तरह हो जाओ। (10) इन शत्रुओं की भुजाएँ मूर्छित हो जाएँ, इनके हृदय में जो चित्त और संकल्प हैं वे भी मूर्छित हो जाएँ, फिर हे शत्रु संहारक सेनापति (अर्बुदे) तुम्हारा शत्रु-विलेखन कर्म हो जाने पर (रदिते) इनका कुछ भी न बचा रहे। (11) शत्रुओं का पूर्ण रीति से संहार करने वाले हे सेनापति (न्यर्बुदे) आज शत्रुओं की सेनाएँ मूर्छित हो जावें।

इन मन्त्रों में शत्रुओं को मूर्छित करके उनके शस्त्र छीन लेने और उन्हें मार डालने का स्पष्ट उल्लेख है। यह मूर्छा कारक संमोहनास्त्र साँस द्वारा शरीर के अंगों में व्याप्त हो जाने वाली किसी वस्तु के योग से बनता है ऐसी सूचना निम्न मन्त्रों से मिलती है—

1. अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥
अथ० 3.2.5.

2. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनाचित्तास्तमसा सचन्ताम्॥
ऋग्० 10.103.12; यजु० 17.44.

अर्थात्—(1) हे अप्वे तू इन शत्रुओं के चित्तों को मूर्छित करती हुई (प्रति मोहयन्ती) इनके अंगों को (अंगानि) पकड़ ले, उनमें फैल जा (गृहाण) दूर-दूर तक अर्थात् बहुत गहरी उन अंगों में चली जा (परेहि), उन अंगों में चारों ओर अच्छी तरह चली जा (अभि प्रेहि), अपनी पकड़ से (ग्राह्या) शत्रुओं के हृदयों को शोकों से जला दे, शत्रुओं को अन्धकार से बींध दे। (2) इन शत्रुओं के चित्तों को मूर्छित करती हुई (प्रति-लोभयन्ती)[1] हे अप्वे तू इनके अंगों को पकड़ ले (गृहाण), उन अंगों में बहुत गहरी चली जा (परेहि), उनमें चारों ओर अच्छी तरह चली जा (अभि प्रेहि), शत्रुओं के हृदयों को शोकों से जला दे, वे शत्रु गहरे (अन्धेन) अन्धकार से युक्त हो जावें।

इन मन्त्रों में शत्रुओं को मूर्छित करने वाली वस्तुओं को 'अप्वा' कहा है।

1 विमोहयन्तीति सायणः। लुभविमोहने।

कहा है कि वह शत्रुओं के शरीरों के अंग-प्रत्यंग में फैलकर उन्हें मूर्छित करती है। 'अप्वा' का अपना शब्दार्थ भी व्याप्त होने वाली, फैलने वाली, ही होता है। यह अप्वा आजकल की विषैली वायुओं (पौइजन गैस, poison gasses) जैसी कोई वस्तु प्रतीत होती है। आजकल की विषैली वायुएँ भी साँस द्वारा शरीर में फैलकर हानि करती हैं। अप्वा भी इसी विधि से अपना असर करती है।

मन्त्रों में शत्रुओं के हृदयों को शोक से जलाने और उन्हें अन्धकार से वींधने का जो वर्णन है वह यहाँ शत्रुओं की मानसिक अवस्था का द्योतक है। अप्वा द्वारा मूर्छित होकर शत्रु सेनाएँ जलेंगी और उनकी आशाएँ नष्ट हो जाने से उनके आगे अन्धकार भी छा जायेगा।

अथवा इसकी यह भी ध्वनि हो सकती है कि अप्वा कोई ऐसी वस्तु है कि जिसका धुआँ बाहर तो अन्धकार उत्पन्न कर देता है और साँस द्वारा भीतर जाकर पुरुष को मूर्छित कर देता है। शोक का अर्थ 'सन्ताप' करने पर यह ध्वनि भी होगी कि अप्वा शरीर में जाकर कई अवस्थाओं में मूर्छित करने के स्थान में पुरुष को जला डालती है। यह 'अप्वा' क्या वस्तु है इसके लिए अन्वेषण अपेक्षित है। परन्तु इसके वर्णनों से इतना स्पष्ट है कि यह आजकल की विषैली वायुओं (पौइजन गैस poison gasses) की जाति की ही कोई वस्तु है।

महाभारतादि ग्रन्थों में जो सम्मोहनास्त्रों का वर्णन आता है उसका आधार वेद के ये ही मन्त्र प्रतीत होते हैं।

कालिदास और सम्मोहनास्त्र

महाकवि कालिदास के समय तक भारतीयों को सम्मोहनास्त्र का ज्ञान था। उसने रघुवंश में एक योद्धा के मुँह से कहलवाया है—

सम्मोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम्।
गांधर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥

रघुवंश 5.57.

अर्थात्—'हे मित्र मेरे पास सम्मोहन नामक अस्त्र है, उससे शत्रुओं पर विजय भी प्राप्त कर लिया जाता है और उन्हें मारने की भी आवश्यकता नहीं रहती।'

वायव्यास्त्र

महाभारतादि ग्रन्थों में वायव्यास्त्रों का वर्णन आता है। इन वायव्यास्त्रों के प्रयोग से आँधी चला दी जाती थी। वायव्यास्त्र-जनित यह आँधी शत्रु के पर्जन्यास्त्रों के प्रभाव को मिटा देती थी। पर्जन्यास्त्रों से उत्पन्न किए मेघों को उड़ा देती थी। यों भी शत्रु-सेना के सामान को अस्त-व्यस्त करने के लिए वायव्यास्त्रों का प्रयोग करके आँधियाँ चलाई जाती थीं। वेद के निम्न मन्त्र से वायव्यास्त्रों के प्रयोग की

सूचना मिलती है—

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो विनाशय।

अथ० 3.1.5; 3.2.3.

अर्थात्—'हे इन्द्र तू अग्नि और वायु के (वातस्य) वेग से (ध्राज्या) उन शत्रुओं को चारों दिशाओं में भगा दे।'

यहाँ वायु के वेग के साथ अग्नि को भी जोड़ा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अस्त्रों में विद्युत् आदि अग्नियों का प्रयोग करके तथा अस्त्रों द्वारा वायुमण्डल में अग्नि-संचार करके यह वायु का वेग उत्पन्न किया जाता है। इन्द्र अर्थात् सम्राट् अथवा सेनापति द्वारा उत्पन्न किया जाने वाला वायु का वेग उनके हाथ में वायु-जनक वायव्यास्त्र की स्पष्ट सूचना देता है।

पूतिकास्त्र

शत्रुओं को तितर-बितर करने के लिए दुर्गन्धजनक योगों का प्रयोग करके उनमें भयंकर दुर्गन्ध फैला दी जाये, जिससे वे अपने स्थानों में खड़े न रह सकें, ऐसा वर्णन भी वेद में आता है। हम इन दुर्गन्धजनक योगों को पूतिकास्त्र का नाम दे सकते हैं। क्योंकि मन्त्र में दुर्गन्ध के लिए पूति का शब्द प्रयोग हुआ है। निम्न मन्त्र देखिये—

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्॥

अथ० 8.8.2.

इसका अर्थ है—

'सुलगती हुई (उपध्मानी) दुर्गन्धजनक रज्जु (पूति-रज्जुः) उस शत्रु सेना को दुर्गन्ध युक्त (पूतिं) कर देवे, धूएँ और अग्नि को देखकर शत्रु अपने हृदयों में भय धारण कर लेवें।'

दुर्गन्धजनक पदार्थों के योग से जल सकने योग्य रस्सी-सी बनाकर धनुष आदि पर चढ़ाकर शत्रु सेना में फेंक दी जाती है। वहाँ जाकर वह स्वयं ही जलने लगती है और उसमें से भयंकर दुर्गन्धजनक धुआँ निकलने लगता है। उसकी दुर्गन्ध शत्रुओं को असह्य होती है। वे उस दुर्गन्धजनक धूम को देखकर घबरा और भयभीत होकर भागने लगते हैं।

रज्जु शब्द 'सृज्' धातु से बनता है। इसलिए यदि हम इसका अर्थ सर्जन अर्थात् उत्पन्न करने वाला ऐसा कर लें तो मन्त्र के 'पूतिरज्जु' पद का अर्थ दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाली रस्सी न करके दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाला बाण ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। बाण वाचक 'इषु' शब्द वेद में स्त्रीलिंग में भी आता है। इसलिए 'पूतिरज्जुः' का स्त्रीलिंग भी चरितार्थ हो जायेगा। फिर यह बाण गोले आदि का उपलक्षण होगा। इस अर्थ में भाव यह होगा कि दुर्गन्धजनक पदार्थों से

भरे ऐसे वाण और गोले बनाये जाएँ जिन्हें धनुषों और विमान आदि के द्वारा शत्रु सेना में फेंक दिया जाये। वहाँ गिरकर ये स्वयं ही जल उठें। और इनमें से असह्य दुर्गन्धकारक धुआँ निकलने लगे। जिसे न सहकर शत्रु भाग जाएँ।

वेद में इन थोड़े से शस्त्रास्त्रों का दिग्दर्शन के रूप में निर्देश कर दिया गया है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के भयंकर शस्त्रास्त्रों का निर्माण कर लेना चाहिए। वेद का इन शस्त्रास्त्रों के उल्लेख करने में केवल इतना ही अभिप्राय है कि युद्ध के समय भीषण से भीषण शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके भी शत्रु को पराजित करना चाहिए। युद्ध छिड़ जाने पर शत्रु को पराजय ही धर्म है। हाँ, युद्ध सोच-विचार कर, अपना पक्ष सत्य पर आश्रित होने की अवस्था में, केवल आत्मरक्षा के लिए ही किया जाना चाहिए। दूसरे राष्ट्रों को बलात्कार से अधीन करने और युद्ध-लालसा को शान्त करने के लिए युद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

कवच

शस्त्रों के प्रहार से अपने शरीर की रक्षा करने के लिए शरीर के अंगों पर कवच भी धारण करने चाहिए, वेद इस वात का भी उल्लेख करता है। स्थान-स्थान पर योद्धाओं के कवच पहिनने का वर्णन हुआ है।

उदाहरण के लिए देखिये—

1. सुखादयः। ऋग्० 1.87.6.
2. अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयः। ऋग्० 1.166.9.
3. ये खादिषु श्राया। ऋग्० 5.53.4.
4. व पत्सु खादयः। ऋग्० 5.54.11.
5. अंसेष्वा मरुतः खादयो वः। ऋग्० 7.56.3.
6. शुभ्रखादयः। ऋग्० 8.20.4.
7. हस्तेषु खादिश्च। ऋग्० 1.168.3.
8. वर्मण्वन्तो न योधाः। ऋग्० 10.78.3.
9. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि। अथ० 7.118.1; ऋग्० 6.75.10; यजु० 17.49.
10. यश्च कवची यश्चाकवचः। अथ० 11.10.22.
11. ये वर्मिणो येऽवर्माणः। अथ० 11.10.23.
12. स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु। ऋग्० 6.75.1.
13. ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। ऋग्० 6.75.19.
14. हस्तघ्नः पुमांसं परि पातु। यजु० 29.51; ऋग्० 6.75.14.
15. नमो विल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च। यजु० 16.35.

इन मन्त्रखण्डों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) जो मरुत् उत्तम खादियों वाले हैं। (2) हे मरुतो तुम्हारे कन्धों (अंसेषु) और पैरों में खादियाँ हैं। (3) जो मरुत् खादियों का आश्रय लेते हैं। (4) हे मरुतो तुम्हारे पैरों में (पत्सु) खादियाँ हैं। (5) हे मरुतो तुम्हारे कन्धों पर खादियाँ हैं। (6) ये मरुत् शुभ्र अर्थात् चमकीली खादियों वाले हैं। (7) हे मरुतो तुम्हारे हाथों में खादि है।

ऋग्० 1.168.3 की व्याख्या में खादि का अर्थ श्रीसायण ने 'हस्त त्राणक' अर्थात् 'हाथ की रक्षा के लिए पहना जाने वाला उपकरण किया है।' इससे कन्धों और पैरों में पहनी जाने वाली खादियों को भी उन-उन अंगों का त्राणक ही समझना चाहिए। अगले मन्त्रों का अर्थ सुनिए—

(8) ये मरुत् योद्धाओं की भाँति वर्म अर्थात् कवच वाले हैं। (9) हे इन्द्र हम तुम्हारे मर्मस्थलों को वर्म से आच्छादित करते हैं। (10) जो कवच वाला और विना कवच का शत्रु सैनिक है। (11) जो वर्मों वाले और बिना वर्म के शत्रु सैनिक हैं। (12) हे योद्धा वर्म की वह महिमा तुम्हारी पालना करे। (13) मैंने ब्रह्म अर्थात् वेद-ज्ञान को अपना आन्तरिक वर्म बना लिया है। इस मन्त्र से बाह्य वर्म की भी ध्वनि निकलती है। अन्दर का वर्म तो ब्रह्म है। बाहर का वर्म कुछ और है। यह इस मन्त्र का स्पष्ट इंगित है।

(14) हस्तघ्न योद्धा पुरुष की रक्षा करे। (15) बिल्म पहनने वाले, कवच पहनने वाले और वर्म पहनने वाले रुद्र (सेनापति) को नमस्कार हो।

इन मन्त्रों में प्रयुक्त वर्म और कवच शब्द कवच मात्र के सामान्य नाम हैं। हस्तघ्न हाथों के कवच या दस्ताने का नाम है। बिल्म सिर पर पहने जाने वाले कवच को कहते हैं। इस प्रकार इन उद्धृत मन्त्रों में खादि, वर्म और कवच ये तीन शब्द कवच मात्र के लिए, हस्तघ्न हाथों के कवच के लिए और बिल्म सिर के कवच के लिए प्रयुक्त हुए हैं। खादि, वर्म और कवच, कवचों के ये तीन नाम उनके तीन प्रकारों के सूचक भी हो सकते हैं। वे तीन प्रकार क्या हैं यह अन्वेषणीय है।

युद्धवाद्य

अथर्ववेद के पाँचवें काण्ड के 20 और 21 सूक्तों में युद्ध के लिए चलती हुई सेनाओं के दुन्दुभि का वर्णन है। इसी भाँति ऋग्० 6.46.29–31 और यजु० 29.55–57 मन्त्रों में भी इसी प्रकार के दुन्दुभि का वर्णन है। अथ० 6.126 सूक्त में भी इसी युद्धकालीन दुन्दुभि का वर्णन हुआ है। ऋग्० 6.47.29–31 और यजु० 29.55–57 मन्त्र तो एक ही हैं। अथ० 6.126 सूक्त के मन्त्र भी ऋग्वेद और यजुर्वेद के इन मन्त्रों से मिलते हैं। केवल हलका शाब्दिक परिवर्तन है। अथ० 5.20,21 सूक्तों में बारह-बारह मन्त्र हैं। इन दोनों सूक्तों में सांग्रामिक दुन्दुभि का बड़ा मार्मिक वर्णन है।

युद्धवाद्यों का प्रयोजन

इन सभी स्थलों में युद्धकाल में दुन्दुभि बजाने के मुख्य दो प्रयोजन बताये गये हैं। एक शत्रुओं को भयभीत करके युद्ध-भूमि से भगाना और दूसरा अपने पक्ष के सैनिकों में जोश और उत्साह भरना। उदाहरण के लिए निम्न वाक्यों को देखिये—

1. दमयन् सपत्नान् सिंह इव तंस्तनीहि। अथ० 5.20.1.
2. वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्नाः। अथ० 5.20.2.
3. ते शुष्मो अभिमातिषाहः। अथ० 5.20.2.
4. शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु। अथ० 5.20.3.
5. दुन्दुभेर्वाचं....आशृण्वती....नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता। अथ० 5.20.5.
6. विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे....भयममित्रेषु नि दध्मसि। अथ० 5.21.1.
7. उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः। अथ० 5.21.2.
8. प्रत्रासममित्रेभ्यो वद। अथ० 5.21.3.
9. दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय। अथ० 5.21.4.
10. दुन्दुभे दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्। यजु० 29.55; ऋग्० 6.47.29; अथ० 6.126.1.

अर्थात्—(1) हे दुन्दुभि शत्रुओं का दमन करते हुए तुम सिंह की तरह गर्जना करो। (2) तुम नाद की वर्षा करने वाले हो तुम्हारे शत्रु निर्बल हो जाते हैं। (3) तेरा बल अर्थात् तेरा बलशाली नाद शत्रुओं का पराभव कर देता है। (4) तू शत्रुओं के हृदयों को सन्ताप से बींध दे वे अपने ग्रामों को छोड़कर भाग जावें। (5) हमारे दुन्दुभि की आवाज को सुनकर शत्रुओं की नारियाँ डरी हुई अपने पुत्रों की बाहें पकड़कर भाग जावें। (6) हे दुन्दुभि तुम बोलकर शत्रुओं के हृदयों और मनों को उदास कर दो, हम तुम्हें बजाकर दुश्मनों को भयभीत करते हैं। (7) दुन्दुभि की आवाज को सुनकर शत्रुओं के हृदय, मन और आँखें कांप जावें और वे डरकर भाग जावें। (8) हे दुन्दुभि तुम शत्रुओं के लिए त्रासजनक नाद बजाओ। (9) हे दुन्दुभि तुम शत्रुओं के लिए त्रासजनक नाद करो और इस प्रकार उनके चित्तों को मूढ़ बना दो। (10) हे दुन्दुभि तुम शत्रुओं को दूर से दूर भगा दो।

इन मन्त्रों में युद्धकाल में दुन्दुभि बजाने का स्पष्ट प्रयोजन यह बताया गया है कि इससे शत्रुओं के मनों में भय उत्पन्न हो जाता है और वे युद्ध-भूमि से भाग खड़े होते हैं। इसी प्रकार दुन्दुभि-वादन का दूसरा प्रयोजन निम्न मन्त्रों से सूचित

होता है—

1. अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः मित्रतूर्याय। अथ० 5.20.7.
2. उद्धर्षय सत्वनामायुधानि। अथ० 5.20.8.
3. वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्याय। अथ० 5.20.11.
4. आ क्रन्दयं बलमोजो न आधाः। ऋग्० 6.47.30; यजु० 29.56; अथ० 6.126.2.

अर्थात्—(1) हे दुन्दुभि तू मित्रपक्ष में गति भरने के लिए जोर से बोल और गरज। (2) हे दुन्दुभि तू हमारे वीरों के शस्त्रों को हर्षित कर अर्थात् तेरे नाद से हमारे वीर हर्ष में भरकर शस्त्र चलाने लगें। (3) जैसे कोई वक्ता अपने श्रोताओं में अपने विचार भर देता है वैसे ही हे दुन्दुभि तू भी इस संग्राम को जीतने के लिए अपनी उत्साहवर्द्धक आवाज हममें भर दे। (4) हे दुन्दुभि तू गरज और हममें बल और ओज भर दे।

इन मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है कि युद्ध समय में दुन्दुभि-नाद से अपने सैनिकों में आवेश और उत्साह भर जाता है जिससे उनका बल और ओज द्विगुणित हो जाता है। और इसका परिणाम यह होता है कि वे हर्षजनक वीर रस में भरकर जीवन की चिन्ता न करके शस्त्रास्त्र चलाने लगते हैं।

दुन्दुभि-घोष सैनिकों के तेज को प्रज्वलित कर देता है। यह निम्न मन्त्र से भी सूचित होता है—

राजन्ये दुन्दुभावायतायाम्....सा न ऐतु वर्चसा संविदाना।
अथ० 6.38.4.

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य आदि विभिन्न पदार्थों में पाई जाने वाली 'त्विषि' अर्थात् गरमी को अपने भीतर धारण करने की प्रार्थना भक्त भगवान् से कर रहा है। उसी प्रसंग में उद्धृत मन्त्रखण्ड आया है। मन्त्रखण्ड का अर्थ इस प्रकार है—

'क्षत्रिय में और उसकी विशाल (आयतायाम्) दुन्दुभि में जो त्विषि होती है वह तेजोयुक्त त्विषि हमें प्राप्त हो।'

दुन्दुभि का यह प्रासंगिक वर्णन भी स्पष्ट प्रकट करता है कि दुन्दुभि-नाद से सैनिकों में उत्साह की गरमी बढ़ जाती है—उनका तेज प्रखर हो जाता है।

दुन्दुभि नक्कारे को कहते हैं। यह युद्धवाद्यों का उपलक्षण है। संगीत में हमारी भावनाओं को भड़काने की कितनी शक्ति है यह संगीत के मर्मज्ञ भली-भाँति जानते हैं। युद्धवाद्यों द्वारा बजाया हुआ वीर-संगीत योद्धाओं में अद्वितीय उत्साह और जोश भर देता है। उत्कृष्ट वाद्यों द्वारा बजाये हुए युद्ध-संगीतों को सुनकर कायर लोगों का रक्त भी उबलने लगता है। जहाँ ठाठ के साथ बजाये हुए युद्धवाद्यों की वीररस-प्रसविणी ध्वनि अपने पक्ष के योद्धाओं को उत्साह और उमंगों से भर देती है वहाँ यह ध्वनि शत्रु पक्ष के सैनिकों में त्रास फैला देती है। संगीत के इस मनोवैज्ञानिक

प्रभाव को लक्ष्य में रखकर ही वेद के इन प्रकरणों में, युद्ध-यात्रा का सजीव चित्रण करते हुए, यह उपदेश दिया गया है कि संग्राम-काल में सेनाओं के साथ दुन्दुभि और उससे उपलक्षित अन्य युद्धवाद्य बजते हुए चलने चाहिए।

अथ० 5.20.10 में दुन्दुभि के लिये—

अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेधि नृत्य वेदः।

इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस वाक्य का शब्दार्थ यह है—'कभी विदीर्ण न होने वाले (अद्रिः), युद्ध में भूमि विजय की कामना करने वाले (गव्यन्), हे दुन्दुभि तू युद्ध से उपलब्ध होने वाले धन को लक्ष्य करके नाच (अधिनृत्य)।' दुन्दुभि के इस वर्णन से यह सूचना मिलती है कि जहाँ युद्ध-वाद्यों के साथ योद्धाओं का उत्साह बढ़ाने के लिए युद्ध-संगीत गाये जाया करें वहाँ समय-समय पर युद्धवाद्यों के साथ सैनिकों को युद्ध-नृत्य भी दिखाये जाया करें। ऐसा करने से योद्धाओं का वीररस और भी प्रज्वलित होगा।

युद्धवाद्यों का निर्माण

दुन्दुभि की महिमा का वर्णन करते हुए उसकी रचना के सम्बन्ध में निम्न वाक्यों का प्रयोग हुआ है—

1. धीभिः कृतः प्र वदाति वाचम्। अथ० 5.20.8.
2. संशितो ब्रह्मणासि। अथ० 5.20.10.
3. संमृत उस्रियाभिः। अथ० 5.20.1.
4. संमृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः। अथ० 5.21.3.

अर्थात्—(1) यह दुन्दुभि ज्ञानयुक्त कुशलकर्मों से (धीभिः) निर्मित हुआ है इसीलिए यह वाणी बोलता है। (2) हे दुन्दुभि तुम ज्ञान से (ब्रह्मणा) तीक्ष्ण किये गये हो (संशितः) अर्थात् ज्ञान से तुम्हारा निर्माण हुआ है। (3) हे दुन्दुभि तुम विभिन्न वाणियों से (उस्रियाभिः)[1] भरे गये हो। (4) हे दुन्दुभि तुम विभिन्न वाणियों से भरे गये हो, तुम सब भाँति के कण्ठों के योग्य हो (विश्वगोत्र्यः)।[2]

दुन्दुभि को 'विभिन्न वाणियों से भरा हुआ' कहने का अभिप्राय यह है कि उसमें भाँति-भाँति के राग बजाये जा सकते हैं। उसे 'भाँति-भाँति के कण्ठों के योग्य' कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें से किसी भी पुरुष के कण्ठ की संवादिनी आवाज निकाली जा सकती है।

दुन्दुभि इन प्रकरणों में युद्धवाद्यों का उपलक्षण है। दुन्दुभि को यह कहना कि

[1] उस्रिया इति गोनामसु पठितम्। निघं० 2.11.
गौश्चेति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० 1.11.

[2] गां वाचं त्रायते इति गोत्रः कण्ठः। विश्वे च ते गोत्राः विश्वगोत्राः नानापुरुषाणां कण्ठाः तेभ्यो हितः विश्वगोत्र्यः।

वह ज्ञान से बनाया गया है और उसमें से भाँति-भाँति के राग निकाले जा सकते हैं यह ध्वनित करता है कि सेनाओं के साथ जो युद्धवाद्य रहें वे कुशल रचनाकारों द्वारा बने हों, जो देखने में भी सुन्दर हों और जिनमें सब प्रकार की ध्वनियाँ बनाई जा सकें। वाद्यों की इस प्रकार की रचना से यह भी ध्वनित होता है कि युद्ध-संगीतों की भी भाँति-भाँति की रचना कराई जाये जिससे सैनिकों में समय-समय पर विभिन्न प्रकार की वीर-भावनाएँ भरी जा सकें।

इन दुन्दुभि सूक्तों में जिस वीर-भावना का कवित्वमय चित्रण किया गया है उसका रस लेने के लिए पाठकों को मूल वेद का पाठ करना चाहिए, युद्धवाद्यों के सम्बन्ध में वहाँ पाये जाने वाले ये कुछ निर्देश हमने यहाँ दे दिये हैं।

18

रणनीति

पाठक यह भली-भाँति देख चुके हैं कि मरुत्सूक्तों में आदर्श सैनिकों का वर्णन हुआ है और रुद्र सूक्तों में आदर्श सेनापतियों का। मरुत् और रुद्र सूक्तों के अतिरिक्त वेदों में अनेक सूक्त और प्रकरण ऐसे आते हैं जिनमें वास्तविक युद्ध-अवस्था का वर्णन हुआ है। इन प्रसंगों में युद्ध क्षेत्र की मारकाट और पकड़-धकड़ का जीवित जागृत चित्र खींचा गया है। यदि हम वेद के इन मरुत् और रुद्र तथा युद्ध-सम्बन्धी सूक्तों को ध्यान से पढ़ें तो हमें अनेक ऐसे विशेषण और वर्णन उपलब्ध होते हैं जिनसे रणनीति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। इन विशेषणों और वर्णनों में हमें यह बता दिया गया है कि युद्ध छिड़ जाने पर उसके संचालन में हमारी क्या नीति होनी चाहिए—हमें युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अपने पक्ष का किस प्रकार संघटन करना चाहिए और शत्रु से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। अगले पृष्ठों में हम इन सूक्तों के आधार पर कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करते हैं जिनका युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है।

अन्न का प्रबन्ध

सैनिकों के निम्न विशेषणों और उनके अधोलिखित वर्णनों से यह सूचना मिलती है कि सेनाओं के साथ अन्न का यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिए—

1. स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्। — ऋग्० 1.168.9.
2. दधति प्रयांसि। — ऋग्० 1.169.3.
3. नमस इद् वृधासः। — ऋग्० 1.171.2.
4. ऋजीषिणः। — ऋग्० 2.34.1.
5. मधोर्मदाय। — ऋग्० 2.34.5.
6. धेनुभिः रप्सदूधिभिः। — ऋग्० 2.34.5.
7. पिबन्तो मदिरं मधु। — ऋग्० 5.61.11.
8. वयोवृधः। — ऋग्० 5.54.2.
9. वत्सासो न पयोधाः। — ऋग्० 7.56.16.

10. यातनान्धांसि पीतये इमा वो हव्या ररे। ऋग्० 7.59.5.
11. मरुतः सोम्ये मधौ स्वाहेह मादयाध्वै। ऋग्० 7.59.6.
12. वुक्षन्त पिव्युषीमिषम्। ऋग्० 8.7.3.
13. चित्रवाजान्। ऋग्० 8.7.33.
14. पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन। अथ० 11.10.19.
15. जम्भे रसस्य वावृधे। ऋग्० 1.37.5.
16. अन्नपतये रुद्राय। अथ० 19.55.5.
17. रथवाहनं हविरस्य नाम। ऋग्० 6.75.8.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) वे मरुत् (सैनिक) अभीष्ट अन्न को (स्वधां) देखते हैं। (2) वे अपने साथ भाँति-भाँति के अन्न (प्रयांसि) रखते हैं। (3) वे अन्न को (नमसः) बढ़ाकर रखने वाले हैं। (4) वे ऋजीषी हैं अर्थात् वे इतना सोम पीते हैं कि उनके पास सोमरस निकालने के बाद ऋजीष (सोम की फोक) के ढेर लग जाते हैं। (5) वे मधु (शहद) से प्राप्त होने वाले हर्ष के लिए आते हैं। (6) वे बड़े ऊधस वाली गौओं के साथ रहते हैं। (7) वे हर्षित करने वाला मधु पीते हैं। (8) वे अन्न को (वयः) बढ़ा कर रखने वाले हैं अथवा अन्न खाकर बढ़ते हैं। (9) वे बछड़ों की तरह दूध पीने वाले हैं। (10) हे मरुतो तुम इन अन्नों का पान करने के लिए आओ, तुम्हें ये अन्न दिये जा रहे हैं। (11) हे मरुतो तुम सोमयुक्त मधु में हर्ष प्राप्त करो। (12) हे मरुतो तुम पुष्टि देने वाला अन्न खाते हो। (13) ये मरुत् भाँति-भाँति के अन्नों वाले हैं। (14) जिनकी दही-घी (पृषदाज्य) आदि खाद्य सामग्री नष्ट कर दी गई है ऐसे इन शत्रुओं में से कोई भी न बचे। (15) मरुतों का बल दुग्ध आदि रसीले पदार्थ खाने पर बढ़ता है। (16) रुद्र (सेनापति) अन्न का स्वामी है। (17) युद्ध के समय राजा की अन्न सामग्री रथों पर लदकर चलती है।

सैनिकों के ये वर्णन तथा अथ० 11.10.19 का उद्धृत युद्धभूमि में शत्रुओं की खाद्य सामग्री को नष्ट करने का वर्णन स्पष्ट सूचित करते हैं कि सेनाओं के साथ अन्न, घी, दूध, दही, सोम-रस, शहद आदि भोज्य सामग्री का यथेष्ट प्रबन्ध रहना चाहिए। अन्तिम मन्त्र में तो युद्ध-काल में खाद्य सामग्री की गाड़ियों की गाड़ियाँ लाद कर ले चलने का स्पष्ट ही उल्लेख है। भूखे सैनिक युद्ध नहीं जीत सकते।

जल का प्रबन्ध

अन्न की भाँति ही सेनाओं के साथ पीने के लिए जल का भी यथेष्ट प्रबन्ध रहना चाहिए। यह निम्न वर्णनों से सूचित होता है—

1. उर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा। ऋग्० 1.85.10.
2. ऊर्ध्वं नुनुद्रे उत्सधिं पिबध्यै। ऋग्० 1.88.4.
3. पिन्वन्त्युत्सं व्युन्दन्ति पृथिवीम्। ऋग्० 5.54.8.

4. उदवाहासः । ऋग्० 5.58.3.
5. समु त्ये महतीरपः दधुः । ऋग्० 8.7.22.
6. यद् यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः । ऋग्० 8.7.28.
7. धारावराः । ऋग्० 2.34.1.
8. वनिनम् । ऋग्० 1.64.12.
9. उदभिर्जिगत्नभवः । ऋग्० 10.78.5.
10. प्र स्यन्द्रासो धुनीनाम् । ऋग्० 5.87.3.

अर्थात्—(1) वे मरुत् (सैनिक) अपने पराक्रम से कुए को खोदकर ऊपर ले आते हैं। (2) वे पानी पीने के लिए कुए को ऊपर खोद लाते हैं। (3) वे कुओं को पानी से भर देते हैं और पृथिवी को पानी से सींच डालते हैं। (4) वे पानी को अपने साथ ले जाने वाले हैं। (5) वे अपने पास बड़ा जल रखते हैं। (6) जब वे चलते हैं तो शुभ्र पानी बहने लगते हैं। (7) वे जलधाराओं से धरती को ढक देने वाले हैं। (8) वे जल वाले हैं। (9) वे पानी के साथ चलने वाले हैं। (10) वे पानी के लिए नदियाँ बहा लेने वाले हैं।

सैनिकों के इन वर्णनों से यह स्पष्ट निर्देश निकलता है कि जहाँ सेनाएँ जाएँ वहाँ वे अपने साथ पानी ले जाएँ, अथवा कुए खोदकर वहाँ पानी का समुचित प्रबन्ध कर लिया जाये। पीछे हम पर्जन्यास्त्रों का वर्णन किया है। आवश्यकता होने पर उन अस्त्रों के द्वारा भी सेनाएँ पानी का प्रबन्ध कर सकेंगी। किसी प्रकार भी हो सेनाओं के साथ पानी का प्रबन्ध रहना आवश्यक है। प्यासे सैनिक युद्ध नहीं कर सकते।

वस्त्रों का प्रबन्ध

सेनाओं के लिए वस्त्रों का भी पर्याप्त प्रबन्ध रहना चाहिए। इसकी सूचना निम्न मन्त्र देते हैं—

1. हिरण्ययान् प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम् । ऋग्० 5.55.6.
2. उष्णीषिणे । यजु० 16.22.
3. कृत्तिं वसान आ चर । यजु० 16.51.

अर्थात्—(1) हे मरुतो (सैनिको) तुम जिनमें सोने का काम हो रहा है ऐसे अत्कों (कुर्ता, कोट, अंगरखा आदि) को पहनते हो। (2) रुद्र (सेनापति) पगड़ी धारण करने वाला है। (3) हे रुद्र (सेनापति) तुम चमड़े के वस्त्र (कृत्ति) धारण करके विचरण करो।

सैनिकों और सेनापति के इन वर्णनों से यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि सेनाओं के साथ पगड़ी, कुर्ते, कोट आदि वस्त्रों का तथा चमड़े के बने जूते आदि तथा अन्य वस्त्रों का यथेष्ट प्रबन्ध रहना चाहिए जिससे कोई भी सैनिक नग्नता के कष्ट से पीड़ित न हो।

शस्त्रास्त्रों का प्रबन्ध

पीछे शस्त्रास्त्रों के प्रकरण में हमने देखा है कि वेद के अनुसार युद्ध के समय नाना प्रकार के भयंकर से भयंकर शस्त्रों का प्रयोग करके भी युद्ध में विजय प्राप्त करनी चाहिए। युद्ध में शस्त्रों का वड़ा नाश होता है। नाश के कारण शस्त्रों की कमी पड़ जाने से स्वपक्ष की सेनाएँ युद्ध न जीत सकेंगी। इसलिए सेनाओं के साथ युद्ध के समय शस्त्रास्त्रों का भरपूर प्रबन्ध रहना चाहिए। ऐसी सूचना निम्न वाक्यों से मिलती है—

1. रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म। ऋग्० 6.75.8.
2. आयुधा रथेषुवः। ऋग्० 5.57.6.
3. शतधन्वने। यजु० 16.29.

अर्थात्—(1) युद्ध में जाने वाले राजा की अन्न सामग्री (हविः) रथों पर लदकर चलती है, रथों में ही उसके शस्त्रास्त्र और कवच चलते हैं। (2) हे मरुतो (सैनिको) तुम्हारे शस्त्रास्त्र रथों में लदकर चलते हैं। (3) यह रुद्र (सेनापति) सैंकड़ों धनुषों वाला है।

इन वर्णनों से स्पष्ट सूचित होता है कि युद्ध के समय सेनाओं के साथ शस्त्रास्त्र प्रभूत मात्रा में होने चाहिए। उनकी गाड़ियों की गाड़ियाँ भरकर साथ चलनी चाहिए। शस्त्रास्त्र के अभाव में सेनाएँ युद्ध नहीं जीत सकतीं।

अपने सैनिकों में मन्यु उद्दीप्त किया जाये

ऋग्वेद 10.83-84 और अथ० 4.31-32 सूक्तों में मन्यु का आह्वान है। प्रत्येक सूक्त में 7-7 मन्त्र हैं। ऋग्० 10.83 और अथ० 4.32 एवं ऋग्० 10.84 और अथ० 4.31 सूक्त हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ एक ही हैं। युद्ध में जूझ रहे सैनिक इन सूक्तों में अपने भीतर मन्यु को जागृत कर रहे हैं। उनमें मन्यु जागृत हो जाने पर उन्हें विजय प्राप्त हो जाती है। सूक्तों से कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

1. त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
   तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥
   अथ० 4.31.1; ऋग्० 10.84.1.
2. अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
   अथ० 4.31.2; ऋग्० 10.84.2.
3. विजेषकृद् अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
   अथ० 4.31.5; ऋग्० 10.84.5.
4. भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्।
   अथ० 4.31.7; ऋग्० 10.84.7.

5. यस्ते मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥
अथ० 4.32.1; ऋग्० 10.83.1.

6. अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा विजहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥
अथ० 4.32.3; ऋग्० 10.83.3.

7. त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥
अथ० 4.32.4; ऋग्० 10.83.4.

8. सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।
ऋग्० 10.84.3; अथ० 4.31.3.

अर्थात्—(1) सैनिकों में रहने वाले (मरुत्वन्) हे मन्यु हर्षयुक्त हो रहे और हर्ष से भरे हुए हमारे योद्धा लोग, तेरे साथ एक रथ में बैठकर शत्रुओं को तोड़ते-फोड़ते हुए, तीखे बाणों वाले और शस्त्रास्त्रों को तीक्ष्ण करते हुए अग्निरूप होकर चलें। (2) हे मन्यु तू अग्नि की तरह प्रदीप्त है, हे बली हम तुझे बुलाते हैं तू हमारा सेनापति हो और शत्रुओं का पराभव कर। (3) हे मन्यु तू विजय करने वाला है तू हमारा रक्षक बन। (4) हृदयों में भय धारण किये हुए हमारे शत्रु तेरे द्वारा पराजित होकर भाग कर छिप जाएँ (5) हे वज्ररूप हे शत्रुओं का अन्त करने वाले (सायक) मन्यु जो तेरी सेवा करता है (अविधत्) वह सारे शारीरिक वल (सहः) और आत्मिक वल (ओजः) को निरन्तर प्राप्त करता है, हम वल से युक्त, बलरूप, वल देने वाले तेरे साथ मिलकर दास और आर्य सब प्रकार के शत्रुओं का पराभव कर डालें। (6) बल से भी बलवान् हे मन्यु तू आ हमारे तप के साथ मिलकर तू शत्रुओं का संहार कर, तू हमारे शत्रुओं का, हमारे मार्ग में रुकावट डालने वालों (वृत्र) का और दस्युओं का संहार करने वाला है, शत्रुओं को हराकर तू हमें सब धन दे। (7) हे मन्यु तू पराभव करने वाले ओज से युक्त है, तू स्वयं हृदय में उत्पन्न होने वाला है, क्रोध रूप है और अभिमानी शत्रुओं को हराने वाला है, तू सब मनुष्यों में पाया जाने वाला है, तू हमारी सेनाओं में ओज धारण कर। (8) हे मन्यु तू हमारे इस राजा या राष्ट्र के लिए (अस्मै) अभिमानी शत्रु को पराभव कर दे, तू हमारे शत्रुओं को तोड़ता-फोड़ता मारता-मिटाता हुआ चल।

मन्यु शब्द का अर्थ

इन सूक्तों में मन्यु के इस आह्वान की व्यंजना यह है कि जो सेनाएँ शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहती हैं उनके सैनिकों में शत्रु के प्रति मन्यु भरा होना चाहिए। मन्यु साधारण अर्थों में क्रोध के लिए प्रयुक्त होता है। वस्तुतः मन्यु का अर्थ सामान्य क्रोध नहीं प्रत्युत सात्विक क्रोध होता है। यह शब्द ज्ञानार्थक 'मन' धातु से बनता

है। यों ही अन्धाधुन्ध उत्पन्न क्रोध को मन्यु नहीं कहते। प्रत्युत जो क्रोध शत्रु के अपराध के प्रकार, परिमाण और परिणाम को विचार कर सोच-समझकर किया जाता है उसे मन्यु कहते हैं। ऐसे क्रोध में अन्धा आवेश और उतावलापन नहीं होता। ऐसे क्रोध में मनुष्य अपने मन की शान्ति और समता को नहीं जाने देता। यह क्रोध दूध के उफान की तरह उत्पन्न नहीं होता और फिर उसी की तरह झट शांत भी नहीं होता। यह गम्भीर विचार के पश्चात् उत्पन्न होता है और फिर अपने उद्देश्य को प्राप्त किये बिना कभी मिटता नहीं। अंग्रेजी भाषा में जिस क्रोध को 'राइचियस इंडिग्नेशन' (Righteous Indignation) कहते हैं उसे वेद में 'मन्यु' शब्द द्वारा कहा गया है। जो सेनाएँ युद्ध में विजय पाना चाहती हैं उनके सैनिकों में इस क्रोध का होना नितान्त आवश्यक है। शत्रु का अपराध किस प्रकार का है, उसका परिमाण कितना है और उसका परिणाम हमारे राष्ट्र के लिए कैसा होने वाला है यह सब भली-भाँति सैनिकों को समझाकर उनके भीतर शत्रु के प्रति मन्यु जागृत कर दिया जाना चाहिए। यह मन्यु जागृत हो जाने पर अपने पक्ष के सैनिक मर मिटने के लिए उद्यत हो जावेंगे। जब तक वे शत्रु का पराभव न कर लेंगे तब तक चैन से न बैठेंगे और जो सैनिक मर मिटने के लिए उद्यत हैं, जो शत्रु का पराजय किये बिना दम लेने की बात नहीं सोच सकते, उनके लिए संसार में कुछ भी अजेय नहीं है। ऐसे सैनिकों के आगे विजय हाथ बाँधे खड़ी रहती है। यह मन्युमयी चित्रवृत्ति साधनों के स्वल्प होने और परिस्थितियों के विपरीत होने की अवस्था में भी विजय तक ले जाती है। इसलिए मन्यु सूक्तों में मन्यु को सेनापति, वज्र, आग और बल आदि नामों से पुकारा गया है। इसलिए विजयाभिलाषिणी सेनाओं के लिए आवश्यक है कि उनके प्रत्येक सैनिक के मन में शत्रु के प्रति प्रचण्ड मन्यु उद्दीप्त किया जाये।

युद्ध के समय अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए

वेद के युद्ध-प्रकरणों में अनेक ऐसे वाक्य आते हैं जिनमें लड़ रहे सैनिकों का उत्साह बढ़ाया जा रहा है। कुछ वाक्य उदाहरणार्थ नीचे देखिये—

1. इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा।
   इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः।
   नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ अथ० 8.8.24.

2. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
   ऋग्० 5.30.9.

3. उद्धर्षय मघवन्नायुधानि उत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
   ऋग्० 10.113.10.

4. प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
   उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या यथासथ ॥ ऋग्० 10.103.13.

5. असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः ।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥ ऋग्० 1.39.10.

6. तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ अथ० 11.9.26.

7. उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ अथ० 11.10.1.

8. प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥
अथ० 3.19.7.

अर्थात्—(1) हे सैनिको इधर जीतो, इधर विजय प्राप्त करो, मिलकर जीतो, जीतो शाबाश (स्वाहा), ये हमारे सैनिक ही जीतेंगे, वे शत्रु हारेंगे, इन अपने सैनिकों को शाबाश (स्वाहा) उन शत्रुओं को लानत (दुराहा), मैं इन्हें मारकर अभी इनका नीला और लाल खून युद्ध-भूमि में फैला देता हूँ। (2) इन दस्यु शत्रुओं ने तो स्त्रियों को हथियार बनाया है [भला इनके भी योद्धा कोई योद्धा हैं] इनकी दुर्बल सेनाएँ मेरा क्या कर लेंगी। (3) हे सम्राट् इन हमारे सैनिकों के शस्त्रों और मनों को हर्ष से ऊँचा कर दो। (4) हे योद्धाओ आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, सम्राट् (इन्द्र) तुम्हारा कल्याण करेगा, अपनी भुजाओं को उग्र बनाओ और शत्रु के लिए अधर्षणीय हो जाओ। (5) हे मरुतो (सैनिको) तुम में परिपूर्ण (असामि) ओज है और परिपूर्ण बल है, तुम शत्रु को कम्पाने वाले हो, तुम ऋषियों से द्वेष करने वाले, क्रोध से भरे शत्रु पर द्वेष और बाण बरसाओ। (6) हे मित्रो ! उठो, तैयार हो जाओ, तुम सारे शत्रुओं के स्वामी हो, तुम विजिगीषुजन (देवजनाः) हो, इस संग्राम को जीतकर अपने-अपने स्थान में जाकर निवास करो। (7) हे मित्रो ! उठो और अपने झण्डों के साथ तुम तैयार हो जाओ, तुम उदार चित्त वाले (उदाराः) हो, ये दूसरे शत्रु लोग (इतरजनाः) साँपों की तरह कुटिल हैं, छिपकर मारने वाले (रक्षांसि) हैं, इन अमित्रों के पीछे दौड़ो। (8) हे योद्धा लोगो बढ़े चलो, विजय प्राप्त करो, तुम्हारी भुजायें उग्र हैं, तुम्हारे बाण तीक्ष्ण हैं, तुम्हारे शस्त्रास्त्र पैने हैं, कमजोर धनुषों और दुर्बल भुजाओं वाले शत्रुओं को मार डालो।

युद्ध-क्षेत्र में इस प्रकार के उत्साहवर्धक वाक्यों द्वारा वेद ने यह शिक्षा दी है कि युद्ध के समय अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते रहना चाहिए। युद्ध-काल की घोर यन्त्रणाओं और दीर्घ कष्ट सहन से अनेक बार सैनिकों के उदास और निरुत्साहित हो जाने की आशंका रहती है। जहां सैनिक उत्साहहीन हुए वहाँ विजय हाथ से गई। इसलिए नाना प्रकार से अपने पक्ष के योद्धाओं का उत्साहवर्धन करते रहना आवश्यक है।

युद्ध में अपनी सेनाओं के ऊँचे झण्डे सैनिकों को दीखते रहें

वेद के युद्ध प्रकरणों में सेनाओं के साथ झण्डे चलने का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखिये—

1. एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अथ० 5.21.12.
2. पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। अथ० 3.19.6.
3. उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदारा केतुभिः सह। अथ० 11.10.1.
4. अरुणैः केतुभिः सह। अथ० 11.10.2.
5. समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु। ऋग्० 10.103.11; अथ० 19.13.11.
6. अमी ये युधमायन्ति केतून्कृत्वानीकशः। अथ० 6.103.3.
7. केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीतु। अथ० 6.126.3.

अर्थात्, (1) ये विजिगीषु सेनाएँ (देवसेनाः) एक चित्त होकर सूर्यांकित झण्डों के साथ चल रही हैं। (2) विजय कर रहे वीरों के हर्ष-भरे घोष झण्डों के साथ ऊपर उठें। (3) उठो और झण्डों के साथ तैयार हो जाओ। (4) लाल रंग के झण्डों के साथ चलो। (5) हमारे झण्डों के खड़े होने पर हमारे बाण शत्रुओं को जीतें। (6) जो ये शत्रु झण्डे खड़े करके अनीकों में बन्धकर युद्ध के लिए आ रहे हैं। (7) झण्डे से युक्त हमारा दुन्दुभि खूब नाद करे।

इन वर्णनों द्वारा वेद ने यह शिक्षा दी है कि राष्ट्रों के अपने झण्डे होने चाहिए और युद्ध समय में सेनाओं के साथ चलने चाहिए। राष्ट्र के झण्डे राष्ट्रीय भावनाओं और राष्ट्र के गौरव के प्रतीक होते हैं। झण्डे की रक्षा राष्ट्र की रक्षा का प्रतिनिधि होती है। युद्ध के समय अपने झण्डों का दीखते रहना सैनिकों में अपूर्व उत्साह भरता है। इसलिए लड़ाई के समय सेनाओं के साथ उनके राष्ट्रीय झण्डे चलने चाहिए।

सेना-व्यूह

विजय प्राप्त करने के लिए अपनी सेनाओं को शत्रु की सेनाओं के सम्मुख ले जाकर लड़ाना होगा, दुश्मन के मुकाबले में खड़ा करके उन्हें जुझाना होगा। शत्रु के साथ आमने-सामने होकर लड़े बिना युद्ध जीता नहीं जा सकता। इसीलिए ऋग्० 10.103, अथ० 19.13 सूक्तों और यजु० 17.33–44 मन्त्रों में इन्द्र का सेनापति के रूप में वर्णन करते हुए उसे

प्रतिहिताभिरस्ता।
ऋग्० 10.103.3; यजु० 17.35; अथ० 19.13.4.

कहा गया है जिसका अर्थ होता है 'शत्रु के मुकाबले में खड़ी की हुई (प्रतिहिताभिः) सेनाओं द्वारा उसे मार भगाने वाला (अस्ता)।' परन्तु जब शत्रु के सम्मुख सेनाओं

को खड़ा किया जाये तो उनका व्यूह या सन्निवेश इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे वे शत्रु की मार में कम से कम पड़ सकें और स्वयं शत्रु पर अधिक से अधिक मार डाल सकें। निम्न मन्त्रों में इसी भाव की सूचना दी गई है—

1. स्थातारो हि प्रसितौ संदृशि स्थन। ऋग्० 5.87.6.
2. संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राणि। अथ० 11.9.2.
3. इयं सेना सुहितास्तु मे वशे। अथ० 11.10.4.
4. द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम्। अथ० 17.1.6.
5. ऐतान् रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः। ऋग्० 5.53.2.
6. अस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु।

ऋग्० 10.103.7, अथ० 19.13.7, यजु० 17.39.

अर्थात्, (1) हे सैनिको तुम नियम के सुन्दर बन्धन में बंधकर खड़े होते हो और दृष्टि में रहते हो।

सैनिकों के दृष्टि में रहने का तात्पर्य यह है कि उनका युद्ध-क्षेत्र में सन्निवेश इस प्रकार किया जाता है कि वे सेनापति आदि अपने लोगों की नजर में रहते हैं जिससे आवश्यकतानुसार उन्हें आक्रमण करने, पीछे हटने, दिशा बदलने आदि की आज्ञायें दी जा सकें तथा अवस्था के अनुसार उनकी रक्षा आदि करने की व्यवस्था की जा सके।

(2) जो हमारे मित्र सैनिक हैं वे युद्ध में इस प्रकार खड़े किये जायें कि वे संदृष्ट और गुप्त रहें।

संदृष्ट का अर्थ होता है अच्छी तरह दीखते रहने वाले। इस दीखते रहने की व्याख्या गत मन्त्र के स्पष्टीकरण में हो गई है। गुप्त का अर्थ होता है सुरक्षित। इसका तात्पर्य यह कि युद्ध में सैनिकों का सन्निवेश या व्यूहन इस प्रकार किया जाये कि वे शत्रु की मार से अधिक से अधिक सुरक्षित रह सकें।

(3) यह अपनी सेना युद्ध में बड़ी सावधानी से खड़ी की जावे (सुहिता) और मेरे वश में रहे। (4) हे इन्द्र (सेनापति), शत्रु मेरे वश में आजावे (रध्यतु) और मैं शत्रु के वश में न आऊँ।

युद्ध में अपनी सेनाओं का सन्निवेश इस सावधानी से किया जाना चाहिए कि शत्रु तो अपनी सेनाओं के वश में आ जावे पर अपनी सेनाएँ उनके वश में न आवें।

(5) इन मरुतों को, जब ये अपने रथों पर बैठकर चलते हैं, तो कौन सुन सकता है कि कैसे चलते हैं।

सैनिक जब अपने रथों पर चढ़कर युद्ध में लड़ने के लिए जावें तो उनका संचालन ऐसी चतुरता से होना चाहिए कि शत्रुओं को पता ही न लग सके कि किधर से कैसे चले आते हैं।

(6) यह इन्द्र (सेनापति) युद्धों में हमारी सेनाओं की रक्षा करे।

युद्ध में सेनापति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी सेनाओं का व्यूहन और

संचालन इस प्रकार करे कि वे अधिक से अधिक सुरक्षित रह सकें।

एक शब्द में, अपनी सेनाओं का सन्निवेश शत्रु के अधिक से अधिक संहार और अपनी कम से कम हानि को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

अपनी सेनाओं को दुर्गों में भी सुरक्षित रखा जाये

सेनाओं की रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार भाँति-भाँति के दुर्ग भी बना लिये जाने चाहिए ऐसी सूचना भी वेद के युद्ध-सम्बन्धी सूक्तों को पढ़ने से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. यदि प्रेयुर्देवपुरा····सर्वं तदरसं कृधि।

अथ० 5.8.6; अथ० 11.10.17.

2. शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघात् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत।

ऋग्० 1.166.8.

अर्थात्—(1) हे सेनापति यदि शत्रु लोग व्यवहारकुशल शिल्पियों द्वारा बनाये हुए दिव्य नगरों में (देवपुरा) रक्षा के लिए चले जावें तो उनके उन नगरों को अरस कर दे अर्थात् रहने योग्य न रहने दे।

(2) हे मरुतो शत्रुओं की कुटिलता और उनके पाप संकल्प से जिसकी तुम रक्षा करते हो उसकी रक्षा सैंकड़ों प्रकार के भोगों वाली नगरियाँ बनाकर (पूर्भिः) करते हो।

इन मन्त्रों में स्पष्ट ही दुर्ग-नगरों का वर्णन है। युद्ध में डरकर शत्रु सेनाएँ प्रथम मन्त्र में वर्णित जिन दिव्य नगरों का आश्रय ले रही हैं वे रक्षा के लिए चतुराई से बनाये गये दुर्ग रूप नगर ही हो सकते हैं। दूसरे मन्त्र में तो सैनिकों द्वारा दुर्ग नगर बनाने का स्पष्ट ही उल्लेख है। इन वर्णनों से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि सेनाओं की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर दुर्गों का भी प्रबन्ध रहना चाहिए।

सेनाओं की रक्षा के लिए खाइयाँ भी खोद ली जायें

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के 57वें मन्त्र में रुद्र के लिए यह वाक्य आता है—

आखुस्ते पशुः।

अर्थात्—'हे रुद्र आखु अर्थात् चूहा तेरा पशु है।' रुद्र सेनापति को कहते हैं पाठक यह भली-भाँति जानते ही हैं। आखु को सेनापति का पशु कहने का क्या तात्पर्य हुआ? चूहे को आखु इसलिए कहते हैं कि वह धरती में बिल खोदकर रहता है। आखु का शब्दार्थ होता है—'आखनतीति आखुः'—खोदने वाला। आखु को सेनापति का पशु कहने का तात्पर्य यह है कि युद्ध में आत्मरक्षा के लिए आखु की गतिविधि का निरीक्षण करके उसके अनुसार चलना सेनापति के लिए नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार आखु बिल खोदकर संकट के समय उनमें छिप जाता है उसी प्रकार सेनापति

को भी चाहिए कि वह भूमि में बिल खोदकर अर्थात् खाइयाँ बनाकर उनमें अपनी और अपनी सेनाओं की रक्षा करे।

युद्ध में शत्रु के बलाबल का भी पूरा ज्ञान रखना चाहिए

वेद में सेनापति के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है उनमें से कुछ निम्न हैं—

1. बलविज्ञायः। ऋग्० 10.103.5.
2. सहस्राक्ष। यजु० 16.13.
3. सहस्राक्षः। अथ० 11.2.3.
4. न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव
   सद्यः[1] सर्वान्परि पश्यसि भूमिम्। अथ० 11.2.25.

प्रथम विशेषण में इन्द्र को 'बलविज्ञायः' कहा है। जहाँ यह विशेषण आता है वहाँ इन्द्र का सेनापति के रूप में ही वर्णन हुआ है। इस विशेषण का शब्दार्थ होता है—बल को जानने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि सेनापति को अपने और शत्रु के बल का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए। दूसरे और तीसरे विशेषण में रुद्र को सहस्राक्ष कहा है। रुद्र तो है ही सेनापति। इस विशेषण का शब्दार्थ होता है हजारों आँखों वाला। इसका तात्पर्य यह है कि सेनापति को बहुत अधिक चौकन्ना रहना चाहिए। उससे अपनी और शत्रु पक्ष की कोई भी बात छिपी नहीं रहनी चाहिए। उसकी आँखें सर्वत्र रहनी चाहिए। अपने गुप्तचरों द्वारा उसे शत्रु के प्रत्येक रहस्य का, प्रत्येक चाल का, प्रत्येक दाँव का, प्रत्येक प्रकार के शस्त्रों का और उनकी संख्या का, उनकी शक्ति और अशक्ति का पूर्ण ज्ञान रहना चाहिए। इसी भाव को अगले मन्त्र में दूसरे शब्दों में कहा गया है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हे भव (रुद्र=सेनापति) न तेरे लिए कुछ दूर है और न तेरी कहीं रुकावट है, तू तत्काल ही सारी भूमि को देख लेता है।'

शत्रु के दूर से दूर प्रदेश की बातों का भी सेनापति को पता रहना चाहिए।

युद्ध के समय शत्रु के साथ दया नहीं करनी चाहिए

वेद के युद्ध प्रकरणों के पढ़ने से यह पता लगता है कि जब युद्ध छिड़ गया तो युद्ध में विजय प्राप्त होने तक शत्रु के साथ दया नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सेनापति के लिए निम्न विशेषण देखने योग्य हैं—

1. अदयः। ऋग्० 10.103.7; यजु० 17.39.

[1] क्वचित् पुस्तकेषु सर्वान् इत्यपि पाठ उपलभ्यते। असौ तु न समीचीनः। सायणेन स्वभाष्ये सर्वम् इत्येव पाठ आदृतः। ग्रिफिथेनापि सर्वामित्येव स्वीकृतः पाठः।

2. अदायः । अथ० 19.13.7.

जहाँ ये विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वहाँ इन्द्र का सेनापति के रूप में वर्णन हुआ है । ऋग्वेद और यजुर्वेद के पाठों में सेनापति को अदय कहा गया है और अथर्ववेद के पाठ में उसे अदाय कहा गया है । अदय और अदाय एक ही धातु से बने हैं । इन दोनों का अर्थ होता है—जो दया नहीं करता । सेनापति के इस विशेषण से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि युद्ध के समय सेनापति का काम शत्रु पर दया करना नहीं है । प्रत्युत उसका संहार करके विजय प्राप्त करना है ।

पाठक इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर शत्रुओं को दण्डित करने और मारने का वर्णन पढ़ते आ रहे हैं । अभी अगले पृष्ठों में पाठक देखेंगे कि युद्ध के समय शत्रुओं के साथ विजय प्राप्त करने के लिए कैसा-कैसा व्यवहार किया जा सकता है । इस सब वर्णन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि संग्राम के समय शत्रु दया का अधिकारी नहीं है । वह प्रहारों और केवल प्रहारों का अधिकारी है ।

शत्रु को हराने के लिए उसके साथ माया भी कर ली जाये

अनेक स्थानों पर मरुतों के लिए वेद में—

1. मायिनः । ऋग्० 1.64.7.
2. सुमायाः । ऋग्० 1.88.1.

विशेषणों का प्रयोग हुआ है । उदाहरण के लिए यहाँ केवल दो स्थलों का पता दे दिया गया है । 'मायिनः' का अर्थ होता है, 'माया वाले' और 'सुमायाः' का अर्थ होता है, 'उत्तम माया वाले' । माया का अर्थ निघण्टु में प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि किया गया है । यह इसका सामान्य अर्थ है । वेद में और दूसरे संस्कृत साहित्य में पाये जाने वाले इसके प्रयोगों को ध्यान में रखने पर इसका अर्थ 'कौशलयुक्त बुद्धि' ऐसा करना होगा । चतुराई और कौशल से भरे हुए इस प्रकार के कार्य जिनका रहस्य सामान्य लोग सुगमता से न जान सकें माया कहलाते हैं । लौकिक संस्कृत में छल और इन्द्र-जाल के कर्मों को भी माया कहा जाता है । छल के काम भी विशेष चतुराई से किये जाते हैं और इन्द्रजाल या जादू के काम भी विशेष चतुराई से किये जाते हैं इसीलिए उन्हें माया कहते हैं । मरुतों अर्थात् सैनिकों को 'मायी' कहने का अभिप्राय है कि वे समय पड़ने पर ऐसे कौशल और चतुराई के कार्य करते हैं तथा ऐसी चतुर चालें चलते हैं कि शत्रुओं को उनका वास्तविक रहस्य पता नहीं चलता और धोखे में आ जाते हैं । इस प्रकार माया करके शत्रुओं को फँसाकर ये सैनिक उन्हें पकड़ लेते हैं या मार डालते हैं । सैनिकों के इस विशेषण से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शत्रुओं के साथ माया या चालाकी करके भी उन्हें हरा लिया जाना चाहिए ।

इस सम्बन्ध में युद्ध-प्रकरण का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

भंजन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ।

अथ० 11.9.5,

अर्थात्—'हे सेनापति शत्रुओं की सेना का भंजन करते हुए तुम उसे भोगों द्वारा चारों ओर से घेर लो।'

भोग शब्द 'भुजो कौटिल्ये' धातु से बना है। इसलिए भोग का अर्थ होता है कुटिल चाल, टेढी चाल। यहाँ कुटिल चालें चलकर सेनापति शत्रु सेना को चारों ओर से घेरकर उनका भंग कर डाले ऐसा उपदेश दिया गया है। जो बात सैनिकों को 'मायी' कहकर कही गई है वही दूसरे शब्दों में सेनापति के इस वर्णन द्वारा कह दी गई है।

शत्रु पर रात के समय भी आक्रमण कर दिया जाये

सैनिकों के लिए ऋग्० 5.52.3 में निम्न वाक्य आया है—

अतिष्कन्दन्ति शर्वरीः।

अर्थात्—'वे मरुत् (सैनिक) रात्रियों में भी आक्रमण कर देते हैं।'

मरुतों के इस विशेषण से यह स्पष्ट सूचित होता है कि शत्रु को पराजय देने के लिए रात के समय भी जबकि वह बेसुध होकर सोया पड़ा हो, उस पर आक्रमण कर देना चाहिए।

शत्रु पर आक्रमण करने के कुछ प्रकार

1. ऋग्वेद 5.54.8 में सैनिकों के लिए—

'ग्रामजितः'

विशेषण का प्रयोग हुआ है। ग्राम का अर्थ समूह होता है। जो समूहों द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करें उन्हें 'ग्रामजितः' कहेंगे। इस विशेषण का तात्पर्य यह है कि शत्रु की शक्ति को देखकर जितने बड़े समूह की आवश्यकता हो उतने बड़े समूह द्वारा इस पर आक्रमण कर दिया जाना चाहिए।

2. यजुर्वेद में 16.30 में सेनापति के लिए निम्न विशेषणों का प्रयोग हुआ है—

ह्रस्वाय च वामनाय च बृहते च वर्षीयसे च।

इसमें रुद्र (सेनापति) को ह्रस्व, वामन, बृहत् और वर्षीयस् कहा गया है। साधारण तौर पर छोटे कद वाले को ह्रस्व कहते हैं और असाधारण तौर पर छोटे कद वाले को वामन कहते हैं। बड़े को बृहत् कहते हैं और जो बड़े से बड़ा हो उसे वर्षीयस् कहते हैं। कोई सेनापति यों तो ह्रस्व, वामन, बृहत् और वर्षीयस् हो नहीं सकता। शरीर की लम्बाई-चौड़ाई तो जैसी है वह वैसी ही रहेगी। वह आवश्यकतानुसार घट-बढ़ नहीं सकती। फिर रुद्र के इन विशेषणों का क्या तात्पर्य होगा? इन विशेषणों में रुद्र को सेना की दृष्टि से ह्रस्वादि कहा गया है। तात्पर्य यह है कि आवश्यकता होने पर सेनापति ह्रस्व हो जाये अर्थात् थोड़ी सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करे। यदि

जरूरत हो तो वह वामन हो जाये अर्थात् वह अत्यन्त ही थोड़ी सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करे। फिर यदि जरूरत हो तो वह बृहत् हो जाये अर्थात् बड़ी सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करे। और यदि अवस्थाएँ चाहती हों तो वह वर्षीयस् हो जाये—और भी बड़ा हो जाये अर्थात् बड़ी से बड़ी सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण करे।

3. ऋग्वेद 5.52.10 में मरुतों के निम्न चार विशेषण आते हैं—

आपथयो विपथयो ऽन्तस्पथा अनुपथाः।

'आपथयः' का अर्थ है 'चारों ओर मार्ग वाले।' 'विपथयः' का अर्थ है—'विरुद्ध मार्ग वाले।' 'अन्तस्पथाः' का अर्थ है—'भीतर के मार्ग वाले।' और 'अनुपथाः' का अर्थ है—'पीछे के मार्ग वाले।' इन विशेषणों द्वारा शत्रु पर चार प्रकार से आक्रमण करने की बात कही गई है। 'आपथयः' कहने का तात्पर्य यह है कि शत्रु के चारों ओर के मार्गों से चलकर उसे घेर लिया जाये। घेरे में डालकर शत्रु के सब ओर के मार्गों को बन्द करके उसे कुचल डाला जाये। 'विपथयः' कहने का तात्पर्य यह है कि शत्रु जिस दिशा में चल रहा है उससे विरुद्ध दिशा में चलकर उसका मार्ग रोका जाये। उसका मार्ग रोक दिया जाये और उसे आगे न बढ़ने दिया जाये। 'अन्तस्पथाः' कहने का यह तात्पर्य है कि शत्रु सेना के बीच में से मार्ग बनाकर, उसके किसी दुर्बल स्थान पर आक्रमण करके, उसके दो टुकड़े कर दिये जाएँ और इस प्रकार उसकी शक्ति को विभक्त करके उसे पराजित कर दिया जाये। 'अन्तस्पथाः' का यह भी एक भाव हो सकता है कि आवश्यकता पड़ने पर सैनिक भूमि में सुरंगों द्वारा मार्ग बनाकर शत्रु के घेरे से निकल जाएँ और उस पर आक्रमण कर डालें। 'अनुपथाः' का अभिप्राय यह है कि चुपके से शत्रु के पीछे-पीछे जाकर उस पर आक्रमण कर डाला जाये। जैसी स्थिति हो उसे देखकर जिस मार्ग की आवश्यकता हो उसका अवलम्बन करके शत्रु पर आक्रमण कर डालना चाहिए।

4. इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्।

अथ० 3.1.4.

अर्थात्—'हे इन्द्र (सेनापति) इन शत्रुओं को जोकि हमारे सम्मुख आ रहे हैं (प्रतीचः) हमारे पीछे चल रहे हैं (अनूचः) और हमारे आगे जा रहे हैं (पराचः) मार डाल और इनके युद्ध के काम में व्यवस्थित होकर लगे हुए (सत्यं)[1] मन को पराजय के कारण सब ओर भागने वाला बना डाल।'

यहाँ शत्रुओं की तीन प्रकार की स्थिति का वर्णन करके लड़ाई करने के तीन प्रकारों की ओर निर्देश किया गया है। 'प्रतीचः' द्वारा यह बताया गया है कि शत्रु हमारे सामने आकर सीधा आक्रमण कर रहा है। 'अनूचः' द्वारा यह बताया गया है कि शत्रुओं ने हमारे पीछे की ओर से आक्रमण किया है। और 'पराचः' द्वारा यह

[1] सत्यं व्यवस्थितं शत्रुहननलक्षणैक कार्योद्यतमिति सायणः।

बताया गया है कि शत्रु अपनी दुर्बलता देखकर लड़ाई न करके पीछे हट रहा है और इस प्रकार हमारी सेना के आगे-आगे जा रहा है। अपनी दुर्बलता देखकर पीछे हट जाना भी युद्ध का एक प्रकार है। इससे अपनी सेना को व्यर्थ के क्षय से बचाकर पुनः शक्ति संग्रह करके शत्रु से लड़ने और उसे हराने का अवसर रहता है। परन्तु शत्रु सेना जब पीछे हट रही हो तो उस पर और भी जोर का आक्रमण कर देना चाहिए। शत्रु को नष्ट करने का वह सबसे अच्छा अवसर होता है।

इस प्रकार समय और स्थिति को देखकर भाँति-भाँति के प्रकारों से शत्रु पर आक्रमण करके उसे पराजित करने का उपाय करना चाहिए।

जब शत्रु हमारे स्थान से दूर हो तभी उसे रोक लेना चाहिए

निम्न मन्त्रों से यह सूचना मिलती है कि जब शत्रु अभी हमारे स्थान से दूर ही हो तभी उसे रोक लेना चाहिए। उसे अपनी भूमि में घुसने का अवसर नहीं देना चाहिए। मन्त्र देखिए—

1. आराच्चिद् द्वेषो वृषणो युयोत यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः। ऋग्० 7.58.6.
2. आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत। ऋग्० 10.77.6.
3. आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय। अथ० 1.19.1.
4. इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। यजु० 20.52; अथ० 7.92.1.
5. आ न इन्द्रो दूरादा न आरादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ....पृतन्यून्। यजु० 20.48.

अर्थात्—(1) हे मरुतो (सैनिको) तुम मंगल की वर्षा करने वाले हो तुम हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को (द्वेषः) दूर से ही (आराच्चिद्) मार भगा दो (युयोत) और इस प्रकार सदा मंगल वर्षा द्वारा (स्वस्तिभिः) हमारी रक्षा करो। (2) हे मरुतो तुम दूर से ही (आराच्चिद्) हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को मार भगा दो, चाहे शत्रु छिपे हों और चाहे प्रकट हों (सनुतः)[1]। (3) हे इन्द्र तू दूर से (आराच्चिद्) शत्रु की बाणावली (शरव्या) को हमसे परे बिखरने वाली बनाकर गिरा दे। (4) वह इन्द्र हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं को दूर से ही मार कर भगा दे चाहे वे शत्रु छिपे हों या प्रकट हों। (5) हमारा अभीष्ट करने वाला इन्द्र हम पर सेना लेकर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं पर (पृतन्यून्) हमारी रक्षा के लिए दूर और समीप दोनों अवस्थाओं में आक्रमण करे।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि यथासम्भव शत्रु को दूर से ही रोककर उसे पराजित कर दिया जाये।

[1] सनुत रिति निर्णीतान्तर्हितयोर्नमि। निघं० 3.25.

युद्ध में अपना सम्बन्धी भी यदि शत्रु बनकर आये तो उसे भी मार डाला जाये

अनेक स्थानों पर युद्ध प्रकरणों में ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि यदि अपना कोई सम्बन्धी भी शत्रु बनकर युद्ध करने आवे तो उसे भी मार डाला जावे। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।
रुद्रः शरव्ययतान् ममामित्रान् वि विध्यतु॥

अथ० 1.19.3.

अर्थात्—'जो अपना (स्वः) जो पराया (रणः) जो अपने वंश का (सजातः) और जो बाहर का (निष्ट्यः) हमें दास बनाना चाहता है (अभिदासति) मेरे इन सारे शत्रुओं को रुद्र (सेनापति) अपनी बाणावली से बींध डाले।'

जो पराये लोग शत्रु बनकर आयेंगे उनके वध में तो सन्देह ही नहीं हो सकता परन्तु मन्त्र में तो यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि हमारे मित्रादि वे लोग जिन्हें हम अपना कहते हैं और जो हमारे वंश के बन्धु-बान्धव आदि सम्बन्धी लोग हैं यदि वे भी हमारे शत्रु बनकर आयें तो युद्ध में उन्हें भी मार डालना चाहिए। युद्ध के समय किसी पर भी दया नहीं दिखाई जानी चाहिए। वेद के इस प्रकार के मन्त्रों के आधार पर ही मनु महाराज ने कहा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन्॥

मनु० 8.350.

अर्थात्—'चाहे अपना गुरु हो, चाहे बालक हो और चाहे वृद्ध हो, चाहे बहुत बड़ा ज्ञानी ब्राह्मण हो, जो शत्रु बनकर प्राण लेने के लिए आवे उसे बिना विचारे मार डालना चाहिए।'

युद्ध में शत्रु दल के नेताओं को पहले मारने का प्रयत्न करना चाहिए

वेद के युद्ध-सूक्तों में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जिनसे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि युद्ध के समय यह प्रयत्न करना चाहिए कि पहले शत्रु पक्ष के सेनापति आदि मुखिया लोगों को मार डाला जाये। उदाहरण के लिए अधोलिखित मन्त्र देखिए—

1. जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन। अथ० 3.19.8.
2. तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्। अथ० 6.67.2.
3. मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम्। अथ० 11.10.21.

अर्थात्—(1) हे हमारे सैनिकों द्वारा छोड़ी हुई बाणावली तुम शत्रुओं को प्राप्त होओ और उनके श्रेष्ठ-श्रेष्ठ (वरंवरं) व्यक्तियों को मार डालो, उन श्रेष्ठ व्यक्तियों में से किसी को भी मत छोड़ो। (2) अग्नि द्वारा मूढ़ बनाये हुए शत्रुओं में से इन्द्र श्रेष्ठ-श्रेष्ठ (वरंवरं) व्यक्तियों को मार डाले। (3) हे शत्रु-हिंसक सेनापति (न्यर्बुदे)

शत्रुओं को मूढ़ बना दिया गया है तुम उनमें श्रेष्ठ-श्रेष्ठ (वरंवरं) व्यक्तियों को मार डालो।

व्यर्थ का रक्तपात करना वैदिक क्षत्रिय का प्रयोजन नहीं होता। उसका उद्देश्य तो कम से कम रक्तपात द्वारा विजय प्राप्त करना होता है। शत्रुपक्ष के नेता लोगों को मार डालने पर यह उद्देश्य सुगमता से पूरा हो जाता है। नेता लोगों के मर जाने पर शत्रु सेनाओं को मार्ग-प्रदर्शन करने वाले लोग न रहेंगे। उनके अभाव में घवरा कर और हतोत्साह होकर शत्रु-सेनाएँ आप ही आत्मसमर्पण कर देंगी।

शत्रु को हराने के कुछ उपाय

शत्रुओं के साथ प्रत्यक्ष युद्ध में लड़कर उन्हें परास्त करने का यत्न करना चाहिए यह तो वेद के युद्ध-प्रकरणों से स्पष्ट सूचित होता ही है। इसके अतिरिक्त युद्ध-प्रकरणों का अध्ययन करने से कितने ही अन्य ऐसे उपायों की ओर भी निर्देश मिलता है जिनसे युद्ध में शत्रु को पराजित करने में बड़ी सहायता मिल सकती हैं। अगली पंक्तियों में कुछ ऐसे उपायों की ओर निर्देश किया जाता है—

शत्रु का कोश छीन लेना चाहिए

संग्राम सूक्तों में अनेक ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे यह सूचना मिलती हैं कि शत्रु को पराजित करने के लिए उसके कोश (खजाने) को छीन लिया जाय या नष्ट कर दिया जाये। नीचे इस सम्बन्ध के निम्न मन्त्र को देखिये—

संजयन्पृतना शत्रूणामुप भरस्व वेदः।

अथ० 5.20.4.

अर्थात्—'शत्रु सेनाओं को जीत रहे हे दुन्दुभि तुम उन शत्रुओं के धन को (वेदः) हर लो (उपभरस्व)।'

युद्ध में बज रहे दुन्दुभि के इस वर्णन से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शत्रु को हराने के लिए उसके धन को, उसके कोश को, छीन लेना चाहिए। युद्ध के लिए उपयोगी समग्र सामग्री धन से ही खरीदी जाती है। यदि किसी प्रकार शत्रु का धन, उसका कोश, हस्तगत कर लिया जाये तो वह युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री तैयार नहीं कर सकेगा और उसका हराना सुगम हो जायेगा। इसी अभिप्राय से मन्त्र में शत्रु के धन को छीन लेने का वर्णन हुआ है।

शत्रु सेना का भोजन नष्ट कर देना चाहिए

कितने ही वर्णनों से यह व्यक्त होता है कि शत्रु को हराने के लिए उसके भोजनों को छीन लेना या नष्ट कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. छन्नूयतामा भरा भोजनानि। अथ० 4.22.6.

2. छत्रूयतामा खिदा भोजनानि । अथ० 4.22.7.
3. आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति । अथ० 7.70.3.
4. इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु । अथ० 7.70.2.
5. अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ अथ० 7.70.5.
6. मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् । अथ० 8.8.18.
7. पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन । अथ० 11.10.19.

अर्थात्—(1) हे राजन् तुम शत्रुओं के भोजनों को छीन लो। (2) हे राजन् ! तुम शत्रुओं के भोजनों को नष्ट कर दो (आखिद)। (3) जो हम पर सेना लेकर चढ़ाई करना चाहता है (पृतन्यतः) और इस प्रकार हमारे प्रति पाप करना चाहता है उसके घी (आज्यं) को नष्ट कर दो। (4) इन्द्र द्वारा प्रेरित किये हुए विजिगीषु योद्धा (देवाः) शत्रु के घी को (आज्यं) मसल दें (मथ्नन्तु)। (5) हे शत्रु मैं तेरी भुजाओं को बांधता हूँ और तेरे मुँह को भी बाँध देता हूँ क्योंकि अग्नि के क्रोध से मैंने तेरे भोजन को नष्ट कर दिया है। (6) शत्रु मृत्यु के बन्धन में (आषं)[1] फँस जायें, उन्हें भूख (क्षुधं), विषाद (सेदिंः), वध और भय प्राप्त हो। (7) जिनके दही, घी (पृषदाज्य) नष्ट कर दिये गए हैं ऐसे इन शत्रुओं में से कोई भी न बचे।

इन मन्त्रों में शत्रु के भोजन को छीनकर या नष्ट करके उसे भूखा मार देने का स्पष्ट वर्णन है। जब शत्रु के पास भोजन नहीं रहेगा तो उसके सैनिक भूखे रहेंगे और भूखे सैनिकों से युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। इसी अभिप्राय से इन मन्त्रों में शत्रु के भोजन को नष्ट कर देने का वर्णन किया गया है।

शत्रुओं के शस्त्रास्त्र नष्ट कर दिये जायें

अथर्ववेद के छठे काण्ड के 65 और 66 सूक्तों में शत्रुओं को 'निर्हस्त' करके मार डालने का वर्णन है। उदाहरण के लिए इन सूक्तों का एक मन्त्र देखिए—

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषमघहारो विविद्धः ॥
अथ० 6.66.1.

अर्थात्—'जो शत्रु हमें दास बनाना चाहते हैं और सेनाओं के द्वारा हमसे युद्ध करने के लिए आते हैं वे निर्हस्त हो जायें और फिर हे इन्द्र तू उनको बड़े-बड़े शस्त्रों से मार जिससे पाप करने वाले इनके लोग बिंधकर दौड़ जावें।'

'निर्हस्त' का शब्दार्थ होता है 'जिनके हाथ निकल गये हैं, जिनके हाथ नहीं रहे हैं।' परन्तु यहाँ निर्हस्त का तात्पर्य खाली हाथ, हथियारों से रहित हाथ, ऐसा नही है। इन सूक्तों में शत्रु को निर्हस्त कर देने का अभिप्राय यह है कि उनके शस्त्रास्त्र छीन लिए जायें। योद्धाओं के शस्त्रास्त्रों को छीन लेना उनके हाथ काट देने

[1] अष ग्रहणे घञ् ।

के बराबर ही होता है। यहाँ निर्हस्त करने का अर्थ शस्त्रास्त्र छीनना ही है। यह निम्न मन्त्र के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है—

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ ।
वृश्चामि शत्रणां बाहूननेन हविषाहम् ।।
अथ० 6.65.2.

इन मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

'हे विजिगीषु सैनिको (देवाः) निर्हस्त हो चुके शत्रु के (निर्हस्तेभ्यः) शत्रुओं के लिए तुम निर्हस्त बनाने वाले (नैर्हस्तं) जिस शस्त्र को (शरुं) फेंककर मारते हो उस शस्त्र से (हविषा)[1] मैं शत्रुओं की बाहुओं को काट लेता हूँ।'

मन्त्र के वर्णन में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शत्रु निर्हस्त है (निर्हस्तेभ्यः) और उन निर्हस्त शत्रुओं पर शस्त्र फेंककर उनकी भुजायें काटी जा रही हैं। अब यदि निर्हस्त का अर्थ भुजारहित किया जाये तो भुजारहित शत्रुओं की भुजाओं को काटने का कोई अर्थ ही नहीं रहता और इस प्रकार मन्त्र व्यर्थ प्रलाप हो जाता है। इसलिए हमें यहाँ लक्षणा से निर्हस्त का अर्थ शस्त्ररहित ऐसा करना होगा। शत्रुओं को निर्हस्त करके अर्थात् उनके शस्त्रास्त्र छीनकर या नष्ट करके उनकी भुजाएँ एक प्रकार से काट दी जाती हैं। इन सूक्तों में सायणाचार्य ने भी निर्हस्त का अर्थ 'निर्गतहस्त सामर्थ्य' अर्थात् जिनके हाथों की शक्ति निकल गई है ऐसा ही किया है। योद्धाओं के हाथों की शक्ति उनके हथियार ही होते हैं।

इस प्रकार इन सूक्तों के वर्णन द्वारा यह सुझाया गया है कि युद्ध में शीघ्र विजय प्राप्त करने के लिए शत्रुओं के शस्त्रास्त्रों को छीन लेने या नष्ट कर देने का भी प्रयत्न करना चाहिए। शस्त्रास्त्रों की कमी पड़ जाने पर शत्रु देर तक और अच्छी तरह नहीं लड़ सकते। उनका हारना आवश्यक हो जाता है।

शत्रुओं के किले नष्ट कर दिये जाएँ

युद्ध विषयक स्थलों में ऐसे भी वर्णन आते हैं जिनसे यह द्योतित होता है कि शत्रु के किलों को नष्ट कर दिया जाना चाहिए। निम्न मन्त्र देखिए—

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ।।
अथ० 5.8.6; 11.10.17.

अर्थात्—'यदि शत्रु लोग व्यवहार-कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये हुए दिव्य नगरों (देवपुरा) अर्थात् दुर्गों में चले जाएँ अथवा ब्राह्मणों को (ब्रह्म) कवच बनाकर आगे कर दें और इस प्रकार इनको अपने शरीर की चारों ओर से रक्षा करने वाला (तनूपानं परिपाणं) बनाकर जो डींगे मारने लगें (उपोचिरे) कि हमारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो उनके इस सारे प्रयत्न को अरस कर दो (अरसं कृधि), बिगाड़ दो।'

[1] हूयमानेन आयुधेनेति सायणः।

हमने प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण कर दिया है। क्योंकि इससे ऊपर के मन्त्र (अथ० 5.8.5) में कहा है—

यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये।
इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे॥

अर्थात्—हे इन्द्र ये शत्रु लोग तेरा पराभव करने के लिए यदि ब्राह्मण (ब्रह्माणं) को भी आगे कर लें तो वह भी तेरे पैरों के तले रौंदा जाए (अधस्पदं) मैं उसे मृत्यु के लिए फेंक देता हूँ। इस ऊपर के वर्णन को ध्यान में रखकर हमने प्रस्तुत मन्त्र में भी ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण कर दिया है। वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म, ब्रह्मा और ब्राह्मण तीनों पर्यायवाची हैं। शत्रु लोग, यह समझकर कि वैदिक क्षत्रिय ब्राह्मणों का आदर करते हैं इसलिए वे उन पर शस्त्र नहीं चलायेंगे, अपनी रक्षा के लिए ब्राह्मणों को आगे कर सकते हैं। इन मन्त्रों में कहा गया है कि ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों को भी मार डालना चाहिए।

प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म का अर्थ वेद या ज्ञान भी किया जा सकता है। वेद अर्थ में यह भाव होगा कि यदि शत्रु लोग वेद को भी आगे करदें तो उसकी भी परवाह न करके आगे ही बढ़ते जाना चाहिए, भले ही वेद को भी पैरों तले रौंदना पड़े या फाड़ डालना या जला डालना पड़े। कागज पर लिखा हुआ वेद असल में वेद नहीं है। हृदय में धारण किया हुआ वेद असल में वेद है। युद्ध के समय कागज पर लिखे वेद की परवाह न करके अधार्मिक शत्रु का वध करने में हृदय में धारण किये हुए असल वेद की रक्षा की जा रही होती है।

ब्रह्म के ज्ञान अर्थ में तात्पर्य यह होगा कि यदि शत्रु ज्ञान का अवलम्बन करके भाँति-भाँति के कौशलों और चालाकियों का सहारा लेकर तंग करना चाहे तो उसकी उन चालाकियों को भी नष्ट कर डाला जावे। शत्रु को पराभूत करने के लिए उसके द्वारा अवलम्बन किये जा रहे प्रत्येक उपाय को भंग करना युद्ध समय का कर्तव्य है।

पाठकों ने देखा है कि प्रस्तुत मन्त्र में शत्रुओं द्वारा बनाए हुए दुर्गों को भी बिगाड़ डालने का वर्णन है। अपने सैनिकों की रक्षा तथा युद्ध-सामग्री को संभाल कर रखने के लिए शत्रु दुर्गों का सहारा लेगा। इसलिए यह प्रयत्न होना चाहिए कि शत्रु के जितने भर भी किले हैं यथासंभव उन सबको निकम्मा कर दिये जाए। शत्रु के दुर्गों की जितनी अधिक संख्या नष्ट कर दी जायेगी उतना ही अधिक उसको पराजित कर सकना सुगम हो जायेगा।

शत्रु के लोगों को बन्दी बना लिया जाये

कितने ही प्रसंगों से यह द्योतित होता है कि यदि वश चले तो शत्रु के लोगों को बन्दी बना लिया जाये। शत्रु पक्ष के लोगों को कैद कर लिया जाये इसकी सूचना देने वाले कुछ मन्त्र नीचे देखिए—

1. इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम्। अथ० 6.103.3.

2. पत्संगिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये । अथ० 5.21.10.
3. उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ अथ० 11.9.3.
4. यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ।
ऋग्० 10.152.4; यजु० 18.70.
5. अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति । अथ० 1.21.2.

अर्थात्—(1) इन्द्र उन शत्रुओं को रोके और हे अग्नि तू उनको रज्जू से बाँध ले । (2) शत्रुओं का बाहुवीर्य नष्ट हो जाने पर उनके पैरों में बेड़ियाँ डाल दी जावें । (3) हे शत्रुहिंसक सेनापति उठो, पराक्रम आरम्भ करो, आदान और संदान द्वारा शत्रुओं की सेनाओं को बाँध लो । (4) जो हमें दास बनाना चाहता है उसे निचले अन्धकार में पहुँचा दो । (5) सबसे निचले अन्धकार में उसे पहुँचा दो जो हमें दास बनाना चाहता है ।

इन मन्त्रों में शत्रु सैनिकों को कैद कर लेने का स्पष्ट उल्लेख है । उद्धृत प्रथम मन्त्र में रस्सी द्वारा शत्रुओं को बाँधने का वर्णन है । यह रस्सी अग्नि द्वारा बाँधी जा रही है । अग्नि का सामान्य अर्थ हम सम्राट् कर लेते हैं । यहाँ इन्द्र के साथ इसका प्रयोग हुआ है । इसलिए इसका विशिष्ट अर्थ करना होगा । यद्यपि इन प्रकरणों में अग्नि का अर्थ लोक प्रसिद्ध आग नहीं हो सकता परन्तु अन्यत्र अग्नि का अर्थ आग भी होता है । अग्नि रस्सी बाँध रहा है । इसलिए व्यंजना से यह तात्पर्य भी निकलेगा कि वे रस्सियाँ ऐसी होनी चाहिए जिन्हें आग भी न जला सके । अर्थात् आवश्यकता होने पर ये रस्सियाँ लोहे आदि धातुओं की बना लेनी चाहिए । द्वितीय मन्त्रों में पैरों में बेड़ियाँ डालने का वर्णन है । तीसरे मन्त्र में आदान और संदान द्वारा शत्रु बाँधे जा रहे हैं । आदान का अर्थ होता है चारों ओर से बाँधना और संदान का अर्थ होता है अच्छी तरह बाँधना । भाव यह है कि वे शत्रु के हाथ-पैर आदि सब अच्छी तरह बाँध दिये जाने चाहिए । चौथे और पाँचवें मन्त्रों में शत्रुओं को निचले और सबसे निचले अन्धकार में पहुँचा देने का वर्णन है । इस वर्णन से यह सूचना मिलती है कि आवश्यकता होने पर शत्रुओं को अन्धेरी कोठरियों में भी बन्द कर देना चाहिए । इस प्रकार इन मन्त्रों में शत्रुओं को कैद कर देने का स्पष्ट विधान है । शत्रु के जितने लोग हमारी कैद में आ जावेंगे उतनी ही शत्रु की शक्ति क्षीण हो जावेगी और शक्ति क्षीण हो जाने पर उसे हराना सुगम हो जावेगा ।

शत्रु सेनाओं में भाँति-भाँति के रोग फैला दिये जावें

वेद के युद्ध-प्रकरणों में कितने ही प्रसंग ऐसे आते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि शत्रु को पराजित करने के लिए उसकी सेनाओं में भाँति-भाँति के रोग फैला देने चाहिए । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् । ऋग्० 10.84.3; अथ० 4.31.3.

2. सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना । अथ० 8.8.9.
3. यस्य तक्मा कासिका हेतिः । अथ० 11.2.22.
4. मा नो रुद्र तक्मना सं स्राः । अथ० 11.2.26.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे मन्यु तू शत्रुओं को रोगी करता हुआ (रुजन्), उन्हें मारता हुआ और बुरी तरह मारता हुआ चल । (2) विषाद, निर्धनता और अकथनीय (अनपवाचना) पीड़ा (आर्तिः) इन सबसे मैं इन शत्रुओं को बाँध लेता हूँ । (3) जिस रुद्र (सेनापति) के शस्त्र (हेतिः) बुखार (तक्मा) और खाँसी (कासिका) हैं । (4) हे रुद्र (सेनापति) तू हमें बुखार से (तक्मना) युक्त मत कर (मा संस्राः) ।

इन मन्त्रों के वर्णनों से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि शत्रु सेनाओं को पराजित करने के लिए उनमें भाँति-भाँति के रोगों को भी आवश्यकता पड़ने पर फैला देना चाहिए । शत्रु-सेनाओं में रोग फैल जाने से उनकी लड़ने की शक्ति क्षीण हो जायेगी और उन्हें हरा सकना बहुत सुगम हो जावेगा ।

शत्रुओं को विष दे दिया जाये

युद्ध-प्रकरणों में ऐसे भी वर्णन आते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि शत्रुओं को मारने के लिए उन्हें विष दे दिया जाये । निम्न वाक्य देखिए—

मा विषेण सं स्राः ।
अथ० 11.2.26.

अर्थात्—'हे रुद्र (सेनापति) तू हमें विष से युक्त मत कर ।'

इस स्थल में अपने पक्ष के लोग सेनापति से कह रहे हैं कि वह उन्हें विष से युक्त न करे । अपने विषों को बहुत सावधानी से सम्भाल कर रखे जिससे भूल से उनके अपनी सेनाओं को ही दे दिए जाने की आशंका न रहे । इस वर्णन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि शत्रु पक्ष के लोगों को विष दिया जा सकता है । यदि अत्याचारी शत्रु किसी और तरह वश में न आते हों तो उनको विष प्रदान द्वारा भी मारा जा सकता है । यह विष जल पीने के कूपों आदि में डालकर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है ।

शत्रु के सामान में आग लगा दी जाये

युद्ध प्रकरणों में कई ऐसे भी प्रसंग आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि शत्रु की सामग्री में आग लगा दी जावे । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. रुद्र····मा सं स्रा दिव्येनाग्निना । अथ० 11.2.26.
2. अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया । अथ० 11.9.19.

अर्थात्—(1) हे रुद्र (सेनापति) तुम अपने दिव्य अग्नि से हमें युक्त मत करो ।

(2) हमारी सेनाओं के साथ अग्नि की जिह्वाओं वाली धूमशिखायें शत्रुओं को जीतती हुई चलें।

प्रथम मन्त्र में अपने पक्ष के लोग सेनापति से कह रहे हैं कि वह उन्हें आग से युक्त न करे। अपने आग लगाने वाले पदार्थों को ऐसी सावधानी से सम्भाल कर रखें कि अपनी सामग्री में आग लग जाने का भय न रहे। इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि शत्रु के सामान में आग लगा दी जावे। यहाँ अग्नि के साथ 'दिव्य' विशेषण का प्रयोग हुआ है। इस दिव्य विशेषण से यह सूचित होता है कि यह आग शत्रुओं पर विशेष प्रकार के रासायनिक विस्फोटक पदार्थ, जिनमें ज्वलन का गुण अतिशय मात्रा में हो, फेंककर, या यन्त्रों द्वारा विद्युत् आदि फेंककर लगाई जायेगी। विद्युत् द्वारा आग लगने का निर्देश तो इसी मन्त्र में उपलब्ध भी होता है। उद्धृत वाक्य 'हे रुद्र तुम हमें अपने दिव्य अग्नि से युक्त मत करो' कहने के अनन्तर इसी मन्त्र के अन्तिम भाग में कहा है—

अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम्।
अथ० 11.2.26.

अर्थात्—'हे रुद्र अपनी इस विद्युत् को हमसे अन्यत्र गिराओ।' इससे स्पष्ट है कि विद्युत् आदि दिव्य दाहकों द्वारा लगाई जाने के कारण ही इस आग को दिव्य अग्नि कहा गया है उद्धृत द्वितीय मन्त्र में तो शत्रु सामग्री में आग लगा देने का स्पष्ट उल्लेख है ही।

इस प्रकार ये प्रसंग स्पष्ट प्रकट करते हैं कि शत्रु को हराने के लिए उसकी सामग्री में आग भी लगा दी जाये।

शत्रुओं के मार्ग में जाल बिछा दिये जाएँ और उनमें फंसे हुए शत्रुओं को मार डाला जाये

युद्ध-सूक्तों में अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे यह प्रकाशित होता है कि शत्रु सेनाओं के मार्ग में भाँति-भाँति के जाल बिछा दिये जाएँ और जब उनमें शत्रु फँस जाये तो उन्हें मार डाला जाये। उदाहरणार्थ अधोलिखित मन्त्र देखिये—

1. क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः। अथ० 8.8.4.
2. बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
   तेन शत्रूनभि सर्वान्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम्॥
   अथ० 8.8.6.
3. बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
   तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥
   अथ० 8.8.7.
4. इमे उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
   अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः॥ अथ० 8.8.16.

अर्थात्—(1) बड़े भारी जाल से बाँधे हुए शत्रु शीघ्र ही सरकण्डों की तरह टूट जाएँ। (2) बलशाली सेनाओं वाले (वाजिनीवतः) इन्द्र के बड़े-बड़े जाल हैं उन जालों की सहायता से सब शत्रुओं पर टूट पड़ो (न्युब्ज) जिससे इन शत्रुओं में से कोई भी न बच पावे। (3) हे इन्द्र तुम महान् हो, हजारों से पूजा पाने वाले हो (सहस्रार्घस्य) सैंकड़ों प्रकार के पराक्रम वाले हो, तुम्हारे पास बड़े-बड़े जाल हैं, उन जालों की सहायता से अपनी सेना द्वारा शक्तिशाली हे इन्द्र तुम दस्यु शत्रुओं के सौ, हजार, दस हजार और अरबों सैनिकों को भी मार देते हो। (4) ये मृत्यु के जाल (मृत्युपाशाः) फैलाये हुए हैं, जिनमें पड़कर हे शत्रु तू छूट नहीं सकता है यह कूट जाल तेरी उस सेना के हजारों व्यक्तियों को मार डाले।

इस प्रकार इन मन्त्रों में यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि शत्रु सेना को जालों में फँसाकर मार डालना चाहिए।

शत्रु को भाँति-भाँति के उपाय करके थका डालना चाहिए

भाँति-भाँति के उपायों का अवलम्बन करके शत्रु को थका डालना चाहिए जिससे उसके सैनिक दुर्बल हो जाएँ और उन्हें पराजय दे सकना सुगम हो जाये। इस प्रकार के निर्देश भी वेद में युद्ध-प्रकरणों में हमें उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान्।

अथ० 8.8.9.

अर्थात्—'थकावट (श्रमः) आलस्य (तन्द्रीः) और मूर्च्छा या नींद (मोहः)—इन द्वारा मैं शत्रुओं को बाँध लेता हूँ।'

थकावट से आदमी में आलस्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। थकावट और तज्जन्य आलस्य बढ़ जाने पर पुरुष को नींद और मूर्च्छा भी आने लगती हैं। ऐसी थकावट की अवस्था में पहुँचे हुए शत्रु सैनिकों को हरा सकना नितान्त आसान हो जाता है। इसीलिए इस मन्त्र में शत्रुओं को थकावट और तज्जन्य आलस्य आदि से बाँधने का वर्णन किया गया है। अनेक प्रकार की मायाओं का अवलम्बन करके शत्रु को थकाया जा सकता है।

युद्ध में लूटा हुआ सामान अपने सैनिकों में बाँट देना चाहिए

युद्ध में लूटा हुआ शत्रु का सामान अपने सैनिकों में बाँट दिया जाना चाहिए ऐसा वर्णन भी वेद के युद्ध-प्रकरणों के अनेक स्थलों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए नीचे के मन्त्रों को देखिये—

1. हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेदः। अथ० 4.31.2; ऋग्० 10.84.2.
2. अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै। अथ० 6.66.3.

अर्थात्—(1) शत्रुओं को मारकर उनका धन बाँट दो। (2) इन शत्रुओं को मारकर

हे इन्द्र हम इनका धन सैंकड़ों की संख्या में बाँट लें।

इन मन्त्रों में शत्रु के जीते हुए धन को आपस में बाँट लेने का स्पष्ट वर्णन है। क्योंकि ऐसा करने से अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ जाता है और उन्हें उनके कष्ट सहन का प्रतिफल मिल जाता है। इसीलिए इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में शत्रु से जीते हुए सामान को सैनिकों में विभक्त कर देने का विधान किया गया है।

युद्ध के समय युद्ध-क्षेत्र से बाहर के नगरों और ग्रामों पर आक्रमण नहीं करना चाहिए

युद्ध के समय शत्रु की सेनाओं और उसके अन्य सांग्रामिक पदार्थों पर ही आक्रमण करना चाहिए। शत्रु-राष्ट्र के सर्वसाधारण नागरिकों और उनकी वस्तियों पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। ऐसा निर्देश भी युद्ध-सम्बन्धी प्रकरणों के कई स्थलों से प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मरुतों का निम्न विशेषण देखिये—

अरिष्टग्रामाः।

ऋग्० 1.166.

अर्थात्—'ये मरुत् (सैनिक) गाँवों का नाश नहीं करते हैं।' सैनिकों का यह विशेषण स्पष्ट सूचित करता है कि जो गाँव और नगर युद्ध में हिस्सा नहीं ले रहे हैं उन पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। केवल शत्रु सेनाओं का विध्वंस ही युद्ध का प्रयोजन है। सर्वसाधारण प्रजा का संहार युद्ध का उद्देश्य नहीं है।

युद्ध आरम्भ करने से पूर्व शत्रु को समझाकर उसका मन युद्ध से हटाने का प्रयत्न करना चाहिए

ऋग्० 10.87.2, अथ० 8.3.2 और ऋग्० 7.16.32 मन्त्रों में दण्ड देने का पहला प्रकार यह बताया गया है कि प्रथम बार अपराध होने पर अपराधी को खाली समझाकर छोड़ देना चाहिए। यदि समझाने से अपराधी अपनी गलती अनुभव कर ले और सुधर जाये तो उसे दण्डित करने की आवश्यकता नहीं है। युद्ध के सम्बन्ध में भी वेद की यही स्थिति है। शत्रु के साथ युद्ध आरम्भ करने से पहले उसे समझाना चाहिए। उसके अन्याय और अत्याचारों को उसे समझाकर तथा युद्ध से होने वाली हानि और कष्टों को उस पर भली-भाँति प्रकट करके शत्रु के मन को युद्ध से विमुख करने का सबसे पहले प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस मार्ग का अवलम्बन करने से शत्रु अपने अन्याय और अत्याचारों को बन्द कर दे और उससे युद्ध करने की आवश्यकता न रहे तो यह सबसे अच्छा है। यदि शत्रु इस प्रकार समझाने से न समझे और वह अपने अन्याय-अत्याचारों पर तुला रहे तो फिर उसके साथ युद्ध करना ही होगा। और फिर उसके साथ ऐसा युद्ध किया जायेगा कि वह याद रखेगा। युद्धारम्भ से पहले शत्रु को समझाकर उसे अन्याय, अत्याचार और युद्ध से उपरत करने का यत्न करना चाहिए ऐसी सूचना अनेक स्थलों

से मिलती है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽय जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥

अथ० 1.21.4; ऋग्० 10.152.5.

जिन सूक्तों का यह मन्त्र है उनमें सेनाओं को लेकर हम पर चढ़ाई करना चाहने वाले एवं हमें दास बनाना चाहने वाले शत्रुओं को मारने का वर्णन है। यह मन्त्र उन सूक्तों का अन्तिम मन्त्र है। इसमें इन्द्र (सम्राट्) से यह कहा गया है कि वह पहले शत्रु के मन को उसके दुष्कर्म से दूर हटाने का यत्न करे। यदि उसे इसमें सफलता प्राप्त हो गई तो फिर युद्ध करने की ही आवश्यकता न रहेगी। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हे इन्द्र (सम्राट्) हमसे द्वेष करने वाले शत्रु के (द्विषतः) मन को (मनः) उसके दुष्कर्म से दूर कीजिए (अपयच्छ) और इस प्रकार हमें मारना चाहने वाले उस शत्रु से होने वाले वध को हमसे दूर कीजिए एवं हमें महान् मंगल प्रदान कीजिये (वियच्छ) वध को हमसे बहुत दूर (वरीयः) भगा दीजिये (यावय)।'

अपने मित्र बढ़ाते रहना चाहिए

वेद के कितने ही स्थलों में ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे यह उपदेश मिलता है कि सम्राट् को अपने मित्रों की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व। अथ० 2.6.4.
2. आ तिष्ठ मित्रवर्धन। अथ० 4.8.2.
3. यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत्। अथ० 4.8.6.
4. अग्ने····सपत्नान् प्रत्यजातान्····नुदस्व। अथ० 7.34.1.
5. प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व। अथ० 7.35.1.

अर्थात्—(1) हे अग्नि (सम्राट्) तुम अपने मित्रों द्वारा मित्रों के बढ़ाने में (मित्रधा) प्रयत्न करो। (2) मित्रों को बढ़ाने वाले (मित्रवर्धन) हे राजन् तुम सिंहासन पर बैठो। (3) हे राजन् जिससे तुम मित्रों को बढ़ाने वाले (मित्रवर्धन) हो जाओ सबके उत्पादक और प्रेरक प्रभु (सविता) वैसा करें। (4) हे अग्नि (सम्राट्) तुम हमारे अजातशत्रुओं को भी हटा दो। (5) हे ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले (जातवेदः) अग्नि (सम्राट्) तुम हमारे अजातशत्रुओं को भी हटा दो।

ऊपर उद्धृत प्रथम तीन मन्त्रों में तो स्पष्ट ही उल्लेख है कि सम्राट् को अपने मित्रों को बढ़ाने का उद्योग करते रहना चाहिए। शेष दो मन्त्रों में सम्राट् से अजात-शत्रुओं को हटाने की प्रार्थना की गई है। अजात का अर्थ है जो अभी उत्पन्न नहीं हुए। अजातशत्रुओं को हटाने का भाव यह है कि नये शत्रु उत्पन्न ही न होने पावें। नये शत्रु तभी उत्पन्न नहीं होंगे जबकि हमारा सम्राट् अन्य राजाओं के साथ मित्रता

का सम्बन्ध रखेगा। इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों के वर्णन से भी यही भाव निकलता है कि सम्राट् को अपने मित्रों की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए।

जिस राजा के मित्रों की संख्या अधिक होगी उससे दूसरे राजाओं को युद्ध करने का पहले तो साहस ही नहीं होगा और यदि किसी ने उससे युद्ध छेड़ भी दिया तो उसे अपने मित्रों से इतनी अधिक सहायता प्राप्त हो सकेगी कि वह अपने शत्रु को बड़ी सुगमता से हरा सकेगा। इसी भाव को ध्यान में रखकर वेद के इन प्रसंगों में सम्राट् को अपने मित्र बढ़ाते रहने की सलाह दी गई है।

19

सेना के लिए वीर सैनिक कैसे उपलब्ध हो सकते हैं

(क) पुरोहितों की स्थापना की जाए

राष्ट्र को आदर्श वीर सैनिक कैसे प्राप्त हो सकते हैं इस सम्बन्ध में भी वेद के युद्ध-सम्बन्धी प्रकरणों को पढ़ने से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद के तीसरे काण्ड का उन्नीसवाँ सूक्त पाठक पढ़कर देखें। इस सूक्त के 8 मन्त्र हैं। इस सूक्त के कई मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इस सारे सूक्त में पुरोहित बोल रहा है। सेनाएँ युद्ध के लिए प्रस्थान कर रही हैं। उस समय पुरोहित उनके उत्साह का वर्धन कर रहा है। वह कह रहा है कि ये हमारी सेनाएँ विजय प्राप्त करके आयेंगी और शत्रु पराजित होकर रहेगा क्योंकि मैं इनका पुरोहित हूँ और मैंने इनके बल-वीर्य को बड़ा तीक्ष्ण बना रखा है। ऐसे तीक्ष्ण बल-वीर्य वाले सैनिकों को भला कौन हरा सकता है? उदाहरण के लिए सूक्त के निम्न वाक्यों को पढ़िये—

1. संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
   संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥
   अथ० 3.19.1.
2. समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्। अथ० 3.19.2.
3. तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
   इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥
   अथ० 3.19.4.
4. एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। अथ० 3.19.5.
5. अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
   जयामित्रान्प्रपद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन॥
   अथ० 3.19.8.

अर्थात्—(1) मेरा यह वेदादि शास्त्रों का ज्ञान (ब्रह्म) तीक्ष्ण (संशितं) है, इसलिए

इनका पराक्रम (वीर्यं) और बल (बलं) भी तीक्ष्ण (संशितं) हो गया है, जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके क्षत्रिय लोग (क्षत्रं) तीक्ष्ण (संशितं) जीर्ण न होने वाले और समय से पहले बूढ़े न होने वाले (अजरं) तथा विजयशील (जिष्णुः) हो जावें। (2) मैं इनके राष्ट्र को (राष्ट्रं) तीक्ष्ण बनाता हूँ (संस्यामि) इनके आत्मिक बल (ओजः), पराक्रम (वीर्यं) और शारीरिक बल को (बलं) तीक्ष्ण बनाता हूँ। (3) मैं जिनका पुरोहित हूँ वे कुल्हाड़े से (परशोः) अधिक तीक्ष्ण हैं (तीक्ष्णीयांसः) अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं और इन्द्र के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। (4) मैं इनके राष्ट्र को उत्तम वीरों वाला (सुवीरं) बनाकर बढ़ाता हूँ। (5) मेरे ब्रह्मज्ञान से अथवा मुझ ब्राह्मण द्वारा तीक्ष्ण की हुई (ब्रह्मसंशिते) हे इन सैनिकों की बाणावली (शरव्ये) तू शत्रु पर पड़, उन्हें विजय कर, उनके श्रेष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्तियों को (वरंवरं) मार डाल, इनमें से कोई भी न बचने पाये।

पुरोहित ने अपने ब्रह्म अर्थात् वेदादि शास्त्रों के ज्ञान को बहुत तीक्ष्ण बना लिया है। उसने भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का खूब गहरा अध्ययन और मनन किया है। इससे उसके मस्तक में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में बड़ा गम्भीर विस्तृत ज्ञान भर गया है। वह अपने इस ज्ञान के बल पर राष्ट्र के नवयुवकों को इस प्रकार के उपदेश देता है जिनसे उनके विचार और आचार अति उत्कृष्ट कोटि के हो जाते हैं। इन ऊँचे आचार और विचारों का परिणाम यह होता है कि राष्ट्र के नवयुवकों का ओज, वीर्य और बल इतना बढ़ जाता है कि जब वे राष्ट्र की सेनाओं में प्रविष्ट होकर युद्ध में लड़ने के लिए जाते हैं तो कोई शत्रु उनका मुकाबला नहीं कर सकता। वे अपनी शक्ति के कारण शत्रुओं के लिए असह्य हो जाते हैं। वे उनके लिए परशु से भी, अग्नि से भी और वज्र से भी तीक्ष्ण हो उठते हैं। इस प्रकार पुरोहितों के उपदेश सारे राष्ट्र को वीरों से भर देते हैं। सारा का सारा राष्ट्र तीक्ष्ण हो जाता है। जब ब्राह्मण (ब्रह्म) पुरोहितों के वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से तीक्ष्ण बने हुए सैनिक युद्ध में लड़ने जाते हैं तो उनकी पैनी बाणावली के आगे कोई भी शत्रु बचने नहीं पाता।

इस सूक्त के वर्णन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अपने सैनिकों को अद्वितीय तेजस्वी और असह्य बलशाली बनाने के लिए राष्ट्र में पुरोहितों का प्रबन्ध होना चाहिए। सूक्त में पुरोहित सेना के सैनिकों के सम्बन्ध में अपने उद्गार प्रकट कर रहा है वह स्पष्ट कह रहा है कि—

देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया।

अथ० 3.19.6.

अर्थात्—'इन्द्र जिनमें मुख्य है ऐसे ये विजिगीषु (देवाः) सैनिक (मरुतः) सेना के साथ (सेनया) चलें।'

पुरोहितों का सैनिकों के साथ यह सम्बन्ध-वर्णन सूचित करता है कि सेनाओं के अपने विशेष पुरोहित भी होने चाहिए। ये पुरोहित सैनिकों के आचार-विचारों को

पवित्र रखने का प्रयत्न किया करेंगे। अपवित्र आचार-विचार से आदमी दुर्बल हो जाता है। ये पुरोहित सेनाओं के विचारों और आचारों को पवित्र रखकर उन्हें तेजस्वी और सबल रखा करेंगे।

परन्तु इसके साथ ही ऊपर उद्धृत चौथे मन्त्र में कहा गया है कि पुरोहित सारे राष्ट्र को ही सुवीर बनाकर बढ़ाता है। इससे यह सूचित होता है कि ऐसे भी पुरोहित होने चाहिए जिनका राष्ट्र के आबालवृद्ध सभी स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध हो—जो राष्ट्र के सर्वसाधारण नर-नारियों के विचारों और आचारों की पवित्रता का ध्यान रखते हों और इस प्रकार उन्हें पवित्र रखकर वीर नर-नारी बनने में सहायता देते हों। इस प्रकार इस सूक्त के मर्माशय को ध्यान में रखने से यह बात द्योतित होती है कि राष्ट्र में एक पुरोहित-विभाग होना चाहिए जिसके अधीनस्थ पुरोहित लोग सेनाओं के सैनिकों तथा राष्ट्र के नागरिक नर-नारियों के विचारों और चरित्रों की पवित्रता का ध्यान रखा करेंगे और उनके चरित्र सुरक्षित रखकर उन्हें ओजस्वी, पराक्रमी और बलशाली बनाया करेंगे। इस प्रकार का पुरोहित विभाग आदर्श वीर सैनिकों की उपलब्धि में बहुत अधिक सहायक होगा।

प्रतीत होता है कि रामायण-महाभारतादि इतिहासों में राजाओं के पुरोहितों का जो वर्णन आता है एवं चाणक्य के कौटलीय अर्थशास्त्र में मन्त्रि-पुरोहित का जो वर्णन आता है उसका आधार वेद के इसी प्रकार के स्थल हैं।

(ख) राष्ट्र के लोगों की प्रवृत्तियों का निरीक्षण करके सेना के लिए व्यक्ति छाँटे जाएँ

मरुतों के इक्कीस, उनंचास और त्रेसठ भेद

वेद में अनेक स्थानों पर 21, 49 और 63 मरुतों का वर्णन आता है। उदाहरण के लिए ऋग्० 5.52.17 में कहा गया है कि—

सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।

अर्थात्—'सात गुणा सात (सप्त सप्त) अर्थात् 49 मरुत् जोकि शक्तिशाली हैं (शाकिनः) उनमें से एक-एक मुझे सैंकड़ों प्रकार के (शता) मंगल प्रदान करता है।'

ऋग्० 8.96.8 में कहा गया है कि—

त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधानाः।

अर्थात्—'हे इन्द्र तुम्हें 63 (त्रिः षष्टिः)[1] मरुत् बढ़ाने वाले हैं।'

अथर्व० 13.1.3 में कहा है—

त्रिषप्तासो मरुतः।

अर्थात्—'मरुत् इक्कीस हैं।'

ये इक्कीस, उनन्चास और त्रेसठ मरुत् क्या हैं इसका स्पष्ट उल्लेख हमें

[1] षष्ट्युत्तरं त्रिसंख्याका इति सायणः।

अभी तक संहिताओं में उपलब्ध नहीं हो सका है। ये मरुतों के प्रकार प्रतीत होते हैं। परन्तु इन प्रकारों का स्पष्ट परिगणन हमें नहीं मिल सका है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में मरुतों के ये 21, 49 और 63 भेद एक स्थान में कहीं भी गिनाये हुए नहीं मिलते। यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों में मरुतों के अधोलिखित भेद गिनाये हुए मिलते हैं—

1. शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च ।
   शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यहाः ॥ यजु० 17.80.
2. ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च ।
   मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ यजु० 17.81.
3. ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च ।
   धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥ यजु० 17.82.
4. ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनाजिच्च सुषेणश्च ।
   अन्तिमित्रश्च दूरे अमित्रश्च गणः ॥ यजु० 17.83.
5. ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन ।
   मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥
   यजु० 17.84.
6. स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।
   क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ यजु० 17.85.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ देने की आवश्यकता नहीं है। इन छः मन्त्रों में प्रत्येक में सात-सात नाम गिनाये गये हैं। उन्हें पाठक मन्त्र पढ़कर स्वयं जान सकते हैं। परन्तु इन मन्त्रों में परिगणित नामों को गिनने पर मरुतों के 42 प्रकार उपलब्ध होते हैं। 49 अथवा 63 नहीं। ये 42 नाम मरुतों की श्रेणियों के द्योतक हैं यह चौथे मन्त्र यजु० 17.83 में पठित 'गणः' शब्द से प्रकट होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में मरुतों के ये सारे 42 नाम उपलब्ध नहीं होते। इनमें से कुछ मिलते हैं और कुछ नहीं। फिर इन 42 नामों के अध्ययन से यह स्पष्ट नहीं होता कि ये मरुतों के कौन-कौन से भेद या प्रकार के द्योतक हैं। इनमें से कई नाम तो ऐसे हैं जिनसे किसी श्रेणी या प्रकार का बोध होना ही सम्भव प्रतीत नहीं होता है। उदाहरण के लिए दूसरे मन्त्र यजु० 17.81 में 'ईदृङ्', 'अन्यादृङ्', 'सदृङ्' और 'प्रति-सदृङ्' नाम आये हैं। इनका क्रम से 'ऐसा', 'दूसरे जैसा', 'समान', और 'प्रत्येक के समान' ऐसा अर्थ होता है। इन अर्थों से तो मरुतों की कोई श्रेणी या प्रकार सूचित नहीं होते। फिर पाँचवें मन्त्र यजु० 17.84 में उन्हें 'ईदृक्षासः', 'एतादृक्षासः', 'सदृक्षासः' और 'प्रतिसदृक्षासः' इन नामों से कहा गया है। इनका अर्थ भी क्रम से 'ऐसे', 'ऐसे', 'समान' और 'प्रत्येक के समान' इस प्रकार का ही होता है। दूसरे मन्त्र यजु 17.81 के शब्द ०, वचन में आये हैं और 'क्विन्' प्रत्ययान्त है और पाँचवें मन्त्र यजु०

17.84 के शब्द बहुवचन में आये हैं और 'कन्न्' प्रत्ययान्त हैं जिनमें प्रत्यय से पूर्व षकार का छान्दस आगम है। केवल प्रत्यय का भेद है। प्रकृति एक ही है। पर प्रत्यय का अर्थ वही है। इसलिए ये शब्द समानार्थक हैं। दूसरे मन्त्र यजु० 17.81 के 'अन्यादृङ्' शब्द के स्थान में पाँचवें मन्त्र यजु० 17.84 में 'एतादृक्षासः' शब्द आया है। 'एतादृक्षासः' शब्द इसी मन्त्र यजु० 17.84 के ही 'ईदृक्षासः' का समानार्थक है। 'ईदृक्षासः' सर्वनाम शब्द 'इदम्' पूर्वक 'दृश्' धातु से बनता है और 'एतादृक्षासः' सर्वनाम शब्द 'एतद्' पूर्वक 'दृश्' धातु से बनता है। 'इदम्' और 'एतद्' शब्द समानार्थक हैं। इस प्रकार 'ईदृङ्', 'ईदृक्षासः' और 'एतादृक्षासः' वस्तुतः एक ही हैं, 'सदृङ्' और 'सदृक्षासः' भी एक ही हैं और 'प्रतिसदृङ्' और 'प्रतिसदृक्षासः' भी एक ही हैं। 'अन्यादृङ्' पृथक् है। इस प्रकार देखने से 42 भेद न रहकर 38 भेद रह जाते हैं। फिर 'सदृङ्' और 'प्रतिसदृङ्' में भी कोई विशेष भेद नहीं है। इस दृष्टि से 37 ही भेद रह जाते हैं। इसी भाँति दूसरे मन्त्र यजु० 17.81 के 'मितः', 'संमितः', और 'सभराः' तथा पाँचवें मन्त्र यजु० 17.84 के 'मितांसः', 'संमितासः' और 'सभरसः' में भी कोई विशेष भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। इनमें प्रथम दो-दो में तो केवल वचन का भेद है, अर्थ का भेद नहीं है। और तीसरे में केवल प्रत्यय का भेद है। अर्थभेद यहाँ भी नहीं है। इस दृष्टि से मरुतों के ये भेद केवल 34 ही रह जाते हैं। इनमें से भी कइयों के अर्थों में लम्बा चौड़ा भेद प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः यह सारा विषय गहरे अन्वेषण की अपेक्षा रखता है। मरुतों को 21 किस दृष्टि से कहा गया है, 49 कहने का क्या अभिप्राय है और फिर 63 कहने में क्या रहस्य है, यह सब अनुसंधान का विषय है। फिर ये 21, 49 और 63 प्रकार कहीं एकत्र क्यों नहीं गिनाये गये, यजुर्वेद में 42 नामों का ही परिगणन क्यों हुआ, फिर उनमें भी अनेक नाम समानार्थक क्यों प्रतीत होते हैं, यह सब भी अभी गहरा विचार माँगता है। फिर ये 42 नाम मरुतों की किन श्रेणियों के सूचक हैं यह भी अभी विचारास्पद है। कई नामों से तो कोई श्रेणी बनती ही प्रतीत नहीं होती। मरुतों के मन्त्रों का गम्भीर अध्ययन होने पर सम्भवतः उनके कोई दूसरे ही विशेषण उनके 21, 42 और 63 प्रकारों पर प्रकाश डाल सकें। और उनके आधार पर इनके इतने भेद बन सकें। हम अभी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते।

सात प्रकार की प्रवृत्तियों वाले मरुत् (सैनिक)

हाँ, अभी ऊपर उद्धृत छठा मन्त्र यजु० 17.85 एक ऐसा मन्त्र है जिसमें गिनाये हुए मरुतों के सात नामों से हमें कुछ परिणाम निकलता हुआ प्रतीत होता है। इस मन्त्र में मरुतों के निम्न नाम आये हैं—

1. स्वतवान्,
2. प्रघासी,
3. सान्तपन,

4. गृहमेधी,
5. क्रीडी,
6. शाकी, और
7. उज्जेषी ।

इनमें से प्रत्येक को क्रम से लीजिए—

1. **स्वतवान्**—यह शब्द 'स्व' और 'तवस्' पदों के योग से बनता है । स्व का अर्थ होता है—अपना, अपनी आत्मा । और 'तवस्' का अर्थ होता है—बल । इसलिए 'स्वतवान्' का अर्थ हुआ—जिसके अन्दर अपना बल हो, जिसकी आत्मा में बल हो । आत्मा का बल विचारों का बल हुआ करता है । इसलिए 'स्वतवान्' का भाव हुआ—जिसके अन्दर अपने विचारों का, अपनी भावनाओं का बल हो । जिन लोगों में ऊँचे विचार, ऊँची भावनाएँ, ऊँचे आदर्श काम कर रहे हों, जो सत्य, न्याय, दया, अहिंसा, आत्म-त्याग आदि प्रेरक भावों से चलते हों, उन्हें 'स्वतवान्' कहेंगे । मरुतों को 'स्वतवान्' कहने का यह तात्पर्य है कि इनमें कितने ही लोग ऐसे होते हैं जो इस प्रकार की ऊँची भावनाओं से प्रेरित होकर सेनाओं में प्रविष्ट होते हैं । ये लोग संसार से असत्य, अन्याय, अत्याचार को मिटाना चाहते हैं । इसके लिए ये अपना रुधिर बहाने के लिए भी उद्यत रहते हैं । किसी और कारण से नहीं, किन्तु इन्हीं उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर ये लोग क्षत्रिय का, सैनिक का, जीवन व्यतीत करने के लिए आते हैं । इसलिए इस प्रकार के मरुत् (सैनिक) स्वतवान् कहलाते हैं । इनका अपना आदर्शवाद इन्हें उड़ाये लिए जाता है ।

2. **प्रघासी**—यह शब्द 'प्र' पूर्वक 'धस्लृ' धातु से बनता है । 'प्र' का अर्थ होता है—उत्कृष्टरीति से, भली-भाँति । और 'धस्लृ' धातु का अर्थ होता है—खाना । जो लोग भली-भाँति खाने वाले हों, भोजन में विशेष अभिरुचि रखने वाले हों, उन्हें प्रघासी कहेंगे । कई लोग ऐसे होते हैं जो भोजन के पीछे चलते हैं । उन्हें जहाँ से भोजन मिलेगा वे वहीं चले आयेंगे । उन्हें भोजन देकर उनसे जो जितना चाहे काम ले लें । उन्हें भोजन से निश्चिन्त कर दीजिए और वे आपका साथ कभी नहीं छोड़ेंगे । इस प्रकार के भोजन प्रधान लोगों को प्रघासी कहते हैं । मरुतों को प्रघासी कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें कितने ही लोग ऐसे होते हैं जो भोजन-वस्त्र की निश्चिन्तता का प्रलोभन मिलने के कारण सेना में आये हैं । इन्हें जब तक खाने को यथेष्ट मिलता रहेगा तब तक मरुत् (सैनिक) जीवन को कभी नहीं छोड़ेंगे । जो इन्हें भोजन देगा उसके लिए ये अपना खून बहा देंगे । इस प्रकार के भोजन-प्रधान सैनिकों को प्रघासी कहते हैं ।

3. **सान्तपन**—यह शब्द 'सम्' पूर्वक 'तम्' धातु से बनता है । जो भली-भाँति तपे हुए हों, जिनके अन्दर किसी कारण गरमी की, क्रोध की, ज्वालाएँ उठ रही हों, उन्हें सांतपन कहेंगे । अनेक लोग ऐसे होते हैं जिनका यदि कभी अपमान हो जाये, जिनकी यदि कभी किसी से कोई हानि हो जाये, तो वे उसे कभी नहीं भूलेंगे । वे

उस अपमान और हानि से तप उठेंगे। उनका क्रोध भड़क उठेगा। जब तक वे उसका बदला नहीं ले लेंगे तब तक उन्हें शान्ति न पड़ेगी। इस प्रकार की बदला लेने की प्रवृत्ति वाले, उग्रता की प्रवृत्ति वाले, लोग सांतपन कहलायेंगे। मरुतों को सांतपन कहने का भाव यह है कि इनमें कितने ही लोग ऐसे होते हैं जो इस बदला लेने की, क्षमा न करने की, उग्रता की, प्रवृत्ति वाले होते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के वश में होकर ये लोग अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते हैं। इनकी इस प्रतिहिंसा की वृत्ति को भड़का कर इन्हें कहीं भी जु झालो। इस प्रवृत्ति के सैनिक सांतपन हैं।

4. **गृहमेधी**—यह शब्द 'गृह' और 'मेध' के योग से बनता है। गृह का अर्थ होता है घर और मेध का अर्थ होता है यज्ञ। जो अपने घर को यज्ञ समझे वह गृहमेधी कहलायेगा। गृहमेधी कोई व्यक्ति यज्ञ में विधिपूर्वक पत्नी का हाथ पकड़ने से ही होता है। गृहस्थ होकर उसे भाँति-भाँति के यज्ञ करने होते हैं और अपने सारे गृहस्थ जीवन को ही एक महान् यज्ञ समझना होता है। जो व्यक्ति अपने घर को, अपने गृहस्थ जीवन को, यज्ञ की भाँति पवित्र समझे वह गृहमेधी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति घर की पवित्रता को (sanctity of home and hearth) कभी नष्ट होने देना सहन नहीं कर सकते। घरों की पवित्रता को स्थिर रखने के लिए ये लोग मर मिटेंगे। यों तो यह भावना थोड़ी बहुत मात्रा में सभी लोगों में पाई जाती है। पर कुछ लोगों में यह भावना बहुत प्रबल मात्रा में होती है। उन्हें पता लग जाये कि कहीं कोई अत्याचारी किसी के घर की पवित्रता को नष्ट करना चाहता है, किसी की बहू-बेटी की ओर बुरी दृष्टि से देखता है, ये लोग झट अत्याचारी को दण्डित करने के लिए पहुँच जायेंगे। अन्य प्रकार के अपराधों पर इन्हें इतना क्रोध नहीं आता जितना इस प्रकार के अपराधों पर। इस प्रकार के अपराधों को ये लोग सह ही नहीं सकते। इस प्रकार के लोगों को गृहमेधी कहते हैं। यों तो सभी गृहमेधी अर्थात् गृहस्थ होते हैं। पर वास्तव में गृहमेधी ऐसे ही लोग होते हैं। घर के जीवन की पूरी महिमा को गहरे रूप में ये ही अनुभव करते हैं। मरुतों को गृहमेधी कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें अनेक लोग ऐसे होते हैं जो घरों की पवित्रता को बड़ा अनुभव करते हैं। यदि इन्हें यह पता लग जाये कि कहीं कोई शत्रु राष्ट्र के नागरिकों के घरों की पवित्रता पर हाथ डालना चाहता है तो ये लोग उसकी रक्षा के लिए सब कुछ करने के लिए उद्यत हो जावेंगे। इनमें यह भावना विशेष प्रबल होती है। इस प्रकार की भावना वाले सैनिकों को गृहमेधी कहते हैं।

5. **क्रीडी**—यह शब्द 'क्रीड' धातु से बनता है। क्रीड धातु का अर्थ खेलना होता है। जिसे खेलना-कूदना बहुत पसन्द हो, जो भाँति-भाँति की क्रीडाओं में, खेलों में, बहुत रुचि रखता हो, उसे क्रीडी कहेंगे। अनेक लोगों की क्रीडाओं में विशेष रुचि हुआ करती है। ऐसे लोग क्रीडी होते हैं। मरुतों को क्रीडी कहने का यह भाव है कि इनमें अनेक लोग ऐसे हैं जिन्हें भाँति-भाँति की खेलें बहुत पसन्द हैं। क्रीडाप्रिय सैनिकों को क्रीडी कहते हैं। क्रीडाप्रिय सैनिकों के लिए शस्त्रास्त्र चालन भी एक प्रकार की क्रीडा ही

होती है और उन्हें इसमें क्रीडा का-सा ही आनन्द मिलता है।

6. **शाकी**—यह शब्द 'शक्लृ' धातु से बनता है। 'शक्लृ' धातु का अर्थ होता है—शक्ति, सामर्थ्य। जो शक्तिशाली हों, जिसमें सामर्थ्य हो, जो अपने शरीर में यथेष्ट बल रखता हो, उसे शाकी कहते हैं। अनेक लोग ऐसे होते हैं जिन्हें शक्ति से स्वाभाविक प्रेम होता है। वे सदा अपने शरीर की शक्ति बढ़ाने में लगे रहते हैं। ऐसे शक्ति से प्रेम रखने वाले लोग शाकी कहलाते हैं। एक और प्रकार के शाकी लोग भी होते हैं। इन्हें शक्ति के, अधिकार के, पदों पर पहुँचने की इच्छा रहती है। ये लोग शक्ति अपने हाथ में रखकर दूसरों पर शासन करना चाहते हैं। इन दोनों ही प्रकार की शक्ति से प्रेम (love of power) रखने वाले लोग शाकी कहलायेंगे। मरुतों को शाकी कहने का अभिप्राय यह है कि उनमें अनेक लोग ऐसे हैं जो इन दोनों प्रकारों की शक्ति से प्रेम रखते हैं। इस प्रकार के शक्ति के प्रेमी सैनिक शाकी हैं।

7. **उज्जेषी**—इस शब्द का अर्थ होता है जीतने की इच्छा वाला, विजय की कामना वाला। यह शब्द 'जि' धातु से बनता है जिसका अर्थ जीतना होता है। अनेक लोग ऐसे होते हैं जिनमें विजय की भावना स्वाभाविक होती है। वे नये-नये प्रदेशों और नई-नई विघ्न-बाधाओं को जीतने में विशेष आनन्द अनुभव करते हैं। इस प्रकार के विजयाभिलाषी (lovers of conquest and adventure) पुरुषों को उज्जेषी कहते हैं। मरुतों को उज्जेषी कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें अनेक लोग ऐसे हैं जिनमें विजय की भावना प्रबल रूप से विद्यमान है। ऐसे विजिगीषु स्वभाव वाले सैनिक उज्जेषी कहलाते हैं।

इस प्रकार मरुतों को स्वतवान्, प्रघासी, सांतपन, गृहमेधी, क्रीडी, शाकी और उज्जेषी कहकर उनकी सात प्रकार की प्रवृत्तियाँ बताई गई हैं। इन सात प्रकार की प्रवृत्तियों को वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि यदि राष्ट्र की सेनाओं के लिए अच्छे सैनिक प्राप्त करने हों तो उसके लिए ये सात प्रकार के क्षेत्र हैं। इन सात प्रकार की प्रवृत्तियों वाले लोगों में से अच्छे सैनिक मिल सकेंगे। इस प्रकार राष्ट्र के लोगों की प्रवृत्तियों को पता लगाने का सदा प्रयत्न होना चाहिए। और जो प्रवृत्तियाँ सैनिक जीवन के लिए अनुकूल हों उन प्रवृत्तियों वाले लोगों को सेनाओं में प्रविष्ट करना चाहिए। कहना नहीं होगा कि 'स्वतवान्' श्रेणी के लोग सबसे आदर्श सैनिक होंगे। क्योंकि उनका प्रेरक भाव विशुद्ध आदर्शवाद होता है।

यजुर्वेद 17.85 मन्त्र की यह जो व्याख्या ऊपर की गई है वह सर्वथा ठीक है, अथवा इसकी किसी और ही प्रकार की व्याख्या होगी, यह तो निश्चयपूर्वक तभी कहा जा सकेगा जब मरुतों के 21, 49 और 63 प्रकारों पर पूरा अनुसंधान हो चुकेगा। आगे आने वाले अनुसंधानकर्ताओं को हमारी यह व्याख्या सम्भवतः कुछ सहायता दे सके।

(ग) बाधित सैनिक शिक्षा

वेद के कई प्रसंगों को देखने से यह ज्ञात होता है कि प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सैनिक शिक्षा बाधित होनी चाहिए। प्रत्येक प्रजाजन को युद्ध-विद्या का अभ्यास आवश्यक तौर पर कराया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिए निम्न मन्त्रों को देखिए—

1. विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि। अथ० 4.31.4.
2. विशंविशं युधये सं शिशाधि। ऋग्० 10.84.4.

दोनों मन्त्रों में समान शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भेद केवल इतना है कि ऋग्वेद के पाठ में 'युधये' पद का प्रयोग हुआ है और अथर्ववेद के पाठ में 'युद्धाय' पद का प्रयोग हुआ है। इन दोनों पदों का अर्थ एक ही है। इसलिए हम दोनों मन्त्रों का अर्थ इकट्ठा ही कर देते हैं। दोनों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हे मन्यु तुम प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को (विशं विशं) युद्ध के लिए (युद्धाय, युधये) भली-भाँति सुशिक्षित करो (सं शिक्षाधि)।' जहाँ का यह मन्त्र है उन सूक्तों में अपने सैनिकों के भीतर शत्रु के प्रति मन्यु को उद्दीप्त किया जा रहा है। सूक्तों में कवित्वमयी भाषा में मन्यु में व्यक्तित्व का आरोप करके उसे सम्बोधन किया जा रहा है। मन्यु हमारे सैनिकों में भर गया है और वह उन्हें विजय तथा शत्रु को पराजय दिलवा रहा है। इसी प्रसंग से यह प्रार्थना भी की गई है कि वह प्रजा के प्रत्येक जन को युद्ध के लिए अच्छी प्रकार सुशिक्षित करे। मन्यु से की गई इस प्रार्थना की यह स्पष्ट व्यंजना है कि राष्ट्र के प्रत्येक प्रजाजन को युद्ध-विद्या की शिक्षा दी जानी चाहिए और वह शिक्षा भली-भाँति दी जानी चाहिए। जिन लोगों ने क्षत्रिय वर्ण का जीवन व्यतीत करना होगा उनके लिए तो युद्ध-विद्या का अभ्यास और उनके अनुसार आचरण जीवनभर का कर्तव्य होगा, और, जिन लोगों ने ब्राह्मणादि अन्य वर्णों का जीवन व्यतीत करना होगा वे इस सैनिक शिक्षा से आवश्यकता पड़ने पर आत्मरक्षा का काम ले सकेंगे और संकट के समय आने पर राष्ट्र के लिए युद्ध में भी लड़ सकेंगे। ब्राह्मणों को तो अध्यापन के लिए भी युद्ध-विद्या का सीखना आवश्यक होगा। क्योंकि सब प्रकार की विद्याओं का अध्यापन ब्राह्मण के मुख्य कर्तव्यों में से है। इस प्रकार वेद के अनुसार युद्ध-विद्या की शिक्षा प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक तौर पर मिलनी चाहिए।

20

राष्ट्रीय ध्वज

पीछे 'रण-नीति' नामक प्रकरण में हमने देखा है कि युद्ध के समय सेनाओं के ध्वज (झण्डे) ऊँचे रहने चाहिए। अब, युद्ध के समय जो झण्डे सेनाओं के साथ चलेंगे वे उनके राष्ट्रिय झण्डे ही होंगे इसमें तो किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं हो सकता। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये राष्ट्रिय झण्डे हों किस प्रकार के ? इस प्रश्न का उत्तर निम्न मन्त्र से प्राप्त होता है—

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।

अथ० 5.21.12.

अर्थात्—'ये विजिगीषु सेनाएँ (देवसेनाः) सूर्य के झण्डे वाली (सूर्यकेतवः) और एकचित होकर चल रही हैं।'

इस मन्त्र में सेनाओं के झण्डे को सूर्य का झण्डा कहा है। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि सेनाओं के साथ चलने वाले राष्ट्रिय झण्डे पर 'सूर्य' का चिह्न होना चाहिए। सूर्य में प्रकाश है, तेज है और शक्ति है। झण्डों पर रहने वाला सूर्य का चिह्न राष्ट्र के प्रकाश, तेज और शक्ति का प्रतिनिधि होगा। प्रकाश ज्ञान, सत्य और न्याय का सूचक होगा। जहाँ प्रकाश नहीं होता वहीं अविद्या, असत्य और अन्याय निवास करते हैं और जहाँ प्रकाश रहता है वहाँ विद्या, सत्य और न्याय का राज्य रहता है। सूर्य के चिह्न से अंकित झण्डा इस बात का द्योतक होगा कि हमारा राष्ट्र ज्ञान, सत्य और न्याय का पुजारी है और उस ज्ञान, सत्य और न्याय की रक्षा के लिए वह तेज और शक्ति की उपासना करता है। हम अपने राष्ट्र के व्यक्तियों में तेज और शक्ति इसलिए नहीं भरते कि वे उनका आश्रय लेकर दूसरे लोगों को पदाक्रान्त करें प्रत्युत हम उन्हें तेजस्वी और शक्तिशाली इसलिए बनाते हैं कि वे संसार में ज्ञान, सत्य और न्याय की रक्षा कर सकें।

अथर्ववेद 11.10.2 में सेनापति को संबोधन करके प्रजाजन कह रहे हैं—

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।

अर्थात्—'हे तीन प्रकार की सेनाओं का मेल रखने वाले (त्रिषन्धे) सेनापति लाल रंग के (अरुणैः) झण्डों से युक्त (केतुभिः) तुम्हारी शक्ति और तुम्हारे राज्य को हम

जानते हैं।'

पुनः अथर्व० 11.10.7. में कहा है—

त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः।

अर्थात्—'तीन प्रकार की सेनाओं का मेल रखने वाले (त्रिषन्धे) सेनापति की सेना द्वारा विजय प्राप्त कर लेने पर लाल रंग के (अरुणाः) झण्डे (केतवः) लहराने लगें।'

राष्ट्रिय ध्वज से द्योतित होने वाली भावनाएँ

इन दोनों मन्त्रों के साथ ऊपर के सूर्यांकित झण्डे का वर्णन करने वाले मन्त्र को मिलाकर पढ़ने से यह परिणाम निकलता है कि राष्ट्रिय झण्डे के वस्त्रों का रंग लाल होना चाहिए और उस पर श्वेत रंग में सूर्य का चिह्न होना चाहिए। लाल रंग अनुराग का, प्रीति का, स्नेह का प्रतिनिधि है। संस्कृत में प्रीति का वाचक 'राग' शब्द और लाल रंग का वाचक 'रक्त' शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार लाल रंग की भूमि पर सूर्य के श्वेत चिह्न वाला राष्ट्रिय झण्डा इस बात का द्योतक होगा कि हमारे वैदिक राष्ट्र की रीति-नीति का आधार अनुराग है, प्रीति और स्नेह है। इस अनुराग के आधार पर खड़े होकर हम संसार में ज्ञान, सत्य और न्याय की स्थापना करना चाहते हैं और उस ज्ञान, सत्य और न्याय की स्थापना और रक्षा के लिए ही हमने तेज और शक्ति का सहारा लिया है। एक शब्द में लाल रंग का सूर्यांकित वैदिक राष्ट्रिय झण्डा प्रेम, प्रकाश, तेज और शक्ति का प्रतिनिधि होगा। इस झण्डे की छाया में ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, अज्ञान, अन्याय और अत्याचार नहीं रह सकेंगे।

राष्ट्रिय और विश्वराष्ट्रिय ध्वज

वेद में अन्ततोगत्वा समग्र धरती पर एक राष्ट्र का निर्माण करने की भावना है। जब सारी धरती एक राष्ट्र होगी तब तो उपर्युक्त प्रकार का राष्ट्रिय ध्वज बना सकना अत्यन्त सुगम होगा। परन्तु जब तक सारी धरती एक राष्ट्र नहीं बनती और इस पर अनेक राष्ट्रों की सत्ता विद्यमान है तब तक कोई एक राष्ट्र तो इस प्रकार का झण्डा बना लेगा, पर शेष राष्ट्रों का झण्डा किस प्रकार का होगा? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कहेंगे कि जब तक सारी धरती एक राष्ट्र नहीं बनती तब तक विभिन्न राष्ट्र अपने-अपने झण्डों पर सूर्य का चिह्न तो अवश्य रखेंगे और उसमें लाल रंग का समावेश भी कहीं न कहीं अवश्य रहेगा। इसके अतिरिक्त वे अपने राष्ट्र की किसी विशेषता को ध्यान में रखकर उसे प्रकट करने के लिए किसी नये चिह्न और नये रंग का समावेश भी अपने झण्डे में कर सकेंगे। कुछ भी हो, वेद ने उपर्युक्त राष्ट्रिय झण्डे का वर्णन करके अपने कहने के अद्भुत ढंग में राष्ट्रों को किस प्रकार की राजनीति का अनुसरण करना चाहिए यह अति स्पष्ट कर दिया है।

21

युद्ध विभाग सम्राट् (इन्द्र) की सरकार के अधीन रहेगा

राष्ट्रों का शासन राजमध्यस्थ या राज्य-संघ राज्य प्रणाली से होना चाहिए। प्रत्येक देश में छोटे-छोटे राज्य होंगे। ये राज्य अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र होंगे। ये सारे राज्य मिलकर एक राष्ट्रपति चुन लेंगे। वेद की भाषा में इस राष्ट्रपति को इन्द्र या सम्राट् कहते हैं। इन्द्र की सरकार का काम इन माण्डलिक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित रखना तथा इन लघु राज्यों से बने हुए सम्पूर्ण राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध निर्धारित करना होगा।

वेद के अनेक स्थलों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह परिणाम निकलता है कि राष्ट्रों के युद्ध-विभाग इन्द्र या सम्राट् की सरकारों के अधीन हुआ करेंगे। माण्डलिक राज्यों के पास युद्ध-विभाग नहीं रहा करेंगे। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण नीचे उपस्थित किये जाते हैं। सबसे पहले ऋग्वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

न स राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।
आ सत्वनैरजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन्॥

ऋग्॰ 5.37.4.

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

'वह राजा व्यथा को प्राप्त नहीं होता जिस राजा के यहाँ इन्द्र (सम्राट्) भूमि से मित्रता रखने वाले (गोसखायम्) तीव्र ऐश्वर्य को (सोमं) पान करता है, ऐसा राजा अपने अनुचरों के साथ (सत्वनैः)[1] विचरण करता है (अजति), अपने बाधक शत्रुओं को (वृत्रं) मार लेता है, उसे अच्छा निवास प्राप्त होता है (क्षितीः क्षेत)[2] वह सौभाग्यशाली नाम वाला (सुभगो नाम) हो जाता है और पुष्टि को प्राप्त करने वाला (पुष्यन्) बन जाता है।'

सोम का एक अर्थ ऐश्वर्य होता है। यों भी जिस धातु से यह शब्द बनता है

[1] अनुचरैरिति इति सायणः।
[2] निवासान् निवसते इति सायणः।

उसका एक अर्थ ऐश्वर्य भी होता है। प्रस्तुत मन्त्र में सोम (ऐश्वर्य) को गोसखा अर्थात् भूमि का मित्र कहा है। ऐश्वर्य को भूमि का मित्र कहने का तात्पर्य यह है कि ऐश्वर्य का भूमि से गहरा सम्बन्ध है—वह भूमि से प्राप्त होता है। मन्त्र का भाव यह है कि जिस राजा के राज्य में इन्द्र (सम्राट्) को भूमि से प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य पान करने के लिए मिलता है अर्थात् जो राजा इन्द्र को कर के रूप में भाँति-भाँति का भूमि-जनित ऐश्वर्य प्रदान करता है उस राजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं प्राप्त होता। वह पुष्टि को प्राप्त करता है, सौभाग्यशाली हो जाता है, शत्रु उसे तंग नहीं कर सकते और वह अपने अनुचरों के साथ आनन्द से रहता है।

इन्द्र सम्राट् को कहते हैं। इसलिए इन्द्र की तुलना में मन्त्र का राजा माण्डलिक राजा ही होगा। माण्डलिक राजा ही अपने सम्राट् को कर दे सकता है। पाठक मन्त्र के वर्णन को ध्यान से देखें। माण्डलिक राजा सम्राट् को कर देता है। इसके बदले में माण्डलिक राजा को सम्राट् से रक्षा प्राप्त होती है। सम्राट् की सहायता से माण्डलिक राजा अपने वृत्तों को, अपने बाधक शत्रुओं को, मारने में समर्थ होता है। इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि माण्डलिक राजा के पास अपने शत्रुओं को स्वयं मारने की शक्ति नहीं है। वह इन्द्र की शक्ति से ही अपने शत्रुओं को मार पाता है। कोई राजा अपने शत्रुओं को अपनी सेनाओं के बल से ही मारता है। माण्डलिक राजा में स्वयं अपने शत्रु मारने की शक्ति नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसके पास सेनाएँ नहीं हैं, उसके पास युद्ध-विभाग नहीं है। इन्द्र की शक्ति से वह अपने शत्रुओं को मारता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन्द्र के पास सेनाएँ हैं—उसके पास युद्ध-विभाग है।

इसी सम्बन्ध में पाठक अथर्व० 4.22 सूक्त भी देखने का कष्ट कर। सूक्त में सात मन्त्र हैं। इस सूक्त में एक माण्डलिक राजा के इन्द्र की सरकार के साथ सम्बन्ध जोड़ने का वर्णन है। इस अवसर पर माण्डलिक राजा का पुरोहित बोल रहा है। वह माण्डलिक राजा के साथ इन्द्र की सरकार का सम्बन्ध जुड़ जाने पर माण्डलिक राजा को क्या लाभ होगा, उसे क्या-क्या मंगल प्राप्त होंगे, इसका वर्णन कर रहा है। वह इन्द्र से माण्डलिक राजा के लिए प्रार्थना करता हुआ कह रहा है कि—

(1) हे इन्द्र (सम्राट्) तू इस राजा के शत्रुओं को फैलने मत दे, युद्धों में उन्हें नष्ट कर दे। (2) हे इन्द्र तू इसके लिए सारे शत्रुओं को नष्ट कर दे। (3) हे इन्द्र तू इसके शत्रु को तेजोहीन कर दे। (5) हे माण्डलिक राजा मैं तुम्हारे साथ सर्वोपरि शक्ति वाले (उत्तरावन्तं) इन्द्र को जोड़ता हूँ जिस इन्द्र की सहायता से विजय ही प्राप्त होती है, पराजय कभी नहीं। (6) हे माण्डलिक राजा तू इन्द्र का मित्र होकर (इन्द्र-सखा) शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर और उनके भोजनों को छीन ले।

सूक्त के इन वर्णनों से स्पष्ट है कि माण्डलिक राजा के इन्द्र के शासन में आ जाने पर उसे यह लाभ होगा कि इन्द्र उसके शत्रुओं को बढ़ने नहीं देगा, युद्धों में

उसके शत्रुओं को मार देगा, उसके शत्रुओं को तेजोहीन कर देगा। इन्द्र की मित्रता से उसे कभी हार का मुंह नहीं देखना पड़ेगा। उसकी सदा ही विजय होगी।

पाठक इन वर्णनों को ध्यान से देखें। माण्डलिक राजा को इन्द्र की मित्रता से ही विजय प्राप्त हो रही है। इन्द्र युद्धों में उसके शत्रुओं को मार रहा है, उन्हें तेजोहीन कर रहा है। सूक्त के इन वर्णनों का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि माण्डलिक राजा के पास अपनी सेनाएँ नहीं हैं, उसके पास अपना युद्ध-विभाग नहीं है। इन्द्र की सेनाएँ, इन्द्र का युद्ध-विभाग, उसके शत्रुओं का पराभव कर रहे हैं।

इसी सम्बन्ध में एक और बात पर ध्यान देना चाहिए। हमने देखा है कि मरुत् सैनिकों का वाचक है और रुद्र सेनापति का। इन्द्र को अनेक स्थानों पर 'मरुत्वान्' और 'रुद्रवान्' कहा गया है, जिसका अर्थ प्रचलित भाषा में 'सेनाओं वाला' और 'सेनापतियों वाला' होगा। सेनाओं का इन्द्र के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। सेनाओं के साथ इन्द्र का यह घनिष्ठ सम्बन्ध-वर्णन भी यही सूचित करता है कि सेनाएँ इन्द्र की सरकार के पास ही रहेंगी—युद्ध-विभाग सम्राट् की सरकार के अधीन ही रहेगा। माण्डलिक राजाओं के साथ सेनाओं के सम्बन्ध का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। माण्डलिक राजाओं के साथ सेना-सम्बन्ध के वर्णन का यह अभाव सूचित करता है कि माण्डलिक राज्यों के पास युद्ध-विभाग नहीं रहेगा। दो-चार स्थानों पर जहाँ 'राजा' के साथ सेनाओं का वर्णन हुआ है वहाँ राजा का सामान्य अर्थ लेकर उसकी व्याख्या सम्राट्परक हो जायेगी। क्योंकि समग्र वेद में सेनाओं के साथ इन्द्र के सम्बन्ध का ही अत्यधिक प्राचुर्य के साथ वर्णन हुआ है। अथवा 'राजा' के साथ दो-चार स्थलों पर मिलने वाले इस सेना-सम्बन्ध का यह तात्पर्य ले लेना होगा कि माण्डलिक राजाओं के पास अपने राज्यों के आन्तरिक प्रबन्ध को चलाने के लिए थोड़ी-सी सेना रह सकेगी, वे इतनी सेना नहीं रख सकेंगे जिसके आधार पर वे शत्रु राजाओं से स्वयं सीधे तौर पर युद्ध कर सकें।

एक और बात भी यहाँ देखने योग्य है। वेद के युद्ध-सम्बन्धी अनेक सूक्तों में इन्द्र को सेनापति के रूप में उपस्थित किया गया है। उसे मरुतों के साथ मिलकर, सेनाओं में सम्मिलित होकर, युद्ध करते हुए दिखाया गया है। सेनाओं का सेनापति रुद्र होते हुए, इन्द्र को इन अनेक स्थलों में सेनापति के रूप में क्यों उपस्थित किया गया है। इसका रहस्य इस भाग के 'रुद्र और इन्द्र' नामक अध्याय में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। पाठक उस अध्याय को एक बार फिर देख लें। माण्डलिक राजा का सेनापति के रूप में अथवा सेनाओं के साथ मिलकर युद्ध करते हुए रूप में वर्णन उपलब्ध नहीं होता। इन्द्र को सेनापति के रूप में उपस्थित करने वाले इन वर्णनों की भी यही स्पष्ट ध्वनि है कि युद्ध-विभाग माण्डलिक राजाओं के अधीन न होकर सम्राट् की सरकार के अधीन होना चाहिए।

इन उपर्युक्त हेतुओं से हमें असंदिग्ध रूप में इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि वेद की सम्मति में युद्ध-विभाग इन्द्र अर्थात् सम्राट् की सरकार के अधीन रहना

चाहिए। माण्डलिक राज्यों के पास युद्ध-विभाग नहीं रहना चाहिए। माण्डलिक राज्यों के पास अपने आन्तरिक प्रवन्ध के लिए आवश्यकता हो तो थोड़ी-सी सेना भले ही रहे। पर उनके पास इतनी सेना नहीं रहनी चाहिए जिससे वे स्वयं सीधे तौर पर अपने साथी माण्डलिक राज्यों से अथवा अपने संयुक्त राष्ट्र के वाहर के राष्ट्रों से युद्ध कर सकें। यदि माण्डलिक राज्यों के पास युद्ध-विभाग रहने दिया जायेगा तो इन्द्र की सरकार उन पर भली-भाँति शासन नहीं रख सकेगी। दो चार माण्डलिक राजा मिलकर चाहें तो इन्द्र की सरकार का विरोध करने के लिए भी उद्यत हो जाया करेंगे। यह खतरा भी सदा वना रहेगा। किसी भी राष्ट्र की शक्ति और अधिकार का अन्तिम आधार उसकी सैन्य शक्ति होती है। यदि इन्द्र की सरकार ने समग्र राष्ट्र पर शासन करना है, उसे सारे माण्डलिक राजाओं पर निरीक्षण और अनुशासन रखना है, यदि उसे माण्डलिक राजाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्व लेना है और समूचे राष्ट्र के परराष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को ठीक रखने का कार्य भी करना है, तो सैन्य शक्ति उसी के पास रहनी चाहिए—युद्ध-विभाग उसी के अधिकार-क्षेत्र में रहना चाहिए। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर वेद में इन्द्र (सम्राट्) के साथ ही सेनाओं का सम्बन्ध दिखाया गया है, माण्डलिक राजाओं के साथ नहीं।

22

युद्ध राजसभा की स्वीकृति से ही हो सकेगा

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में हमने राजसभा के सम्बन्ध में विचार किया है। वहाँ हमने देखा है कि सम्राट् को राजकार्यों में सहायता देने के लिए और उस पर नियन्त्रण रखने के लिए सभा और समिति नामक राजसभाएँ होनी चाहिए। सम्राट् इनकी स्वीकृति के बिना कोई कार्य नहीं कर सकेगा। उसी अध्याय में हमने ऋग्० 10.125 सूक्त पर विचार करते हुए देखा है कि वेद में राजसभा को 'राष्ट्री संगमनी' नाम से कहा गया है। इस राष्ट्री संगमनी में सभा और समिति दोनों सम्मिलित हैं। ऋग्० 10.125 और अथ० 4.30 सूक्त हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ एक ही हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में भी इस राष्ट्री संगमनी नामक राजसभा का वर्णन है। राष्ट्री संगमनी सम्बन्धी ऋग्वेद और अथर्ववेद के इन दोनों सूक्तों को पढ़ने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस राष्ट्री संगमनी की स्वीकृति के बिना किसी राष्ट्र के साथ युद्ध नहीं छेड़ा जा सकेगा। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

ऋग्० 10.125.6; अथ० 4.30.5.

अर्थात्—'(ब्रह्मद्विषे) जो लोकोपकार के पवित्र कर्म में लगे हुए ब्राह्मणों से द्वेष करता है ऐसे ब्रह्मद्वेषी को (शरवे) जो प्रजा की तरह-तरह से हिंसा करता है ऐसे प्रजापीडक को मारने के लिए निश्चय से मैं रुद्र के लिए धनुष (आतनोमि) तानती हूँ मैं (जनाय) प्रजाजनों के लिए (समदं) युद्ध (कृणोमि) करती हूँ मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी में (आविवेश) अपने प्रभाव से घुसी हुई हूँ।'

रुद्र सेनापति है यह पाठक जानते हैं। राज्य के सेनापति ब्रह्मद्वेषियों और प्रजाहिंसकों के वध के लिए अपने धनुष नहीं तान सकते जब तक राजसभा से राजा ऐसा करने के लिए आज्ञा न प्राप्त कर ले। इसी भाँति राजा कोई युद्ध नहीं कर सकता—चाहे वह युद्ध प्रजा के भले के लिए ही किया जा रहा हो—जब तक राजसभा में उस पर विचार होकर उसके लिए इस सभा की स्वीकृति न ले ली जाये। किसी राष्ट्र से युद्ध छेड़ने के सम्बन्ध में उद्धृत मन्त्र का यह स्पष्ट आदेश है।

23

युद्ध का उद्देश्य शान्ति स्थापन है

वैदिक सम्राट् किसी राष्ट्र को जीतकर उसे अपने राज्य में मिलाने के लिए अथवा उस पर अपना अधिकार जमाने के लिए युद्ध नहीं करता। वह केवल आत्मरक्षा के लिए युद्ध करता है। मरुतों के सम्बन्ध में कहे गये निम्न मन्त्रों से भी इसी बात की पुष्टि होती है—

1. न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ॥
ऋग्० 5.54.7.

2. यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्। ऋग्० 5.54.14.

अर्थात्—(1) हे मरुतो (सैनिको) जिस ऋषि (ऋषिं) अथवा राजा को (राजानं) तुम प्रेरणा देते हो (सुषूदथ)[1] न वह किसी से जीता जा सकता है, न मारा जा सकता है, न क्षीण होता है (सेधति)[2], न उसे व्यथा प्राप्त होती है, न उसकी हानि होती है (रिष्यते)[3], न उसके धन नष्ट होते हैं और न उसकी प्रजा को मिलने वाली रक्षाएँ नष्ट होती हैं। (2) हे मरुतो तुम राजा को सुखी रखते हो।

इन मन्त्रों में राजा के सेना रखने के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया गया है। जिससे कोई आततायी राजा को मन्त्र में वर्णित क्लेश न दे सके और उसके प्रजापालन के काम में बाधा न डाल सके इसलिए राजा अपने पास सेनाएँ रखता है जिससे राजा और उसकी प्रजाएँ सुख से रह सकें। इसलिए राजा सेनाओं से सुसज्जित रहता है। इससे स्पष्ट है कि सेनाएँ रखने और उन द्वारा युद्ध लड़ने का प्रयोजन आत्मरक्षा है, किसी को विजय करके उस पर अपनी हुकूमत स्थापित करना नहीं।

रुद्र (सेनापति) के 'भव' नाम का अभिप्राय

आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना आवश्यक ही हो जाये तो भी उस युद्ध का प्रयोजन शान्ति स्थापन करना ही होगा। ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देना ही उस युद्ध

[1] क्षारयथ प्रेरयथ सत्कर्मसु इति सायणः।
[2] क्षीयते इति सायणः।
[3] हिंस्यते, अत्र हिंसा बाधमात्रम् इति सायणः।

का प्रयोजन होगा जिसमें कोई किसी को सता न सके, कोई किसी पर अत्याचार न कर सके। इस सम्बन्ध में युद्ध-प्रकरणों में आने वाले रुद्र (सेनापति) के एक नाम 'भव' से भी प्रकाश पड़ता है। युद्ध-प्रकरणों में बहुत स्थानों में रुद्र के 'शर्व' और 'भव' ये दो नाम आये हैं। उदाहरण के लिए अथर्व० 11.2 सूक्त में रुद्र को इन दोनों नामों से अभिहित किया गया है। शर्व का अर्थ होता है—हिंसा करने वाला, मारने वाला, दण्डित करने वाला। युद्ध के समय सेनापति के इन्हीं गुणों का प्रकाश होता है। परन्तु युद्ध के पश्चात् रुद्र (सेनापति) 'भव' हो जाता है। 'भव' का अर्थ होता है, बनाने वाला। सेनापति का यह नाम सूचित करता है कि युद्ध के काल में सेनापति जितनी हिंसा कर लेता है वह कर लेता है। उसके पश्चात् वह 'भव' हो जाता है। उसके पश्चात् बिगाड़ने के कार्य नहीं करता। उसके पश्चात् वह बनाने के कार्य करता है। सुख और शान्ति देने के कार्य करता है। यदि युद्ध के पश्चात् पराजित राष्ट्र को उसकी इच्छा के विरुद्ध रुद्र अपने राष्ट्र में मिला लेगा या उसको अपने प्रभुत्व में ले लेगा तो पराजित राष्ट्र की प्रजा सुख और शान्ति में नहीं रहेगी। और इसलिए रुद्र का नाम 'भव' सार्थक नहीं रहेगा। इसलिए रुद्र का यह नाम सूचित करता है कि युद्ध जीत लेने के पश्चात् उसकी पराजित राष्ट्र के साथ शत्रुता नहीं रहेगी। युद्ध के पीछे उसकी पराजित राष्ट्र से भी मित्रता हो जावेगी। क्योंकि उसकी शत्रुता वस्तुतः पराजित राष्ट्र से नहीं थी उसकी अन्याय-अनीति से थी। युद्ध में हराकर उसे अन्याय-अनीति को छोड़ने और न्याय-नीति को ग्रहण करने के लिए बाधित कर दिया गया। इसलिए अब उससे शत्रुता रखने का कोई कारण नहीं रहा। अब तो रुद्र उसके साथ मित्रता का सम्बन्ध जोड़कर उसकी बिगड़ी हुई बातों को बनाने की कोशिश करेगा। उसके कष्टों को दूर करने में सहायता देगा। क्योंकि वह 'भव' है। इस प्रकार सेनापति के इस 'भव' नाम से यह व्यंजित होता है कि युद्ध का वास्तविक प्रयोजन राष्ट्रों में शान्ति स्थापित करना है, राष्ट्रों को न्याय के मार्ग पर चलने के लिए उद्यत करना है।

रुद्र (सेनापति) के छः नाम

इसी सम्बन्ध में यजुर्वेद का मिम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च।

यजु० 16.41.

यजुर्वेद के सम्पूर्ण सोलहवें अध्याय का, जहाँ का यह मन्त्र है, देवता रुद्र है। इसमें रुद्र का ही वर्णन है। यह वर्णन रुद्र के सेनापति अर्थ में जितना सुन्दर संगत होता है उतना और किसी अर्थ में नहीं हो सकता। इस अध्याय का रुद्र सेनापति ही है इस सम्बन्ध में हम अभी आगे और अधिक विस्तार से लिखेंगे। प्रस्तुत मन्त्र में रुद्र के

निम्न नामों का संग्रह हुआ है—(1) शम्भव, (2) मयोभव, (3) शंकर, (4) मयस्कर, (5) शिव, और (6) शिवतर।

'शम्भव' का अर्थ होता है शान्ति की सत्ता लाने वाला, 'मयोभव' का अर्थ होता है सुख की सत्ता लाने वाला, 'शंकर' का अर्थ होता है शान्ति करने वाला, 'मयस्कर' का अर्थ होता है सुख करने वाला, 'शिव' का अर्थ होता है मंगलकारी, और 'शिवतर' का अर्थ होता है औरों की अपेक्षा अधिक मंगलकारी। सेनापति के ये नाम भी यही सूचित करते हैं कि युद्ध का वास्तविक प्रयोजन राष्ट्रों के बीच में सुख, शान्ति और मंगल की अवस्था पैदा करना है। सेनापति युद्ध-काल में जो हिंसा करता है उसका प्रयोजन युद्ध के अनन्तर अहिंसा का राज्य स्थापित करना होता है।

शत्रु को पराजित कर देने के अनन्तर उससे मित्रता का व्यवहार करना चाहिए

इसी प्रसंग में अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

अथ० 19.15.6.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हमें मित्र से अभय प्राप्त हो, अमित्र से अभय प्राप्त हो, परिचित से अभय प्राप्त हो, अपरिचित से अभय प्राप्त हो, रात्रि में अभय प्राप्त हो, दिन में अभय प्राप्त हो, सारी दिशाएँ हमारी मित्र हो जाएँ।'

जिस सूक्त का यह मन्त्र है वहाँ प्रजाजन इन्द्र (सम्राट्) से अभय की याचना कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे इन्द्र जहाँ-जहाँ से भी हमें भय मिल सकता है वहाँ-वहाँ से तू अभय कर दे। उसी प्रसंग में वे कह रहे हैं—

1. मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि।

अथ० 19.15.1.

2. मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय।

अथ० 19.15.2.

अर्थात्—(1) हे इन्द्र तू शक्ति के कार्य कर, अपनी रक्षाओं द्वारा तू शत्रुओं को (द्विषः) और उनके युद्धों को (मृधः) मार दे। (2) हमारे अभीष्ट फल में बाधा डालने वाली (अररुषीः)[1] शत्रु की सेनाएँ (सेनाः) हमें प्राप्त न हों, हमसे द्रोह करने वाली उन सेनाओं को तू हे इन्द्र मारकर चारों ओर भगा दे।

पाठक देखेंगे कि इन मन्त्रों में स्पष्ट ही युद्ध में शत्रुओं को विजय किया जा रहा है। इस प्रकार भय-जनक शत्रुओं को युद्ध में परास्त कर दिया जाने के अनन्तर प्रजाएँ सम्राट् (इन्द्र) से प्रस्तुत मन्त्र की मित्रादि से अभय की प्रार्थना कर रही हैं।

[1] अदात्व्यः अभिमत फलप्रतिबन्धिताः इति सायणः।

वे इस मन्त्र में अमित्र अर्थात् शत्रु से भी अभय की प्रार्थना कर रही हैं और अन्त में कह रही हैं कि सारी दिशाएँ हमारी मित्र हो जायें। इस अन्तिम वाक्य में अमित्र आदि से अभय प्राप्ति का उपाय भी बता दिया गया है। उनसे मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लो। फिर तुम्हें उनसे भय नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार इस मन्त्र के वर्णन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शत्रुओं को युद्ध में हराने के अनन्तर उनसे मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। युद्ध में हरा देने के पश्चात् पराजित शत्रु को अपना शत्रु नहीं समझना चाहिए। फिर तो उसे अपना मित्र बनाकर उसके साथ शान्ति से रहना चाहिए। शत्रु को पराजय देकर उसको अन्याय-अधर्म छोड़ने के लिए बाधित कर दिया गया है। उससे अन्याय-अधर्म छुड़ा देने पर उसके साथ शत्रुता रखने का कोई कारण नहीं रह जाता। अन्याय-अधर्म छुड़ा देने पर तो वह हमारी मित्रता का पात्र हो जाता है। यदि हम युद्ध के अनन्तर शत्रु से मित्रता का व्यवहार नहीं करेंगे तो उसके मन में उसका पराजय चुभता रहेगा और वह अवसर पाकर पुनः हमसे बदला लेने के लिए उद्यत रहेगा और इस प्रकार लड़ाई के पीछे लड़ाई चलती रहेगी। कभी शान्ति स्थापित न होगी।

वेद ने इन और ऐसे ही अन्य प्रसंगों में युद्ध का उद्देश्य शान्ति स्थापन करना बताया है और इसका उपाय बताया है युद्ध के अनन्तर शत्रु से मित्र जैसा व्यवहार करना। यह तभी सम्भव है जब शत्रु के अन्याय-धर्म से ही शत्रुता की जाये, स्वयं उसके व्यक्तित्व से शत्रुता न की जाये और उसकी सम्पत्ति और भूमि पर लोभ-भरी दृष्टि न रखी जाये।

युद्ध के बाद विजेता को वापस अपने देश में आ जाना चाहिए

इसीलिए वेद ने यह भी कह दिया है कि—

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वितिष्ठध्वम्।

अथ० 11.9.26.

अर्थात्—'इस संग्राम को जीतकर अपने-अपने स्थान में (यथालोकम्) जाकर बैठ जाओ।'

इस मन्त्र का स्पष्ट भाव यह है कि विजेता को युद्ध जीत लेने के पीछे शत्रु के राष्ट्र में पैर जमाकर नहीं बैठ जाना चाहिए, प्रत्युत विजित राष्ट्र का शासन उसी राष्ट्र के लोगों की इच्छा पर और उन्हीं के हाथों में छोड़ देना चाहिए। इस पद्धति पर किया हुआ युद्ध ही वैदिक क्षत्रियों का युद्ध होगा। नहीं तो युद्ध क्षत्रियों का न रहकर दस्युओं का, डाकुओं का, हो जावेगा।

पाठक युद्ध के वैदिक आदर्श की इस हिमालय जैसी उच्चता को देखें।

24

रुद्राध्याय पर एक दृष्टि

वेद का रुद्र पुराणों का महादेव नहीं है

युद्ध विभाग सम्बन्धी इस भाग को समाप्त करते हुए यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय पर एक दृष्टिपात कर लेना उचित प्रतीत होता है। इस अध्याय का देवता रुद्र है। इस अध्याय को रुद्राध्याय कहते हैं। इसमें 66 मन्त्र हैं। पौराणिक महादेव का एक नाम रुद्र भी है। सायणादि मध्यकालीन भाष्यकार वेद में प्रयुक्त रुद्र का अर्थ भी प्रायः पुराण वर्णित महादेव ही करते हैं। रुद्राध्याय में भी जिस रुद्र का वर्णन हुआ है वह पौराणिक लोगों की दृष्टि में पुराण वर्णित महादेव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनकी दृष्टि में उसी महादेव की अलौकिक महिमा का वर्णन रुद्राध्याय में है।

हमने के 'रुद्र : सेनापति' नामक अध्याय में भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि वेद का रुद्र पौराणिक महादेव नहीं है। जिन प्रकरणों में पौराणिक लोग रुद्र का अर्थ महादेव समझते हैं वहाँ वस्तुतः रुद्र का अर्थ सेनापति होता है। हमने वहाँ देखा है कि पुराणों के महादेव का जो चरित्र है वह वेद के रुद्र में नहीं पाया जाता।

यह ठीक है कि दस-पन्द्रह नाम वेद-वर्णित रुद्र के ऐसे हैं जो पुराणों के महादेव के भी हैं। पर इतने से ही वेद का रुद्र और पुराणों का महादेव एक नहीं हो जाते। रुद्र का अर्थ सेनापति लेने पर ये नाम तो उसमें भी भली-भाँति चरितार्थ हो जाते हैं। हमने इस अध्याय में रुद्र के गिरिशन्त, ईशान, कृत्तिवासाः, शिखण्डी, कपर्दी, नीलशिखण्ड और पशुपति इन नामों की व्याख्या सेनापति में भली-भाँति संगत करके दिखा दी है। रुद्र के भव, शर्व, शिव और शंकर ये नाम भी वेद में आये हैं। ये भी सेनापति में भली-भाँति संगत हो जाते हैं। सेनापति के ये नाम रखने का क्या अभिप्राय है यह हमने ऊपर 'युद्ध का उद्देश्य शान्ति स्थापना करना है' नामक 23वें अध्याय में भली-भाँति दिखा दिया है।

इसी प्रकार वेद में रुद्र को 'भूतपतिः' (अथर्व० 11.2.1) और 'नीलग्रीवः' (यजु० 16.7) भी कहा है। ये दोनों नाम पौराणिक महादेव के भी हैं। परन्तु ये दोनों नाम भी सेनापति में संगत हो जाते हैं। अपने शस्त्रों द्वारा प्राणिमात्र की रक्षा

करने के कारण सेनापति को भी भूतपति कहा जा सकता है। नीलग्रीव का अर्थ पौराणिक लोग नीले कण्ठ वाला कहते हैं। क्योंकि समुद्र मन्थन के समय निकले हुए हलाहल विष को पी जाने के कारण महादेव जी का कण्ठ नीला हो गया था। इस शब्द का दूसरा अर्थ करने पर यह शब्द सेनापति में भी संगत हो सकता है। 'णीञ्' धातु से, जिसका अर्थ प्राप्ति होता है, 'रक्' प्रत्यय करने पर नील शब्द बन जायेगा। तब प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को नील[1] कहेंगे। ग्रीवा कण्ठ को कहते हैं सही, पर ग्रीवा[2] का शब्दार्थ होता है बोलने वाली अथवा निगलने वाली। बोलने अर्थ में ग्रीवा शब्द को लेकर नीलग्रीव शब्द का अर्थ हो जायेगा जिसकी ग्रीवा प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को बोलती है। सेनापति राष्ट्र की रक्षा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की प्राप्त करने योग्य बातों को अपने सम्राट् से कहता है। युद्धों के समय विजय-प्राप्ति के लिए आवश्यक अनेक प्रकार की बातों का वर्णन वह सम्राट् के आगे करता है। इसलिए सेनापति नीलग्रीव भी होता है।

रुद्र का एक नाम 'त्रयम्बक' भी आता है (उदाहरणार्थ ऋग्० 7.59.12)। पौराणिक लोग इस शब्द के 'अम्ब' पद का अर्थ नेत्र करके इसका अर्थ तीन आँखों वाला महादेव ऐसा करते हैं। श्री सायण ने अपने भाष्य में अम्बक का अर्थ पिता करके इस शब्द का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का पिता महादेव ऐसा भी किया है। भला रुद्र (महादेव) अपना ही पिता स्वयं कैसे होगा ? यह शब्द सेनापति अर्थ में बड़ा सुन्दर संगत हो जाता है। अम्ब शब्द 'अम गतौ' धातु से बनता है जिसकी आकाश, भूमि और जल तीनों जगह गति हो वह त्रयम्बक होगा। हम पीछे इन तीनों स्थानों की सेनाओं का वर्णन कर आये हैं। परन्तु हमने 'रुद्र : सेनापति' नामक अध्याय में देखा है कि पौराणिक महादेव के अनेक इस प्रकार के वर्णन हैं जो वेद के रुद्र में सर्वथा ही नहीं पाये जाते। इसलिए वेद का रुद्र और पुराणों का महादेव एक नहीं हो सकते।

रुद्र सहस्राक्ष हैं

फिर वेद के रुद्र के अनेक वर्णन ऐसे हैं जो पुराणों के महादेव में सर्वथा संगत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए वेद में अनेक स्थानों पर रुद्र को सहस्राक्ष (अथ० 11.2.7; यजु० 16.8) कहा गया है। यह वर्णन पौराणिक महादेव पर नहीं घट सकता। सहस्राक्ष कहते हैं हजार आँखों वाले को। पौराणिक महादेव त्रिनेत्र अर्थात् तीन आँखों वाला माना जाता है। पुराणों के अनुसार तो इन्द्र सहस्राक्ष या सहस्रनेत्र होता है। इसलिए वेद का सहस्राक्ष रुद्र पुराण का महादेव नहीं हो सकता। सेनापति अर्थ में रुद्र का नाम सहस्राक्ष बड़ा सुन्दर संगत हो जाता है। अपने गुप्तचरों आदि के द्वारा सेनापति अपनी और शत्रु पक्ष की हजारों बातों को जानता रहता है।

[1] नीयते प्राप्यते इति नीलम्।

[2] गॄ शब्दे, गॄ निगरणे इत्याभ्यां वनिग्रीवेति व्युत्पाद्यते।

इसलिए वह मानों सहस्राक्ष अर्थात् हजार आँखों वाला है।

रुद्र गणपति है

वेद के रुद्र को 'गणपति' (यजु० 16.25) भी कहा गया है। पुराणों के अनुसार गणपति नाम महादेव जी के गणेश नामक पुत्र का है। इसलिए वेद का गणपति रुद्र पुराणों का महादेव नहीं हो सकता। सेना के गणों का अध्यक्ष होने के कारण सेनापति तो गणपति होगा ही।

रुद्र की बहिन अम्बिका

फिर हमने 'रुद्र : सेनापति' नामक उसी अध्याय में देखा है कि यजु० 3.57 में अम्बिका को रुद्र की स्वसा अर्थात् बहिन कहा गया है। पुराणों के अनुसार तो अम्बिका महादेव की पत्नी पार्वती का नाम है। इसलिए वेद का रुद्र पुराणों का महादेव नहीं हो सकता। सेनापति अर्थ में रुद्र की स्वसा अम्बिका का क्या तात्पर्य होगा यह हम अभी पूर्ण निश्चय से नहीं जान सके हैं। वेद के प्रतिभाशाली विद्वान् पंडित बुद्धदेव विद्यालंकार ने रुद्र की बहिन अम्बिका के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कल्पना की है। पाठकों के विचारार्थ हम उसे अपने शब्दों में यहाँ उपस्थित कर देते हैं। संस्कृत में 'अम्बा' शब्द का अर्थ माता होता है। अम्बा को ही अम्बिका भी कहते हैं। पार्वती को भी जगत् की माता होने के कारण ही पुराणों में अम्बिका कहा गया है। अम्बा और अम्बिका शब्द 'अबि' धातु से बनते हैं। इस धातु का अर्थ शब्द करना होता है। इसलिए अम्बिका का शब्दार्थ होगा शब्द करने वाली, बोलने वाली। पण्डित बुद्धदेव जी अबि धातु के शब्द का अर्थ सामान्य शब्द नहीं लेते हैं। उनके अनुसार इस धातु का अर्थ उस प्रकार का शब्द करता है जिसे बोल-चाल की भाषा में लोरी देना कहते हैं। मातायें बच्चों को खेलाते, सुलाते और खिलाते समय इस प्रकार की लोरियाँ दिया करती हैं। ये लोरियाँ माताएँ बड़ी मीठी और प्रेमभरी आवाज में दिया करती हैं। इन प्रेम-भरी लोरियों के शब्द का प्रभाव बच्चों पर बड़ा मनमोहक होता है। उन्हें सुनते-सुनते बच्चे सुख की नींद में सो जाते हैं। माता का यह लोरियों के समय का शब्द संसार के सब शब्दों से निराला होता है। इसी शब्द को ध्यान में रखकर माता को अम्बा कहा जाता है। माता को अम्बा कहने से ही यह सूचित होता कि अबि धातु का अर्थ भी लोरियाँ देना है।

अम्बिका : आहत सैनिकों की शुश्रुषा करने वाला सेना का विभाग

माता के सादृश्य से ही हमें रुद्र (सेनापति) के सम्बन्ध में भी अम्बिका का अर्थ निश्चय करना होगा। माता जैसे बच्चों को लोरियाँ दे देकर उनका दिल बहलाव करके उन्हें सुख में सुला देती हैं, सेनाओं में उसी प्रकार का काम करने वाला विभाग अम्बिका कहलायेगा। जब सैनिक युद्ध में आहत हो जाते हैं, उन्हें अनेक घावों और

अंग-भंग की असह्य यन्त्रणाएँ जब बैचेन कर देती हैं, तब सेना का जो विभाग उन्हें सुखी करने का उपाय करता है उसे अम्बिका कहा जायेगा। स्पष्ट ही सेना का यह विभाग उनका औषधोपचार करने और उस समय उन्हें आश्वासन देने वाला विभाग होगा। सेनाओं के अपने औषधालय होने चाहिए यह हम 'रुद्र के औषधालय' नामक अध्याय में देख आये हैं। इसलिए आहत सैनिकों की शुश्रूषा करने वाला और उस समय उनके मन को प्रसन्न रखने वाला जो भी विभाग होगा वह अम्बिका कहलायेगा।

अम्बिका, रुद्र की बहिन क्यों ?

फिर यहाँ अम्बिका को रुद्र की स्वसा अर्थात् बहिन कहा गया है। इसका क्या तात्पर्य होगा ? इसका तात्पर्य पण्डित बुद्धदेव जी यह निकालते हैं कि जिस प्रकार एक भाई एक बहिन का ख्याल रखता है। उसी प्रकार की कोमल मनोवृत्ति से सेनापति को इस विभाग की रक्षा करनी चाहिए।

हमें इसके अतिरिक्त इस विभाग को 'स्वसा' कहने का एक और भी अभिप्राय प्रतीत होता है। हमें स्वसा शब्द की यह व्यंजना प्रतीत होती है कि आहत सैनिकों की शुश्रूषा करने वाले इस विभाग में परिचर्या का काम जहाँ तक हो सके स्त्रियों के हाथ में सौंपा जाना चाहिए। स्त्रियाँ जिस प्रेमभाव से आहत सैनिकों की सेवा-सांत्वना का कार्य कर सकती हैं पुरुष उस प्रेमभाव से प्रायः नहीं कर सकते। साथ ही स्वसा शब्द की यह भी ध्वनि है कि इन परिचारिका स्त्रियों को सेना के सब लोग अपनी बहिन समझें, बहिनों जैसी पवित्र दृष्टि से उन्हें देखें और उनके प्रति बहिनों की भावना को जागृत रखने के उन्हें 'स्वसा' अर्थात् बहिन के नाम से ही सम्बोधन करें। पाठकों को यह जानकर मनोरंजन होगा कि आजकल भी औषधालयों में शुश्रूषा का काम करने वाली परिचारिकाओं (nurses) को, अंग्रेजी में सिस्टर (sisters) अर्थात् बहिन ही कहते हैं। 'स्वसा' का एक शब्दार्थ 'स्वयं सारिणी' अर्थात् 'स्वयं साथ चलने वाली' ऐसा भी होता है। यह आहत सैनिकों का शुश्रूषक विभाग युद्ध में सेनाओं के साथ चलने के कारण भी 'स्वसा' कहा जा सकेगा। इस प्रकार की व्याख्या करने से 'रुद्र की स्वसा अम्बिका' की व्याख्या रुद्र के सेनापति अर्थ में बड़ी सुन्दर संगत हो जाती है। हमें इस व्याख्या की पुष्टि में पण्डित बुद्धदेव और अपनी ऊहा के अतिरिक्त और कोई सहायक प्रमाण नहीं मिल सका है। इसलिए हम अपनी इस व्याख्या की यथार्थता के सम्बन्ध में आग्रह करने का साहस नहीं करते। वेदों के अन्य विद्वानों को इस सम्बन्ध में और अन्वेषण करने की आवश्यकता है। जब तक इसकी कोई और सुसंगत और प्रमाणपुष्ट व्याख्या नहीं मिल जाती तब तक के लिए हम अपनी यह व्याख्या पाठकों के आगे उपस्थित कर रहे हैं।

रुद्राध्याय का रुद्र सेनापति है

ऊपर की इन पंक्तियों तथा 'रुद्र : सेनापति' नामक अध्याय को पढ़कर पाठकों को यह असंदिग्ध रूप में पता लग गया होगा कि वेद में रुद्र का अर्थ पौराणिक महादेव नहीं प्रत्युत सेनापति ही किया जाना चाहिए। यजुर्वेद के रुद्राध्याय की भी जैसी सुन्दर संगति रुद्र का अर्थ सेनापति करने पर लगती है वैसी सुन्दर रुद्र का कोई और अर्थ करने पर नहीं लगती। सेनापति अर्थ करने पर इस अध्याय में से युद्ध-विभाग-सम्बन्धी अनेक सुन्दर शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। इस अध्याय में रुद्र के अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिनका, यदि रुद्र का अर्थ सेनापति न किया जाय तो, कुछ अभिप्राय ही प्रतीत नहीं होता। हमें तो इस अध्याय में रुद्र स्पष्ट रूप में सेनापति दीखता है। हमने इसमें रुद्र का अर्थ सेनापति सिद्ध करते हुए यह दिखाया है कि इन मन्त्रों में रुद्र का जो वर्णन है वह एक शस्त्रास्त्र-सुसज्जित सैनिक का है। फिर रुद्र कोई सामान्य नहीं है, प्रत्युत सेना के गुणों का, सैनिकों के समूहों का, अध्यक्ष है। फिर यह दिखाने के लिए कि वेद में रुद्र की सेनाओं का स्पष्ट वर्णन मिलता है और रुद्र को स्वयं सेनापति कहा गया है; हमने अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त इसी रुद्राध्याय के 6 उद्धरण उपस्थित किये हैं। इस प्रकार रुद्राध्याय की अपनी अन्तःसाक्षी से इस अध्याय का रुद्र सेनापति सिद्ध होता है।

रुद्राध्याय के कुछ वर्णनों का स्पष्टीकरण

यहाँ हमारा अभिप्राय रुद्राध्याय के प्रत्येक मन्त्र की विस्तृत व्याख्या करना नहीं है। यहाँ हम इस अध्याय पर बहुत सरसरी दृष्टि डाल रहे हैं। इस अध्याय के जो वर्णन स्पष्ट ही सेनापति पर संगत हो सकते हैं उनके सम्बन्ध में यहाँ हमें कुछ नहीं कहना है। जो वर्णन अपेक्षाकृत अस्पष्ट हैं उन्हीं के सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ कहेंगे। उनमें से भी सबकी ओर यहाँ निर्देश नहीं किया जा सकता। उदाहरण के रूप में कुछ थोड़े से वर्णनों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान खींच सकेंगे। अध्यायगत रुद्र के जो वर्णन स्पष्ट ही सेनापति में संगत हो सके हैं उनके साथ रुद्र के अपेक्षाकृत अस्पष्ट वर्णनों की हमारी यह व्याख्या को मिलाकर पढ़ने के पश्चात् यदि स्वाध्यायशील पाठक रुद्राध्याय का पाठ करेंगे तो वे देखेंगे कि इस अध्याय में सेनापति के वर्णन द्वारा युद्ध-विभाग सम्बन्धी कैसी-कैसी शिक्षाएँ दी गई हैं। अब रुद्र के कुछ नामों और वर्णनों की व्याख्या सुनिए—

1. अपापकाशिनी तनूः (यजु॰ 16.2)—रुद्र की तनू अर्थात् शरीर अपापकाशिनी है। जो पाप को प्रकाशित न होने दे वह अपापकाशिनी होगी। रुद्र के शरीर से पाप नहीं हो सकता। वह पूर्ण पवित्र चरित्र वाला है। साथ ही रुद्र का स्वरूप इसलिए भी अपापकाशी है कि वह अपनी सेनाओं को पाप का समर्थन करने वाले युद्धों में प्रवृत्त नहीं होने देता। वह सदा धर्म के पक्ष में होकर ही लड़ता है। इस प्रकार रुद्र

के इस विशेषण द्वारा यह बताया गया है कि सेनाओं के सेनापति पूर्ण चरित्रवान् होने चाहिए और युद्ध-धर्म के पक्ष में होकर ही लड़ने चाहिए पाप के पक्ष में नहीं।

2. **उतैनं गोपा अदृश्रन्** (यजु० 16.7)—रुद्र को गोप लोग देखते हैं। गौवों को पालने वाले लोगों को गोप कहते हैं। इस कथन का भाव यह है कि सेनापति की अपनी गोशालाएँ होनी चाहिए जिनसे सैनिकों को उत्तम पौष्टिक दुग्ध मिल सके। सेनापति इन गोशालाओं के गोपालों को बुलाकर उनसे गौओं तथा उनके अपने सम्बन्ध में प्रतिदिन कुशल-मंगल पूछा करे और उनकी कठिनाइयों को दूर करने का उपाय किया करे।

3. **अदृश्रन् उदहार्यः** (16.7)—रुद्र को उदहारी देखनी हैं। उदहारी जल भरने वाली को कहते हैं। इस कथन का भाव यह है कि सेनाओं के लिए सेनापति का अपना जल-प्रबन्ध होना चाहिए और उसे जल पहुँचाने का काम करने वाले नौकर-नौकरानियों के सुख-दुःख का ध्यान रखना चाहिए। इन लोगों की सेनापति तक पहुँच होनी चाहिए।

4. **हिरण्यबाहवे** (16.17)—रुद्र हिरण्यबाहु है। हिरण्य सुवर्ण को कहते हैं। जिसकी भुजाओं पर पदाधिकारी सूचक सुवर्ण लगे हो वह हिरण्यबाहु कहलायेगा। हिरण्य को खजाने का उपलक्षण भी समझा जा सकता है। कार्य करने के लिए जिसकी भुजाओं के पास हर समय खजाना विद्यमान हो उसे भी हिरण्यबाहु कहेंगे। रुद्र के इस नाम द्वारा यह बताया गया है कि एक तो सेनापतियों को अपने-अपने अधिकारों के सूचक सुवर्णादि के बने आभूषण पहिनने चाहिए। इस प्रकार के आभूषणों का दर्शकों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। दूसरी इसकी यह शिक्षा है कि सेनाओं पर खर्च करने के लिए धन की कमी नहीं होनी चाहिए।

5. **वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः** (16.17)—रुद्र हरे केशों वाले वृक्ष हैं। वृक्षों के हरे पत्ते और शाखाओं को उनके हरे केश कहा गया है। यहाँ वृक्षों और रुद्र का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है। रुद्र वृक्षों का स्वामी है और वृक्ष रुद्र के स्व हैं। वृक्षों और रुद्र के इस स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध को यहाँ तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा दिखाया गया है। वृक्षों का स्वामी होने के कारण रुद्र को वृक्ष ही कह दिया गया है। इस वर्णन का अभिप्राय यह है कि सेनापति के अपने जंगल होने चाहिए। ये जंगल सेनाओं के लिए सुरक्षित रहेंगे। इनकी लकड़ियाँ सेनाओं के घर बनाने, जलाने, जल सेनाओं के लिए जहाज आदि बनाने के कामों में आयेंगी।

रुद्र को इस रूप में वर्णन करने की एक यह भी ध्वनि निकलेगी कि युद्ध के समय शत्रु से अपनी सेनाओं की रक्षा के लिए आवश्यक होने पर उन्हें हरे जंगलों में छिपा दिया जाये और अपनी गाड़ियों और तम्बुओं आदि पर वृक्षों की हरे पत्तों वाली शाखाओं से ढक दिया जाये। इस छिपाहट (Camouflage) से शत्रु धोखे में आकर हमारी सेना और शिविर पर आक्रमण नहीं करेगा।

6. **शष्पिञ्जराय** (16.17)—रुद्र शष्पिञ्जर अर्थात् नये उगे घास के वर्ण

वाला है । यहाँ भी घास का स्वामी होने के कारण रुद्र को तादात्म्य से शष्पिञ्जर कह दिया गया है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि सेनापति की अपनी चरागाहें होनी चाहिए जहाँ सेना के घोड़े आदि पशु चर सकेंगे और जहाँ से सेना के पशुओं के लिए घास काटकर लाई जा सकेगी ।

7. **अन्नानां पतये** (16.18)—रुद्र अन्नों का पति है । इसका भाव यह है कि सेनापति के पास भरपूर अन्न भण्डार होने चाहिए । सैनिकों के खाने के लिए किसी प्रकार के अन्न की कमी नहीं होनी चाहिए ।

8. **क्षेत्राणां पतये** (16.18)—रुद्र खेतों का पति है । इसका भाव यह है कि सेनापति के अपने खेत होने चाहिए जिनमें सेना के घोड़ों के लिए जौ आदि बोये जा सकेंगे ।

9. **सूताय** (16.18)—रुद्र सूत अर्थात् रथ हाँकने वाला है । यहाँ भी रथ हाँकने वालों का स्वामी होने के कारण रुद्र को सूत कह दिया गया है । भाव यह कि है सेनापति के पास अनेक चतुर रथ चलाने वाले होने चाहिए । हमने पीछे देखा है सेनाओं में विद्युत् आदि शक्तियों से चलने वाले रथ भी होने चाहिए । घोड़ों से चलने वाले रथों को चलाने वाले सूत भी कुशल होने चाहिए । विद्युत् आदि से चलने वाले रथों के चालक सूत तो बहुत कुशल होने चाहिए, नहीं तो सेनाएँ विजय प्राप्त नहीं कर सकतीं । यों, सेनापति को स्वयं भी बड़ा कुशल रथ-चालक होना चाहिए ।

10. **स्थपतये** (16.19)—रुद्र स्थपति अर्थात् घरों का निर्माण करने वाला शिल्पी है । यहाँ भी स्थपतियों का स्वामी होने के कारण रुद्र को स्थपति कह दिया गया है । इसका भाव यह है कि सेनापति के पास अपने स्थपति होने चाहिए—उसका अपना स्थापत्य विभाग होना चाहिए । सेनाओं के रहने के लिए गृहों का निर्माण इसी विभाग के अधीन होगा । युद्ध-सामग्री रखने के लिए आगार आदि भी सेनापति के अधीनस्थ ये स्थपति लोग ही बनायेंगे ।

11. **मन्त्रिणे** (16.19)—रुद्र मन्त्री है । सम्राट् को युद्ध-विभाग सम्बन्धी सलाह देने वाला मन्त्री तो रुद्र होगा ही ।

12. **वाणिजाय** (16.19)—रुद्र वणिक् है । युद्ध-विभाग सम्बन्धी सामग्री खरीदने और बेचने का कार्य क्योंकि सेनापति के निरीक्षण में ही होगा इसलिए वह वणिक् भी है ही ।

13. **स्तेनानां पतये** (16.20)—रुद्र स्तेन अर्थात् चोरों का पति है । हमने पीछे देखा है कि युद्ध में शत्रु को पराजित करने के लिए शत्रु की भाँति-भाँति की युद्धोपयोगी सामग्री को छीन लिया जाये या नष्ट कर दिया जाये । इसके लिए छिपकर काम करने वाले चतुर लोगों की आवश्यकता होगी । वे चुपके से जाकर शत्रु की सामग्री को चुरा लायेंगे । सेनापति के पास इस प्रकार के शत्रु की सामग्री को चुरा लाने वाले लोग भी रहने चाहिए । इसी भाव से रुद्र को स्तेन-पति कहा गया है ।

14. **वञ्चते परिवञ्चते** (16.21)—रुद्र वञ्चक और परिवञ्चक है ।

वञ्चक का अर्थ होता है ठगने वाला और परिवञ्चक का अर्थ होता है चारों ओर से ठगने वाला अर्थात् बहुत ठगने वाला। हमने पीछे देखा है कि शत्रु को हराने के लिए उसके साथ भाँति-भाँति की माया और चालाकियाँ करके उसे फँसा लेना चाहिए। रुद्र को वञ्चक और परिवञ्चक कहने का भी यही भाव है कि शत्रु के साथ युद्धकाल में तरह-तरह की ठगियाँ, चालाकियाँ, करके उसे फँसा लेना चाहिए। युद्ध छिड़ जाने पर युद्ध को जीतना ही धर्म है।

15. **कुलुञ्चानां पतये** (16.22)—रुद्र कुलुञ्चों का पति है। जो कु अर्थात् भूमि का लुञ्चन करें वे कुलुञ्च कहलायेंगे। अथवा जो कुलों का लुञ्चन करें वे कुलुञ्च कहलायेंगे। उवट और महीधर ने ये ही अर्थ किये हैं। लुञ्चन का अर्थ होता है हरण करना। जो भूमि और कुलों का हरण करें वे कुलुञ्च होंगे। सेनापति को इस प्रकार के आदमियों की आवश्यकता रहेगी। ये लोग शत्रु की भूमि में जाकर वहाँ की चीजें उठा लाया करेंगे या उसकी भूमि को खराब कर लाया करेंगे—उसकी खेती आदि को उजाड़ आया करेंगे। शत्रु के घरों में घुसकर ये लोग वहाँ की सम्पत्ति को उठा लाया या नष्ट कर आया करेंगे। ये लोग शत्रु की भूमि को यों भी नष्ट कर आया करेंगे कि उसमें स्थान-स्थान पर गढ़े आदि खोद आया करेंगे जिससे शत्रु के रथ-घोड़े आदि उस पर न चल सकेंगे और इस प्रकार शत्रु की गति रुक जायेगी। शत्रु की भूमि शत्रु के काम की न रहने के कारण मानों उससे हर ली गई—उससे छीन ली गई। इस प्रकार के युद्धोपयोगी कुलुञ्च लोगों का स्वामी होने के कारण सेनापति कुलुञ्चपति भी होगा ही।

16. **सभाभ्यः सभापतिभ्यः** (16.24)—रुद्र सभा है और सभापति है। पीछे हम सैनिकों की सभाओं का वर्णन करके आये हैं। सैनिकों की ये सभाएँ सेनापति के निरीक्षण और अधिकार में रहकर ही अपना कार्य करेंगी। अभेदोपचार से रुद्र और सभाओं को एक कर दिया गया है। अनेक बार रुद्र इन सभाओं का स्वयं भी सभापति बना करेगा। इसलिए उसे सभापति भी ठीक ही कहा गया है। सैनिकों की ये सारी सभाएँ अन्ततोगत्वा सेनापति की आज्ञा में होंगी इसलिए वह सभापति होगा। पाठक देखेंगे कि रुद्र के इस वर्णन से भी सैनिकों की सभाएँ होनी चाहिए। यह स्पष्ट सूचना मिलती है।

17. **विरूपेभ्यः** (16.25)—रुद्र विरूप है। विरूप का अर्थ होता है विरुद्ध रूप वाला अथवा विगत रूप वाला। जो अपने सामान्य रूप के विरुद्ध रूप धारण कर ले और इस प्रकार अपने पहले रूप को त्याग दे वह विरूप कहलायेगा। रुद्र को विरूप कहने का भाव यह है कि सेनापति को चाहिए कि वह शत्रु के पराजय को लक्ष्य में रखकर उसे धोखे में डालने के लिए भाँति-भाँति के रूप धारण करता रहे और अपनी सेनाओं को भी इसी प्रकार नये-नये रूपों में छिपाकर उससे लड़ता रहे।

18. **तक्षभ्यः रथकारेभ्यः** (16.27)—रुद्र तक्षा और रथकार है। तक्षा लकड़ी की वस्तुएँ बनाने वाले को कहते हैं और रथकार रथों को बनाने वाले को

कहते हैं। सेनाओं के लिए इन दोनों ही प्रकार के शिल्पियों की आवश्यकता होगी। ये दोनों प्रकार के कारीगर सेनापति के अधीन होंगे। स्व-स्वामिभाव के सम्बन्ध में अभेदोपचार से यहाँ रुद्र को तक्षा और रथकार कह दिया गया है।

19. **कुलालेभ्यः** (16.27)—रुद्र कुलाल अर्थात् घड़े बनाने वाला है। सेनाओं के लिए घड़े आदि बर्तनों को बनाने वाले शिल्पियों की भी आवश्यकता रहेगी। इस प्रकार की सेनाओं के ही लिए बर्तन बनाने का काम करने वाले शिल्पी भी सेनापति के अधिकार में रहने चाहिए।

20. **कर्मारेभ्यः** (16.27)—रुद्र कर्मार है। कर्मार लोहे का काम करने वाले शिल्पियों को कहते हैं। कर्मार शब्द का अर्थ कारखाने भी होता है। सेनाओं के लिए शस्त्रास्त्र बनाने वाले लोहकार और कारखाने सेनापति के अधीन रहने ही चाहिए। यह तो सेनाओं की प्रधान आवश्यकता है। इसीलिए सेनापति को अभेदोपचार से कर्मार कहा गया है।

21. **निषादेभ्यः** (16.27)—रुद्र निषाद है। पर्वतों और जंगलों में रहकर शिकार आदि पर जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को निषाद कहते हैं। इस प्रकार के लोग भी सेनापति के पास रहने चाहिए। सेनाओं को पर्वतों और जंगलों को पार करते समय ये लोग मार्ग बताने का काम किया करेंगे। दोनों का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होने के कारण रुद्र को अभेद से निषाद कह दिया है।

22. **पुञ्जिष्ठेभ्यः** (16.27)—रुद्र पुञ्जिष्ठ है। पक्षियों को पकड़ने वाले लोगों को पुञ्जिष्ठ कहते हैं। बाणों पर लगाने के लिए पंखों की आवश्यकता होती है। ये लोग आवश्यकतानुसार भाँति-भाँति के पक्षियों को पकड़ और पालकर उनके पंख उतारकर सेनाओं के लिए दिया करेंगे इसलिए ऐसे लोग भी सेनापति के पास रहने चाहिए। उनका स्वामी होने से रुद्र पुजिष्ठ भी होगा।

23. **श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च** (16.28)—रुद्र श्वा और श्वपति है। श्वा कुत्ते को कहते हैं और श्वपति कुत्ते पालने वाले को। सेनाओं में पहरा देने तथा समाचार भेजने आदि के लिए कुत्ते भी रहने चाहिए और उनके पालक भी। सेनापति उनका स्वामी होने से श्वाभी है और श्वपति भी। सेनाओं में कुत्ते रहने चाहिए इस सम्बन्ध में हम पीछे भी लिख आये हैं।

24. **गिरिशयाय** (16.29)—रुद्र गिरिशय है। गिरिशय के दो अर्थ होते हैं। एक वाणी में शयन करने वाला और दूसरा पहाड़ में शयन करने वाला। पहले अर्थ का भाव यह होगा कि सेनापति को अनेक भाषाओं और विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए और दूसरे अर्थ का भाव यह होगा कि सेनापति और उसकी सेनाएँ पर्वतों में भी रहनी चाहिए। पर्वतों में शत्रुओं को छिपने का बड़ा अवकाश रहता है। पर्वत प्रदेशों को शत्रुओं से खाली रखने के लिए वहाँ सेनाओं का रखा जाना आवश्यक है। अपनी सेनाओं को गुप्त रखने के लिए भी पर्वतों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। इसी भाव को ध्यान में रखकर रुद्र को गिरिशय कहा है।

25. **शिपिविष्टाय** (16.29)—रुद्र शिपिविष्ट है। शिपि शब्द के किरण, यज्ञ, पदार्थ और पशु ये अर्थ होते हैं। किरण अर्थ में शिपिविष्ट का अर्थ होगा जो किरणों में प्रविष्ट है अर्थात् बड़ा तेजस्वी है। इसलिए सूर्य को भी शिपिविष्ट कहा जाता है। यज्ञ अर्थ में शिपिविष्ट का अर्थ होगा यज्ञ में प्रविष्ट है। अर्थात् जो प्रति-दिन सायं-प्रातः संध्या, अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाला है। पदार्थ अर्थ में शिपिविष्ट का अर्थ होगा जो पदार्थों में प्रविष्ट है अर्थात् जिसके पास सेनाओं के लिए उपयोगी भाँति-भाँति के पदार्थ रहते हैं। पशु अर्थ में शिपिविष्ट का अर्थ होगा जिसके पास अनेक प्रकार के पशु रहते हैं। सेनाओं के लिए घोड़े-गौ आदि अनेक प्रकार के पशु आवश्यक होते ही हैं। सेनापति में ये सारे गुण रहने चाहिए इसी अभिप्राय से रुद्र को शिपिविष्ट कहा गया है।

26. **ऊर्म्याय नादेयाय द्वीप्याय** (16.31)—रुद्र ऊर्म्य, नादेय और द्वीप्य है। ऊर्म्य कहते हैं तरंगों में रहने वाले को। नादेय कहते हैं नदियों में रहने वाले को और द्वीप्य कहते हैं द्वीपों में रहने वाले को। सेनापति को इन नामों से कहने का अभिप्राय यह है कि उसके पास ऐसे साधन रहने चाहिए जिनसे वह अपनी सेना के साथ नदियों में भी रह सके और समुद्रपार करके द्वीपों में भी जा सके। वह समुद्रों की ऊँची-ऊँची लहरों में भी अपनी सेनाओं के साथ रह सके ऐसी विशाल नौकाएँ उसके पास रहनी चाहिए। रुद्र के इन विशेषणों द्वारा जल-सेना की स्पष्ट सूचना दी गई है। जिस राष्ट्र के पास जल-सेना नहीं है उसकी शक्ति अधूरी है।

27. **सोभ्याय** (16.33)—रुद्र सोभ्य है। सोभ का अर्थ उवट और महीधर ने गन्धर्व नगर किया है। गन्धर्व नगर से जिसका सम्बन्ध हो वह सोभ्य कहलायेगा। जिन नगरों की वास्तविक सत्ता नहीं हो पर वे कभी भी दीख जाते हैं उन्हें गन्धर्व नगर कहते हैं। पौराणिक लोग इस नगर-दर्शन को गन्धर्व नाम की देव-जाति विशेष की माया का परिणाम मानते हैं। परन्तु वैज्ञानिक लोग इसकी व्याख्या किरणों के क्षेप और प्रतिक्षेप के आधार पर करते हैं। रुद्र को सोभ्य कहने का तात्पर्य है कि सेनापति के पास ऐसी वैज्ञानिक माया होनी चाहिए जिसके आधार पर वह शत्रु को अस्थान में ही अपनी सेना और उसके डेरे दिखा दे। शत्रु विमूढ़ होकर उधर आक्रमण करने के लिए दौड़ेगा और इधर पीछे से अपनी सेना उस पर धावा बोल देगी।

28. **प्रतिसर्याय** (16.33)—रुद्र प्रतिसर्य है। प्रतिसर का शब्दार्थ होता है मुकाबले में चलना। जो मुकाबले में चले वह प्रतिसर्य कहलायेगा। रुद्र को प्रतिसर्य कहने का भाव यह है कि उसे शत्रु के मुकाबले में जाकर उस पर आक्रमण करना चाहिए।

29. **मेघ्याय विद्युत्याय** (16.38)—रुद्र मेघ्य और विद्युत्य है। उसका मेघों और विद्युत् से सम्बन्ध है। सेनापति क्योंकि अपने पर्जन्यास्त्र आदि से मेघ और बिजलियाँ उत्पन्न कर सकता है इसलिए वह इन नामों से कहा गया है।

30. **वर्ष्याय अवर्ष्याय** (16.38)—रुद्र वर्ष्य और अवर्ष्य है। वह वर्षा में रह सकने के कारण वर्ष्य और वर्षा के अभाव में रह सकने के कारण अवर्ष्य है। रुद्र को इन नामों से कहने का भाव यह है कि सेनापति के पास ऐसे प्रवन्ध होने चाहिए जिससे वह वर्षाओं में भी युद्ध कर सके और जहाँ वर्षा नहीं होती उन मरुस्थलों में भी युद्ध कर सके।

31. **वात्याय** (16.39)—रुद्र वात्य है। अपने वायव्यास्कों से आँधियाँ उत्पन्न कर सकने के कारण वह वात्य है।

32. **पार्याय अवार्याय** (16.42)—रुद्र पार्य और अवार्य है। परले पार पहुँचने वाले को पार्य और इस पार रहने वाले को अवार्य कहते हैं। रुद्र को इन दोनों नामों से कहने का तात्पर्य यह है कि सेनापति को इतना फुर्तीला होना चाहिए कि वह युद्ध-क्षेत्र में आवश्यकता पड़ने पर सेनाओं को संभालने के लिए इधर भी दिखाई दे और उधर भी दिखाई दे।

33. **असंख्याता सहस्राणि रुद्राः** (16.54)—रुद्र असंख्य सहस्र हैं। हम देख चुके हैं कि सामान्य सैनिकों को भी रुद्र कहते हैं। इस दृष्टि से रुद्र असंख्य हैं ही। फिर छोटे-वड़े सेनापति के भेद से भी असंख्य रुद्र हो जायेंगे।

34. **दिवं रुद्रा उपश्रिताः** (16.56)—रुद्र द्युलोक में रहते हैं। आकाशीय सेनाओं के सेनापति विमानों में बैठकर आकाश में विचरण करते हैं। इस दृष्टि से वे आकाश में रहने वाले भी होते ही हैं।

35. **पथां पथिरक्षयः** (16.60)—रुद्र मार्गों के मार्गरक्षक हैं। राष्ट्र के जितने भी महत्त्वपूर्ण मार्ग हैं उन सवकी रक्षा के लिए सेनाएँ रखनी आवश्यक होंगी, तभी राष्ट्र शत्रुओं से निष्कण्टक रह सकता है। ये सेनाएँ अपने-अपने सेनापतियों के अधीन रहेंगी। इसलिए सेनापति लोग मार्गरक्षक तो होंगे ही।

36. **आयुर्युधः** (16.60)—रुद्र आयुर्युध है। जो लोग अपनी आयु की, अपने प्राणों की, बाजी लगाकर युद्ध करें उन्हें आयुर्युध कहते हैं। सेनापतियों के इस नाम से यह सूचना दी गई है कि उन्हें किस श्रेणी का लड़ाका होना चाहिए।

37. **ये तीर्थानि प्रचरन्ति** (16.61)—जो रुद्र तीर्थों में फिरते हैं। रुद्र के इस वर्णन का भाव यह है कि तीर्थों की पवित्रता की रक्षा के लिए वहाँ राज्य की ओर से थोड़ी-वहुत सेनाओं का प्रवन्ध रहना चाहिए। इन सेनाओं के साथ इनके सेनापति रहेंगे ही। इसलिए रुद्र तीर्थों का विचरण करने वाले भी होंगे ही।

38. **येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिवतो जनान्** (16.62)—जो रुद्र अन्न खाते हुए और पात्रों में पानी पीते हुए लोगों को वींधते हैं। रुद्रों के इस वर्णन का भाव यह है कि सेनापतियों को चाहिए कि जब शत्रु लोग निश्चिन्त होकर भोजन करने और पानी पीने में लगे हुए हों तब उन पर आक्रमण कर दें। जब भी शत्रु को असावधान देखा जाये तभी उन पर धावा बोल देना चाहिए।

पाठक देखेंगे कि रुद्राध्याय में रुद्र के ये जो नाम और वर्णन आये हैं इनमें से

अधिकांश रुद्र के महादेव अर्थ में संगत नहीं हो सकते। वहाँ और भी अनेक ऐसे नाम और वर्णन रुद्र के हैं जो महादेव में संगत नहीं हो सकते। यदि कथचित् इन नामों और वर्णनों को महादेव में संगत करने का प्रयत्न भी किया जाये तो फिर वह महादेव पुराणों का महादेव नहीं रहता वह अद्वैतवादियों का ब्रह्म हो जाता है और फिर इस प्रकार के अर्थ में न कोई चमकार ही रहता है और न ही उसमें कोई मनुष्यों के व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा और अभिप्राय ही निकलता है। रुद्र का अर्थ सेनापति करने पर अध्यायों के सारे वर्णन उसमें वड़े सुन्दर संगत हो जाते हैं और उनसे राजनीति की वड़ी उत्कृष्ट शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं।

मन्त्र-अनुक्रम

वेदों की फुलवारी के जागरूक बाग़वान और कुशल मालाकार **वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति** पिछले साठ वर्षों से बराबर वेदों का अनुशीलन, पर्यालोचन और रहस्यान्वेषण कर रहे हैं। एक अधिकारी अध्येता और प्रवक्ता के रूप में वेद के निगूढ़ रहस्यों और तत्त्वों का पाण्डित्यपूर्ण और गवेषणात्मक विवेचन जिस प्रकार उन्होंने किया है उसकी विद्वद् समाज ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय के वेद महाविद्यालय में तीन दशाब्दी तक वैदिक साहित्य के प्रधान उपाध्याय रहने के पहले आप वर्षों तक लाहौर के दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य रहे। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य और कालान्तर में उसके कुलपति पद पर कार्य-व्यस्त रहते हुए भी आपने वैदिक साहित्य के अनुशीलन में कोई ढील नहीं की। आचार्य जी के अन्य ग्रन्थों में 'वेद का राष्ट्रीय गीत', 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल', 'वरुण की नौका', और 'मेरा धर्म' को वैदिक साहित्य में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य जी की मूर्धन्य कृति है जिसमें उन्होंने वेद के आधार पर प्राचीन आचार्यों की भाँति एक सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है।

पूरा सेट (तीन भाग)

240·00

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु.

वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है, न्याय-व्यवस्था का संचालन कर सकता है और सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है।